गीता-प्रवचन

विनोबा



अनुवादक
हरिभाऊ उपाध्याय



१९५५
सस्ता साहित्य-प्रकाशन

प्रकाशक
मार्तण्ड उपाध्याय
मंत्री, सस्ता साहित्य मंडल
नई दिल्ली

नवां संस्करण : अक्तूबर १९५५

कुल छपी प्रतियां १,७१,०००

मूल्य
एक रुपया

मुद्रक
नेशनल प्रिंटिंग वर्क्स
दिल्ली

प्रकाशकीय

पहला संस्करण

गीता-प्रवचन विनोबाजीके गीता-संबंधी प्रवचनोंका संग्रह है। आजसे पंद्रह साल पहले, सन् १९३२ में धूलिया (खानदेश) जेलमें उन्होंने गीताके प्रत्येक अध्यायपर एक-एक प्रवचन दिया था। महाराष्ट्र के प्रसिद्ध देशभक्त व लेखक साने गुरुजीने उन्हें उसी समय लिपिबद्ध कर लिया था। ये प्रवचन मूल मराठीमें किये गए थे और प्रकाशित होने पर बहुत ही लोकप्रिय हुए। मराठी साहित्यमें आज गीतापर यह अनूठी पुस्तक मानी जाती है। मौलिकता, सुबोधता और सरसता इसके प्रधान गुण हैं। विनोबाका व्यक्तित्व ज्ञान, तप और कर्माचरणका त्रिवेणी-संगम है। इसमें जो डुबकी लगायंगे, वे अवश्य कृतकृत्य होंगे।

यह अनुवाद मूल मराठीकी स्वयं विनोबाजी द्वारा संशोधित प्रतिसे किया गया है।

१९४७

नवां संस्करण

'गीता-प्रवचन' की अबतक कुल १,४६,००० प्रतियां खप चुकी हैं। यह नवां संस्करण २५,००० प्रतियों का निकाला गया है। हर्ष की बात है कि विनोबाजी की यात्राके प्रवाहके साथ इस ग्रंथका प्रसार भी गंगाके विस्तारके सदृश व्यापक होता जा रहा है।

अक्तूबर, १९५५

प्रस्तावना

मेरे गीता-प्रवचनोंका हिंदी-अनुवाद हिंदी बोलनेवालों के लिए प्रकाशित हो रहा है, इससे मुझे खुशी होती है। ये प्रवचन कार्य-कर्त्ताओंके सामने दिये गए हैं और इनमें आम जनताके उपयोगकी दृष्टि रही है।

इनमें तात्त्विक विचारोंका आधार छोड़े बगैर, लेकिन किसी वादमें न पड़ते हुए, रोजके कामोंकी बातोंका ही जिक्र किया गया है।

यहां श्लोकोंके अक्षरार्थकी चिंता नहीं, एक-एक अध्यायके सारका चिंतन है। शास्त्र-दृष्टि कायम रखते हुए भी शास्त्रीय परिभाषाका उपयोग कम-से-कम किया है। मुझे विश्वास है कि हमारे गांववाले मजदूर भाई-बहन भी इसमें अपना श्रम-परिहार पायंगे।

मेरे जीवनमें गीताने जो स्थान पाया है, उसका मैं शब्दोंसे वर्णन नहीं कर सकता हूं। गीताका मुझपर अनंत उपकार है। रोज मैं उसका आधार लेता हूं और रोज मुझे उससे मदद मिलती है। उसका भावार्थ, जैसा मैं समझा हूं, इन प्रवचनोंमें समझानेकी कोशिश की है। मैं तो चाहता हूं कि यह अनुवाद हरेक घरमें, जहां हिंदी बोली जाती है, पहुंचे और घर-घर में इसका श्रवण, मनन और पठन हो।

परंधाम, पवनार
१०-४-४७

विनोबा

गीता-प्रवचन

सकल जनोपयोगी परमार्थका सुलभ विवेचन

'गीता-प्रवचन' में सकल-जनोपयोगी परमार्थका सुलभ विवेचन है। 'स्थितप्रज्ञ-दर्शन'[1] उसके और आगेका ग्रंथ है, जिसमें वही विषय एक विशिष्ट भूमिकापरसे कहा गया है। 'गीताईकोष'[1]—गीताई[1] का सूक्ष्म अध्ययन करनेवालोंके लिए है। तीनोंमें मिलकर गीताके बारेमें मुझे जो कहना है, वह संक्षेपमें सांगोपांग कहा है। पुस्तकें लिख तो रखी हैं। ऐसी अपेक्षा है कि पारमार्थिक जिज्ञासुओंके काम आवेंगी, और किसी-किसीको उनसे ऐसा लाभ पहुंचा भी है, परंतु मुख्य उपयोग तो खुद मेरे लिए ही है। संसारका नाटक मैं देख रहा हूं। एक स्थानपर बैठकर भी देखा, अब यात्रा करके भी देख रहा हूं। असंख्य जन-समूह और उनके नेता, दोनों एक ही प्रवाहमें खिंचते जा रहे हैं, यह देखकर ईश्वरकी लीलाका ही चिंतन करें, दूसरा कुछ चिंतन न करें, ऐसा लगता है।

यह तो सहज प्रवाहमें लिख गया। 'गीता-प्रवचन' को सारा पढ़कर पचाना चाहिए। उसकी शैली लौकिक है, शास्त्रीय नहीं। उसमें पुनरुक्ति भी है। गायक अवांतर चरणको गाकर फिर अपना प्रिय पालुपद दोहराता रहता है, ऐसा उसमें किया गया है। मेरी तो कल्पनामें भी नहीं आया था कि यह कभी छपेगा। साने गुरुजी-जैसा सहृदय और 'लाँगहैंड' से ही 'शार्टहैंड' लिख सकनेवाला लेखक यदि न मिला होता तो जिसने कहा और जिन्होंने सुना, उन्हींमें इसकी परिसमाप्ति हो गई होती, और मेरे लिए उतना भी काफी था। जमनालालजीको इन प्रवचनोंसे लाभ मिला। मैं समझता हूं, यह मेरी अपेक्षासे अधिक काम हो गया। मेरी अपेक्षा तो सिर्फ इतनी ही थी कि मुझे लाभ मिले। अपनी भावनाको दृढ़ करनेके लिए जप-भावनासे मैं बोलता जाता था। उसमेंसे इतना भारी फल निकल आया है। ईश्वरकी इच्छा थी, ऐसा ही कहना चाहिए।

हैदराबाद १६–३–१९५१ —विनोबाके एक पत्रसे

१ विनोबाकृत ग्रंथ

विषय-क्रम

गी ता - प्र व च न

पहला अध्याय

(१)

प्रिय भाइयो,

आजसे मैं श्रीमद्भगवद्गीता के विषयमें कहनेवाला हूं। गीताका व मेरा संबंध तर्कसे परे है। मेरा शरीर मांके दूधपर जितना पला है उससे कहीं अधिक मेरा हृदय व बुद्धि, दोनों गीताके दूधसे पोषित हुए हैं। जहां हार्दिक संबंध होता है,वहां तर्ककी गुंजाइश नहीं रहती। तर्कको काटकर श्रद्धा व प्रयोग, इन दो पंखोंसे ही मैं गीता-गगनमें यथाशक्ति उड़ान मारता रहता हूं। मैं प्रायः गीताके ही वातावरणमें रहता हूं। गीता यानी मेरा प्राण-तत्त्व। जब मैं गीताके संबंधमें किसीसे बात करता हूं तब गीता-सागरपर तैरता हूं और जब अकेला रहता हूं तब उस अमृत-सागरमें गहरी डुबकी लगाकर बैठ जाता हूं। इस गीता-माताका चरित्र मैं हर रविवारको आपको सुनाऊं, यह तय हुआ है।

गीताकी योजना महाभारतमें की गई है। गीता महाभारतके मध्य-भागमें, एक ऊंचे दीपककी तरह स्थित है, जिसका प्रकाश सारे महाभारतपर पड़ रहा है। एक ओर छः पर्व और दूसरी ओर बारह पर्व, इनके मध्यभागमें, उसी तरह एक ओर सात अक्षौहिणी सेना व दूसरी ओर ग्यारह अक्षौहिणी, इनके भी मध्य-भागमें गीताका उपदेश दिया जा रहा है।

महाभारत व रामायण हमारे राष्ट्रीय ग्रंथ हैं। उनमें वर्णित व्यक्ति हमारे जीवनमें एक-रूप हो गये हैं। राम, सीता, धर्म, द्रौपदी भीष्म, हनुमान इत्यादि रामायण-महाभारतके चरित्रोंसे सारा भारतीय जीवन आज हजारों वर्षोंसे अभिमंत्रित-सा हुआ है। संसारके इतर महा-काव्योंके पात्र इस तरह लोक-जीवनमें घुले-मिले नहीं दिखाई देते। इस

दृष्टिसे महाभारत व रामायण निःसंदेह अद्‌भुत ग्रंथ हैं। रामायण यदि एक मधुर नीति-काव्य है तो महाभारत एक व्यापक समाज-शास्त्र है। व्यासदेवने एक लाख संहिता लिखकर असंख्य चित्रों,चरित्रों व चारित्र्यों-का यथावत् चित्रण बड़ी कुशलतासे किया है। बिलकुल निर्दोष तो सिवा एक परमेश्वरके कोई नहीं है; लेकिन उसी तरह केवल दोषमय भी इस संसार में कोई नहीं है, यह बात महाभारत बहुत स्पष्टतासे बता रहा है। इसमें जहां भीष्म-युधिष्ठिर—जैसोंके दोष दिखाये हैं तो दूसरी ओर कर्ण-दुर्योधनादिके गुणोंपर भी प्रकाश डाला गया है। महाभारत बताता है कि मानव-जीवन सफेद व काले तंतुओंका एक पट है। अलिप्त रहकर भगवान् व्यास जगत्‌के—विराट् संसारके—छाया-प्रकाशमय चित्र दिखलाते हैं। व्यासदेवके इस अत्यंत अलिप्त व उदात्त ग्रथन-कौशलके कारण महाभारत ग्रंथ मानो एक सोनेकी बड़ी भारी खान बन गया है। उसका शोधन करके भरपूर सोना लूट लिया जायं।

व्यासदेवने इतना बड़ा महाभारत लिखा, परंतु उन्हें खुद अपना कुछ कहना था या नहीं ? अपना कोई खास संदेशा किसी जगह उन्होंने दिया है ? किस स्थानपर व्यासदेवकी समाधि लगी है ? स्थान-स्थानपर तत्त्वज्ञान व उपदेशोंके जंगल-के-जंगल महाभारत में आये हैं, परंतु इस सारे तत्त्वज्ञानका, उपदेशका और समूचे ग्रंथका सारभूत रहस्य भी उन्होंने कहीं लिखा है ? हां, लिखा है, समग्र महाभारतका नवनीत व्यासजीने भगवद्‌गीतामें निकालकर रख दिया है। गीता व्यासदेवकी प्रधान सिखावन व उनके मननका सार-संचय है। इसीके आधारपर 'व्यास, मैं मुनियोंमें हूं' यह विभूति अर्थपूर्ण साबित होनेवाली है। गीताको प्राचीन कालसे उपनिषद्‌की पदवी मिली हुई है। गीता उपनिष-दोंका भी उपनिषद् है; क्योंकि समस्त उपनिषदोंको दुहकर यह गीतारूपी दूध भगवान्‌ने अर्जुनके निमित्तसे संसारको दिया है। जीवनके विकासके लिए आवश्यक प्रायः प्रत्येक विचार गीतामें आ गया है। इसीलिए अनुभवी पुरुषोंने यथार्थ ही कहा है कि गीता धर्मज्ञानका एक कोष है। गीता हिंदू-धर्मका, एक छोटा ही, परंतु मुख्य ग्रंथ है।

यह तो सभी जानते हैं कि गीता श्रीकृष्णने कही है। इस महान् सिखावनको सुननेवाला भक्त अर्जुन इस सिखावनसे इतना समरस हो

गया कि उसे भी 'कृष्ण' संज्ञा मिल गई। भगवान् और भक्तका यह हृद्गत प्रकट करते हुए व्यासदेव इतने एकरस हो गए कि लोग उन्हें भी 'कृष्ण' नामसे जानने लगे। कहनेवाला कृष्ण, सुननेवाला कृष्ण, रचनेवाला कृष्ण—इस तरह इन तीनोंमें मानो अद्वैत उत्पन्न हो गया, मानो तीनोंकी समाधि लग गई। गीताके अभ्यासकको ऐसी ही एकाग्रता चाहिए।

(२)

कुछ लोगोंका खयाल है कि गीताका आरंभ दूसरे अध्याय से समझना चाहिए। दूसरे अध्यायके ग्यारहवें श्लोकसे प्रत्यक्ष उपदेशकी शुरुआत होती है तो वहींसे आरभ क्यों न समझा जाय? एकने तो मुझे कहा—"भगवान्ने अक्षरों में अकारको ईश्वरीय विभूति बताया है। इधर 'अशोच्यानन्वशोचस्त्वम्' के आरंभमें अनायास अ-कार आ गया है। अतः वहींसे आरंभ मान लेना चाहिए।" इस दलीलको हम छोड़ दें तो भी यहांसे आरंभ मानना अनेक दृष्टियोंसे उचित ही है। फिर भी उसके पहलेके प्रास्ताविक भागका महत्त्व तो है ही। अर्जुन किस भूमिकापर स्थित है, किस बातका प्रतिपादन करनेके लिए गीताकी प्रवृत्ति हुई है, यह इस प्रास्ताविक कथा-भागके बिना अच्छी तरह समझमें न आता।

कुछ लोग कहते हैं कि अर्जुनका क्लैब्य दूर करके उसे युद्धमें प्रवृत्त करनेके लिए गीता कही गई है। उनके मतमें गीता केवल कर्मयोग ही नहीं बताती, बल्कि युद्ध-योगका भी प्रतिपादन करती है। पर जरा विचार करनेपर इस कथनकी भूल हमें दीख जायगी। अठारह अक्षौहिणी सेना लड़नेके लिए तैयार थी। तो क्या हम यह कहेंगे कि सारी गीता सुनाकर भगवान्ने अर्जुनको उस सेनाके लायक बनाया? घबड़ाया तो अर्जुन था, न कि वह सेना। तो क्या सेनाकी योग्यता अर्जुनसे अधिक थी? यह बात तो कल्पनामें भी नहीं आ सकती। अर्जुन, जो लड़ाईसे परावृत्त हो रहा था, सो भयके कारण नहीं। सैकड़ों लड़ाइयोंमें अपना जौहर दिखानेवाला वह महावीर था। उत्तर-गो-ग्रहणके समय उसने अकेले ही भीष्म, द्रोण व कर्णके दांत खट्टे कर दिये थे। सदा विजयी

व सब नरोंमें एक ही सच्चा नर है, ऐसी उसकी ख्याति थी। वीर-वृत्ति उसके रोम-रोमसे टपकी पड़ती थी। अर्जुनको छेड़नेके लिए, उत्तेजित करनेके लिए क्लैब्यका आरोप तो कृष्णने भी करके देख लिया, परंतु उनका वह तीर बेकार गया व फिर उन्हें दूसरे ही मुद्दोंको लेकर ज्ञान-विज्ञान-संबंधी व्याख्यान देने पड़े। तब यह निश्चित है कि महज क्लैब्य-निरसन-जैसा सरल तात्पर्य गीताका नहीं है।

दूसरे कुछ लोग कहते हैं कि अर्जुनकी अहिंसा-वृत्तिको दूर करके उसे युद्ध-प्रवृत्त करनेके लिए गीता कही गई है। मेरी दृष्टिसे यह भी कथन ठीक नहीं है। इसकी छानबीन करनेके लिए पहले हमें अर्जुन की भूमिका देखनी चाहिए। इसके लिए पहले अध्याय और दूसरे अध्यायमें जा पहुंचनेवाली उसकी खाड़ीसे हमें बहुत सहायता मिलेगी।

अर्जुन, जो समर-भूमिमें खड़ा हुआ, सो कृत-निश्चय होकर व कर्त्तव्य-भावसे। क्षात्रवृत्ति उसके स्वभावमें थी। युद्धको टालनेका भरसक प्रयत्न किया जा चुका था, फिर भी वह टल नहीं पाया था। कम-से-कम मांगका प्रस्ताव और श्रीकृष्ण जैसोंकी मध्यस्थता, दोनों बेकार जा चुके थे। ऐसी स्थितिमें अनेक देशोंके राजाओंको एकत्र करके और श्रीकृष्णसे अपना सारथ्य स्वीकृत कराके वह रणांगण में खड़ा है और वीरोचित उत्साहसे श्रीकृष्णसे कहता है—"दोनों सेनाओंके बीचमें मेरा रथ खड़ा कीजिए, जिससे मैं एक बार उन लोगों के चेहरे तो देख लूं, जो मुझसे लड़नेके लिए तैयार होकर आये हैं।" कृष्णने ऐसा ही किया। अर्जुन चारों ओर एक निगाह डालता है तो उसे क्या दिखाई देता है? दोनों ओर अपने ही नाते-रिश्तेदारों, सगे-संबंधियोंका जबरदस्त जमघट। वह देखता है कि—दादा, बाप, लड़के, पोते, आप्त-स्वजन-संबंधियोंकी चार पीढ़ियां मरने-मारनेके अंतिम निश्चयसे वहां एकत्र हुई हैं। यह बात नहीं कि इससे पहले उसे इन बातोंका अंदाज न हुआ हो। परतु प्रत्यक्ष दर्शनका कुछ जुदा ही प्रभाव मनपर पड़ता है। उस सारे स्वजन-समूह को देखकर उसके हृदयमें एक उथल-पुथल मचती है। वह खिन्न हो जाता है। आजतक उसने अनेक युद्धोंमें असंख्य वीरोंका संहार किया था। उस समय वह खिन्न नहीं हुआ था,

उसका गांडीव हाथसे छूट नहीं पड़ा था, शरीरमें कंप नहीं होने लगा था, उसकी आंखें भीनी नहीं हो गई थीं। तो फिर इसी समय ऐसा क्यों हुआ ? क्या अशोककी तरह उसके मनमें अहिंसा-वृत्ति उदय हो गई थी ? नहीं, यह तो केवल स्वजनासक्ति थी। इस समय भी यदि गुरु, बंधु और आप्त सामने न होते तो उसने शत्रुओंके मुंड गेंदकी तरह उड़ा दिये होते। परंतु इस आसक्ति-जनित मोहने उसकी कर्त्तव्य-निष्ठाको ग्रस लिया और तब उसे तत्त्वज्ञान याद हो आया। कर्त्तव्यनिष्ठ मनुष्यके मोहग्रस्त होनेपर भी नग्न—खुल्लमखुल्ला—कर्त्तव्यच्युति उसे सहन नहीं होती। वह कोई सद्विचार उसे पहनाता है। यही हाल अर्जुन का हुआ। अब वह झूठमूठ प्रतिपादन करने लगा कि युद्ध ही वास्तवमें एक पाप है। युद्धसे कुलक्षय होगा, धर्मका लोप होगा, स्वैराचार मचेगा, व्यभिचार-वाद फैलेगा, अकाल आ पड़ेगा, समाजपर तरह-तरहके संकट आवेंगे—आदि अनेक दलीलें देकर वह कृष्णको ही समझाने लगा।

यहां मुझे एक न्यायाधीशका किस्सा याद आता है। एक न्यायाधीश था। उसने सैकड़ों अपराधियोंको फांसीकी सजा दी थी। परंतु एक दिन खुद उसीका लड़का खूनके जुर्म में उसके सामने पेश किया गया। उसपर खूनका इल्जाम साबित हुआ व खुद अपने ही लड़केको फांसी की सजा देनेकी नौबत उसपर आ गई। पर तब वह हिचकने लगा। वह बुद्धिवाद बघारने लगा—"फांसीकी सजा बड़ी अमानुष है। ऐसी सजा देना मनुष्यको शोभा नहीं देता। इससे अपराधीके सुधरनेकी आशा नष्ट हो जाती है। खून करनेवालेने भावनाके आवेशमें, जोश व उत्तेजनामें, खून कर डाला। परंतु उसकी आंखोंपरसे खून का जनून उतर जानेपर उस व्यक्तिको संजीदगीके साथ फांसीके तख्तपर चढ़ाकर मार डालना समाजकी मनुष्यताके लिए बड़ी लज्जाकी बात है, बड़ा कलंक है", आदि दलीलें वह देने लगा। यदि अपना लड़का सामने न आया होता तो न्यायाधीश साहब बेखटके जिंदगीभर फांसीकी सजा देते रहते। किंतु न्यायाधीश अपने लड़केके ममत्वके कारण ऐसी बातें करने लगे। वह आवाज आंतरिक नहीं थी। वह आसक्ति-जनित थी। 'यह मेरा लड़का है' इस ममत्वमेंसे वह वाङ्मय निकला था।

अर्जुनकी गति भी इस न्यायाधीशकी तरह हुई। उसने जो दलील दी थीं, वे गलत नहीं थीं। पिछल महायुद्धमें सारे संसारने ठीक इन्हीं परिणामोंको प्रत्यक्ष देखा है। परंतु सोचनेकी बात यह है कि वह अर्जुनका तत्त्व-ज्ञान (दर्शन) नहीं, किंतु कोरा प्रज्ञावाद था। कृष्ण इसे जानते थे। इसलिए उन्होंने उनपर जरा भी ध्यान न देकर सीधा उसके मोह-नाशका उपाय शुरू किया। अर्जुन यदि सचमुच अहिंसावादी हो गया होता तो उसे किसीने कितना ही अवांतर ज्ञान-विज्ञान बताया होता, तो भी असली बातका जवाब मिले बिना उसका समाधान न हुआ होता। परंतु सारी गीतामें इस मुद्देका कहीं भी जवाब नहीं दिया गया, फिर भी अर्जुन का समाधान हुआ है। इस सबका भावार्थ यही है कि अर्जुनकी अहिंसा-वृत्ति नहीं थी, वह युद्ध-प्रवृत्त ही था। युद्ध उसकी दृष्टिसे उसका स्वभाव-प्राप्त और अपरिहार्य रूपसे निश्चित कर्त्तव्य था। उसे वह मोहवश होकर टालना चाहता था और गीताका मुख्यतः इस मोहपर ही गदा-प्रहार है।

(३)

अर्जुन अहिंसाकी तो क्या संन्यासकी भी भाषा बोलने लगा था। वह कहता है—इस रक्त-लांछित क्षात्र-धर्मसे संन्यास ही अच्छा है। परतु क्या अर्जुनका वह स्वधर्म था? उसकी वह वृत्ति थी क्या? अर्जुन संन्यासीका वेश तो बड़े मजेमें धारण कर सकता था, पर वैसी वृत्ति कैसे बना सकता था? संन्यासके नामपर यदि वह जंगलमें जा रहा होता तो वहां हिरन मारना शुरू कर देता। अतः भगवान्‌ने साफ ही कहा—"अर्जुन, जो तुम यह कह रहे हो कि मैं लड़ूंगा नहीं, सो तुम्हारा भ्रम है। आजतक जो तुम्हारा स्वभाव बना हुआ है वह तुम्हें लड़ाये बिना कभी नहीं माननेका।"

अर्जुनको स्वधर्म विगुण मालूम होने लगा। परतु स्वधर्म कितना ही विगुण हो तो भी उसीमें रहकर मनुष्यको अपना विकास कर लेना चाहिए; क्योंकि उसीमें रहनेसे विकास हो सकता है। इसमें अभिमानका कोई प्रश्न नहीं है। यह तो विकासका सूत्र है। स्वधर्म ऐसी वस्तु नहीं है कि जिसे बड़ा समझकर ग्रहण करें व छोटा समझकर छोड़ दें। वस्तुतः वह न बड़ा होता है, न छोटा। वह हमारे बित्ते

भरका होता है। 'श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः' इस गीता-वचनमें धर्म शब्दका अर्थ हिंदू-धर्म, इस्लाम, ईसाई-धर्म आदि जैसा नहीं है। प्रत्येक व्यक्ति का अपना भिन्न-भिन्न धर्म है। मेरे सामने यहां जो दो सौ व्यक्ति मौजूद हैं, उनके दो सौ धर्म हैं। मेरा धर्म भी जो दस वर्ष पहले था वह आज नहीं है। आजका दस वर्ष बाद नहीं रहनेका। चिंतन और अनुभवसे जैसे-जैसे वृत्तियां बदलती जाती हैं, वैसे-वैसे पहलेका धर्म छूटता जाता है व नवीन धर्म प्राप्त होता जाता है। हठ पकड़कर कुछ भी नहीं करना है।

दूसरेका धर्म भले ही श्रेष्ठ मालूम हो, उसे ग्रहण करनेमें मेरा कल्याण नहीं है। सूर्यका प्रकाश मुझे प्रिय है। उस प्रकाशसे मैं बढ़ता रहता हूं। सूर्य मुझे वंदनीय भी है। परंतु इसलिए यदि मैं पृथ्वीपर रहना छोड़कर उसके पास जाना चाहूंगा तो जलकर खाक हो जाऊंगा। इसके विपरीत भले ही पृथ्वीपर रहना विगुण हो, सूर्यके सामने पृथ्वी बिल्कुल तुच्छ हो, वह स्वयं प्रकाशी न हो, तो भी जबतक सूर्यके तेजको सहन करनेका सामर्थ्य मुझमें न आ जायगा तबतक सूर्य से दूर पृथ्वीपर रहकर ही मुझे अपना विकास कर लेना होगा। मछलियोंको यदि कोई कहे कि 'पानीसे दूध कीमती है, तुम दूधमें रहने चलो', तो क्या मछलियां उसे मंजूर करेंगी? मछलियां तो पानीमें ही जी सकती हैं, दूधमें मर जायंगी।

दूसरेका धर्म सरल मालूम हो तो भी उसे ग्रहण नहीं करना है। बहुत बार सरलता आभासमात्र ही होती है। घर-गृहस्थीमें बाल-बच्चोंकी ठीक संभाल नहीं की जाती, इसलिए ऊबकर यदि कोई गृहस्थ संन्यास ले ले तो वह ढोंग होगा व भारी भी पड़ेगा। मौका पाते ही उसकी वासनाएं जोर पकड़ेंगी। संसारका बोझ उठाया नहीं जाता, इसलिए जंगलमें जानेवाला पहले वहां छोटी-सी कुटिया बनावेगा। फिर उसकी रक्षाके लिए बाड़ लगावेगा। ऐसा करते-करते वहांभी उसपर सवाया संसार खड़ा करने की नौबत आ जायगी। यदि सचमुच मनमें वैराग्यवृत्ति हो तो फिर संन्यास भी कौन कठिन बात है? संन्यासको आसान बनानेवाला स्मृति-वचन तो है ही। परंतु खास बात वृत्तिकी है। जिसकी जो वास्तविक वृत्ति होगी,

उसीके अनुसार उसका धर्म होगा। श्रेष्ठ-कनिष्ठ, सरल-कठिन यह प्रश्न नहीं है। विकास सच्चा होना चाहिए। परिणति वास्तविक होनी चाहिए।

परंतु बाज भावुक व्यक्ति पूछते हैं—"यदि युद्ध-धर्मसे संन्यास सचमुच ही सदा श्रेष्ठ है तो फिर भगवान्ने अर्जुनको सच्चा संन्यासी ही क्यों न बनाया? उनके लिए क्या यह असंभव था?" उन्हें असंभव तो कुछ भी नहीं था। परंतु उसमें अर्जुनका फिर पुरुषार्थ क्या रह जाता? परमेश्वरने स्वतंत्रता दे रखी है। अतः हर आदमी अपने लिए प्रयत्न करता रहे इसीमें मजा है। छोटे बच्चे खुद तस्वीरें निकालनेमें आनंद मानते हैं। उन्हें यह पसंद नहीं आता कि कोई उनसे हाथ पकड़कर तस्वीर खिचाये। शिक्षक यदि बच्चोंके सवाल हल कर दिया करें तो फिर बच्चोंकी बुद्धि बढ़ेगी कैसे? अतः मां-बाप व गुरुका काम सिर्फ सुझाव करना है। परमेश्वर अंदरसे हमें सुझाता रहता है। इससे अधिक वह कुछ नहीं करता। कुम्हार की तरह भगवान् ठोंक-पीटकर अथवा थपथपाकर हरेकका मटका तैयार करे तो उसमें सार ही क्या? हम मिट्टी की हंडिया तो है नहीं, हम तो चिन्मय हैं।

इस सारे विवेचनसे एक बात आपकी समझमें आ गई होगी कि गीताका जन्म, स्वधर्ममें बाधक जो मोह है, उसके निवारणार्थ हुआ है। अर्जुन धर्म-संमूढ़ हो गया था। स्वधर्मके विषयमें उसके मनमें मोह पैदा हो गया था। श्रीकृष्णके पहले उलहनेके बाद यह बात अर्जुन खुद ही स्वीकार करता है। वह मोह, वह ममत्व, वह आसक्ति दूर करना गीताका मुख्य काम है। इसीलिए सारी गीता सुना चुकनेके बाद भगवानने पूछा है—"अर्जुन, तुम्हारा मोह चला गया न?" और अर्जुन जवाब देता है—"हां, भगवान्, मोह नष्ट हो गया, मुझे स्वधर्मका बोध हो गया।" इस तरह यदि गीताके उपक्रम और उपसंहारको मिलाकर देखें तो मोह-निरसन ही उसका फलित निकलता है। गीता ही नहीं, सारे महाभारतका यही उद्देश्य है। व्यासजी-ने महाभारतके प्रारंभमें ही कहा है कि लोकहृदयके मोहावरणको दूर करनेके लिए मैं यह इतिहास-प्रदीप जला रहा हूं।

(४)

आगेकी सारी गीता समझनेके लिए अर्जुनकी यह भूमिका हमारे बहुत काम आई है; इसलिए तो हम इसका आभार मानेंगे ही, परन्तु इससे और भी एक उपकार है। अर्जुनकी इस भूमिकामें उसके मनकी अत्यंत ऋजुताका पता चलता है। खुद 'अर्जुन' शब्दका अर्थ ही 'ऋजु' अथवा 'सरल स्वभाववाला' है। उसके मनमें जो कुछ भी विकार या विचार आये, वे सब उसने दिल खोलकर भगवान्के सामने रख दिये। मनमें कुछ भी छिपा नहीं रखा और वह अंतको श्रीकृष्णकी शरण गया। सच पूछिये तो वह पहले से ही कृष्णकी शरण था। कृष्णको सारथी बनाकर जबसे उसने अपने घोड़ोंकी लगाम उनके हाथोंमें पकड़ाई, तभीसे उसन अपनी मनोवृत्तियोंकी लगाम भी उनके हाथोंमें सौंप देनकी तैयारी कर ली थी। आइए, हम भी ऐसा ही करें। 'अजुनके पास तो कृष्ण थे। हमें कृष्ण कहां मिलेंगे' ऐसा हम न कहें। 'कृष्ण' नामक कोई व्यक्ति है, ऐसी ऐतिहासिक उर्फ भ्रामक समझकी उलझनमें हम न पड़ें। अंतर्यामीके रूपमें कृष्ण हम प्रत्येकके हृदयम विराजमान है। हमारे सबसे अधिक निकट वही है। तो हम अपने हृदयके सब छल-मल उसके सामने रख दें और उससे कहें—"भगवन्, म तेरी शरण हूं, तू मेरा अनन्य गुरु है। मुझे उचित मार्ग दिखा। जो मार्ग तू बतायेगा, मैं उसीपर चलूंगा।" यदि हम ऐसा करेंगे तो वह पार्थ-सारथी हमारा भी सारथ्य करेगा, अपने श्रीमुखसे वह हमें गीता सुनावेगा और हमें विजय-लाभ करा देगा।

रविवार, २१-२-३२

दूसरा अध्याय

(५)

भाइयो, पिछले अध्यायमें हमने अर्जुनके विषाद-योगको देखा। जब अर्जुनके-जैसी ऋजुता (सरल भाव) और हरिशरणता होती है, तो फिर विषादका भी योग बन जाता है। इसीको हृदय-मंथन कहते हैं। गीताकी इस भूमिकाको मैंने उसके संकल्पकारके अनुसार अर्जुन-विषाद योग-जैसा विशिष्ट नाम न देते हुए विषाद-योग जैसा सर्वसाधारण नाम दिया है; क्योंकि गीताके लिए अर्जुन एक निमित्तमात्र है। यह न समझना चाहिए कि पंढरपुर (महाराष्ट्र) के पांडुरंगका अवतार सिर्फ पुंडलीकके ही लिए हुआ; क्योंकि हम देखते हैं कि पुंडलीकका निमित्त लेकर वह हम जड़ जीवोंके उद्धारके लिए आज हजारों वर्षोंसे खड़ा है। इसी प्रकार गीताकी दया अर्जुनके निमित्तसे क्यों न हो, हम सबके लिए हुई है। अतः गीताके पहले अध्यायके लिए विषाद-योग-जैसा साधारण नाम ही अच्छा मालूम होता है। यह गीतारूपी वृक्ष यहांसे बढ़ते-बढ़ते अंतके अध्यायमें प्रसादयोगरूपी फलको प्राप्त होनेवाला है। ईश्वरकी इच्छा होगी तो हम भी अपनी इस कारावासकी मुद्दतमें वहांतक पहुंच जायंगे।

दूसरे अध्यायसे गीताकी शिक्षाका आरंभ होता है और शुरूम ही भगवान् जीवनके महासिद्धांत बता रहे हैं। इसमें उनका आशय यह है कि यदि शुरूमें ही जीवनके वे मुख्य तत्त्व पट जायं कि जिनके आधार-पर जीवनकी इमारत खड़ी करनी है, तो आगेका मार्ग सरल हो जायगा। दूसरे अध्यायमें आनेवाले 'सांख्य-बुद्धि' शब्दका अर्थ मैं करता हूं—जीवनके मूलभूत सिद्धांत। इन मूल सिद्धांतोंको अब हमें देख जाना है। परंतु इसके पहले यदि हम इस 'सांख्य' शब्दके प्रसंगसे गीताके पारिभाषिक शब्दोंके अर्थका थोड़ा स्पष्टीकरण कर लें तो अच्छा होगा।

गीता पुराने शास्त्रीय शब्दोंको नये अर्थोंमें लिखनेकी आदी है। पुराने शब्दोंपर नये अर्थकी कलम लगाना विचार-क्रांतिकी अहिंसक प्रक्रिया है। व्यासदेव इस प्रक्रियामें सिद्धहस्त हैं। इससे गीताके शब्दोंको व्यापक अर्थ प्राप्त हुआ और वह तरोताजा बनी रही एवं अनेक विचारक अपनी-अपनी आवश्यकता और अनुभवके अनुसार अनेक अर्थ ले सके। अपनी-अपनी भूमिकापरसे ये सब अर्थ सही हो सकते हैं, और मैं समझता हूं कि उनके विरोधकी आवश्यकता न पड़ने देकर हम स्वतंत्र अर्थ भी कर सकते हैं।

इस सिलसिलेमें उपनिषद्में एक सुंदर कथा आती है। एक बार देव, दानव और मानव, तीनों प्रजापतिके पास उपदेशके लिए पहुंचे। प्रजापतिने सबको एक ही अक्षर बताया 'द'। देवोंने कहा—"हम देवता लोग कामी हैं, हमें विषयभोगोंका चस्का लग गया है। अतः हमें ब्रह्माने 'द' अक्षरके द्वारा 'दमन' करनेकी सीख दी है।" दानवोंने कहा—"हम दानव बड़े क्रोधी और दयाहीन हो गए हैं। हमें 'द' अक्षरके द्वारा प्रजापतिने यह शिक्षा दी है कि 'दया' करो।" मानवोंने कहा—"हम मानव बड़े लोभी और धन-संचयके पीछे पागल हो गए हैं, हमें 'द' के द्वारा 'दान' करनेका उपदेश प्रजापतिने दिया है।" प्रजापतिने सभीके अर्थोंको ठीक माना, क्योंकि सबने उनको अपने अनुभवोंसे प्राप्त किया था। गीताकी परिभाषाका अर्थ करते समय उपनिषद्की यह कथा हमें ध्यानमें रखनी चाहिए।

(६)

दूसरे अध्यायमें जीवनके तीन महासिद्धांत पेश किये गए हैं—(१) आत्माकी अमरता और अखंडता, (२) देहकी क्षुद्रता, और (३) स्वधर्मकी अबाध्यता। इनमें स्वधर्मका सिद्धांत कर्त्तव्य-रूप है और शेष दो ज्ञातव्य हैं। पिछले अध्यायमें मैंने स्वधर्मके संबंधमें कुछ बताया है। यह स्वधर्म हमें निसर्गतः ही प्राप्त होता है। स्वधर्मको कहीं खोजने नहीं जाना पड़ता। ऐसी बात नहीं है कि हम आकाशसे गिरे और धरतीपर चलने लगे। हमारा जन्म होनेसे पहले यह समाज था, हमारे मां-बाप थे, अड़ोसी-पड़ोसी थे। ऐसे इस प्रवाहमें हमारा जन्म होता है। अतः जिन मां-बापकी कोखसे मैं जन्मा हूं, उनकी सेवा करनेका

धर्म मुझे जन्मतः ही प्राप्त हो गया है, और जिस समाज में मैंने जन्म लिया, उसकी सेवा करनेका धर्म भी मुझे इस क्रमसे अपने आप ही प्राप्त हो गया है। सच तो यह है कि हमारे जन्मके साथ ही हमारा स्वधर्म भी जन्मता है, बल्कि यह भी कह सकते हैं कि वह तो हमारे जन्मके पहलेसे ही हमारे लिए तैयार रहता है; क्योंकि वह हमारे जन्मका हेतु है। हमारा जन्म उसकी पूर्तिके लिए होता है। कोई-कोई स्वधर्मको पत्नीकी उपमा देते हैं और कहते हैं कि जैसे पत्नीका संबंध अविच्छेद्य माना गया है, वैसे ही यह स्वधर्म-संबंध भी अविच्छेद्य है। लेकिन मुझे यह उपमा भी गौण—दूसरे दर्जेकी—मालूम होती है। मैं स्वधर्मके लिए माताकी उपमा देता हूं। मुझे अपनी माताका चुनाव इस जन्ममें करना बाकी नहीं रहा। वह पहले ही निश्चित हो चुकी है। वह कैसी ही क्यों न हो, अब टाली नहीं जा सकती। ऐसी ही स्थिति स्वधर्मकी है। इस जगत्में हमारे लिए स्वधर्मके अतिरिक्त दूसरा कोई आश्रय नहीं है। स्वधर्मको टालते जाना मानों 'स्व' को ही टालने जैसी आत्मघातकता है। स्वधर्मके सहारे ही हम आगे बढ़ सकते हैं। अतः यह स्वधर्मका आश्रय कभी किसीको नहीं छोड़ना चाहिए—यह जीवनका एक मूलभूत सिद्धांत स्थिर होता है।

स्वधर्म हमें इतना सहज प्राप्त है कि हमसे अपने-आप उसीका पालन होना चाहिए। परंतु अनेक प्रकारके मोहोंके कारण ऐसा नहीं होता, अथवा बड़ी कठिनाईसे होता है और हुआ भी तो उसमें विष—अनेक प्रकारके दोष—मिल जाते हैं। स्वधर्मके मार्गमें कांटे बखेरनेवाले इन मोहोंके बाहरी रूपोंकी तो कोई गिनती ही नहीं है। फिर भी, जब हम उनकी छानबीन करते हैं, तो उन सबकी तहमें एक ही बात दिखाई देती है—संकुचित और छिछली देह-बुद्धि। मैं और मेरे शरीरसे ताल्लुक रखनेवाले लोग-बाग, बस इतनी ही मेरी व्याप्ति—फैलावकी सीमा है। इस दायरेके बाहर जो हैं, वे सब मेरे लिए गैर अथवा दुश्मन हैं। भेदकी ऐसी दीवार यह देह-बुद्धि खड़ी कर देती है और तारीफ यह कि जिन्हें मैंने 'मैं' अथवा 'मेरे' मान लिया, उनके भी केवल शरीर ही वह देखती है। देहबुद्धिके इस दुहरे पेचमें पड़कर हम तरह-तरहके छोटे बाड़े बनाने लगते हैं। प्रायः सब लोग इसी कार्यक्रममें लगे रहते

हैं। इनमें किसीका बाड़ा बड़ा तो किसीका छोटा; परंतु है आखिर वह बाड़ा ही। इस शरीरक चमड़ेके जितनी ही उसकी गहराई। कोई कुटुंबाभिमानका बाड़ा बनाकर रहता है तो कोई देशाभिमानका। ब्राह्मण-ब्राह्मणेतर नामका एक बाड़ा, हिंदू-मुसलमान नामका दूसरा, ऐसे एक-दो नहीं, अनेक बाड़े बने हुए हैं। जिधर देखिए उधर ये बाड़े-ही-बाड़े। हमारे इस जेलमें भी तो राजनैतिक कैदी और दूसरे कैदी, इस तरहके बाड़े बने हुए हैं, मानो इसके बिना हम जी ही नहीं सकते। परंतु इसका नतीजा क्या होता है? नतीजा एक ही। हीन-विकारोंके जंतुओंकी बाढ़ और स्वधर्मरूपी आरोग्यका नाश।

(७)

ऐसी दशामें स्वधर्मनिष्ठा अकेली पर्याप्त नहीं होती। उसके लिए दूसरे दो और सिद्धांत जाग्रत रखने पड़ते हैं। एक तो यह कि मैं यह मरणशील देह नहीं हूं, देह तो केवल ऊपरकी क्षुद्र पपड़ी है, और दूसरा यह कि मैं कभी न मरनेवाला अखंड और व्यापक आत्मा हूं। इन दोनोंको मिलाकर एक पूर्ण तत्त्व-ज्ञान प्राप्त होता है।

यह तत्त्वज्ञान गीताको इतना आवश्यक जान पड़ता है कि गीता उसीका पहले आवाहन करती है और स्वधर्मका अवतार बाद को। कुछ लोग पूछते हैं कि तत्त्वज्ञानसंबंधी य श्लोक आरंभ में ही क्यों? परंतु मुझे लगता है कि गीतामें यदि कोई श्लोक ऐसे हैं जिनकी जगह बिलकुल नहीं बदली जा सकती तो वे यही श्लोक हैं।

इतना तत्त्वज्ञान यदि मनमें अंकित हो जाय तो फिर स्वधर्म बिलकुल भारी नहीं पड़ेगा। यही बात नहीं, किंतु स्वधर्मके अतिरिक्त और कुछ करना भारी मालूम पड़ेगा। आत्मतत्त्वकी अखंडता और देहकी क्षुद्रता, इन बातोंको समझ लेना कोई कठिन नहीं है, क्योंकि ये दोनों सत्य वस्तुएं हैं। परंतु हमें उनका विचार करना होगा। बार-बार मनमें उनका मंथन करना होगा। इस चामके महत्त्वको घटाकर हमें आत्माको महत्त्व देना सीखना होगा।

देखिए, यह देह तो पल-पलमें बदलता रहता है। बचपन, जवानी और बुढ़ापा—इस चक्रका अनुभव किसे नहीं है? आधुनिक शास्त्रज्ञों-का तो कहना है कि सात साल में शरीर बिलकुल बदल जाता है और

खूनकी पुरानी एक बूंद भी शेष नहीं रहती। हमारे पूर्वज मानते थे कि बारह वर्षमें पुराना शरीर मर जाता है और इसलिए प्रायश्चित्त, तपश्चर्या, अध्ययन आदिकी भी मियाद बारह-बारह वर्षकी रखते थे। बहुत वर्षकी जुदाईके बाद जब कोई बेटा अपनी मांसे मिला तो मां उसे पहचान न सकी, ऐसे किस्से हम सुनते हैं। तो क्या यही प्रतिक्षण बदलनेवाला, प्रतिक्षण मर रहा देह ही तेरा रूप है ? रात-दिन जहां मल-मूत्रकी नालियां बहती हैं और तेरे-जैसा जबर्दस्त धोनेवाला मिल जानेपर भी जिसका अस्वच्छताका व्रत छूटता ही नहीं है, क्या वही तू है ? वह अस्वच्छ, तू उसे साफ करनेवाला; वह रोगी, तू उसे दवापानी देनेवाला; वह साढ़े तीन हाथकी जगह घेरे हुए, तू त्रिभुवन-विहारी; वह नित्य परिवर्तनशील, तू उसके परिवर्तन देखनेवाला; वह मरने-वाला और तू उसके मरणका व्यवस्थापक। तेरा और उसका भेद इतना स्पष्ट होते हुए भी तू इतना संकुचित क्योंकर बनता है ? यह क्या कहता है कि इस देहसे जितने संबंध रखते हैं वही मेरे हैं। और इस देहकी मृत्युके लिए इतना शोक भी क्या करता है ? भगवान् पूछते हैं कि "अरे, देहका नाश क्या शोक करने-जैसी बात है ?"

देह तो कपड़ेकी तरह ह । पुराने फट जाते हैं, इसीसे तो नये धारण किये जा सकते हैं। यदि कोई एक शरीर आत्मासे सदाके लिए चिपका रहता तो आत्माकी बुरी गत होती। सारा विकास रुक जाता, आनंद हवा हो जाता और ज्ञान-प्रभा मंद हो जाती। अतः देहका नाश शोचनीय नहीं हो सकता। हां, यदि आत्माका नाश हो सकता होता तो अलबत्ता वह एक शोचनीय बात होती। पर वह तो अविनाशी है, वह मानो एक अखंड बहता हुआ झरना है। उसपर अनेक कलेवर आते और जाते हैं। इसलिए देहके नाते-रिश्तोंके चक्करमें पड़कर शोक करना और ये मेरे तथा ये पराये हैं, ऐसे भेद या टुकड़े करना बिलकुल अनुचित है। देखो, यह सारा ब्रह्मांड मानो एक सुंदर बनी हुई चादर है । कोई छोटा बच्चा जैसे हाथमें कैंची लेकर चादरके टुकड़े काट देता है, वैसे ही इस देहके बराबर कैंची लेकर उस विश्वात्माके टुकड़े करना कितना लड़कपन और कितना हिंसा है !

सचमुच यह बड़े दुःखकी बात है कि जिस भारत-भूमिमें ब्रह्मविद्याने जन्म पाया, उसीमें इन छोटे-बड़े दलों, फिरकों और जातियोंकी चारों ओर भरमार दिखाई देती है। और मरनेका तो इतना डर हमारे मनमें घुस बैठा है कि वैसा शायद ही कहीं दूसरी जगह हो। इसमें कोई शक नहीं कि दीर्घकालीन परतंत्रताका ही यह परिणाम है, परंतु यह बात भूल जानेसे भी काम नहीं चलेगा कि वह इस परतंत्रताका एक कारण भी है।

मरणका तो शब्द भी हमें नहीं सुहाता। मरणका नाम ही हमें अमंगल मालूम होता है। ज्ञानदेवको बड़े दुःखके साथ लिखना पड़ा है—

"मर शब्द नहीं हैं सहते मर जाते हैं तो रोते।"

फिर जब कोई मर जाता है तो कितना रोना-चिल्लाना मचाते हैं? मानो वह हमारा एक कर्त्तव्य ही हो! यहांतक कि किरायेसे रोनेवाले बुलानेतक बात जा पहुंची है। मृत्यु निकट आ जानेपर भी रोगीको नहीं कहेंगे। यदि डाक्टरने कह दिया है कि यह नहीं बचेगा, तो भी रोगीको अंधकारमें रखेंगे। खुद डाक्टर भी साफ-साफ नहीं कहेगा, आखिर दमतक पेटमें दवाकी शीशियां उंडेलता रहेगा। इसके बजाय यदि सत्य बात बताकर, धीरज-दिलासा देकर उसे ईश्वर-स्मरणकी ओर लगाया जाय, तो कितना उपकार हो! किंतु उन्हें डर यह लगता है कि कहीं इस धक्केसे यह भांडा पहले ही न फूट जाय। परंतु भला, क्या निश्चित समयसे पहले यह भांडा फूटनेवाला था? और फिर जो भांडा दो घंटे बाद फूटनेवाला है, वह थोड़ा पहले फूट गया तो उससे बिगड़ा क्या? इसके मानी यह नहीं कि हम कठोर-हृदय और प्रेमविहीन हो जायं। किन्तु देहासक्ति प्रेम नहीं है। उलटे देहासक्तिको दूर किये बिना सच्चे प्रेमका उदय ही नहीं होता।

जब देहासक्ति चली जायगी, तब यह मालूम हो जायगा कि देह तो सेवाका एक साधन है और तब देहको उसके योग्य प्रतिष्ठा भी प्राप्त होगी। परंतु आज तो हम देहकी पूजाको ही अपना साध्य मान बैठे हैं। हम यह बात भी भूल गये हैं कि साध्य तो स्वधर्माचरण है। देहको सम्भालनेकी एवं उसे खिलाने-पिलानेकी आवश्यकता यदि है तो वह स्वधर्माचरणके लिए। केवल जीभके चोचले पूरा करनेके लिए उसकी जरूरत नहीं। चम्मचसे चाहे हलवा परोसो चाहे दाल-भात,

उसे उसका कोई सुख-दु:ख नहीं। ऐसी ही स्थिति जीभकी होनी चाहिए— उसे रस-ज्ञान तो होना चाहिए, पर सुख-दु:ख नहीं। शरीरका भाड़ा शरीरको चुका दिया, बस खतम। चर्खेसे सूत कात लेना है, इसलिए उसे तेल देनेकी आवश्यकता है। इसी तरह शरीरसे काम लेना है, इसलिए उसमें कोयला डालना जरूरी है। इस प्रकार यदि हम देहका उपयोग करें तो मूलतः क्षुद्र होनेपर भी उसका मूल्य बढ़ सकता है और उसे प्रतिष्ठा प्राप्त हो सकती है।

लेकिन हम देहको साधन-रूपसे काममें न लाकर उसीमें डूब जाते हैं और आत्मसंकोच कर लेते हैं। इससे यह देह, जो पहलेसे ही न कुछ है, और भी अधिक क्षुद्र बन जाती है। इसलिए संतजन दृढ़तापूर्वक कहते हैं कि 'देह और देह-संबंध निंद्य हैं, श्वान, सूकर आदि वन्द्य हैं।' अरे, तू इस देहकी, और देहसे जिनका संबंध हुआ है, उन्हींकी दिन-रात पूजा मत कर। दूसरोंको भी पहचानना सीख। संत इस प्रकार हमें व्यापक होनेकी सीख देते हैं। हम अपने आप्त-इष्ट-मित्रके अतिरिक्त दूसरोंके पास अपनी आत्मा कुछ भी ले जाते हैं क्या? 'जीवमें जीव समाये। आत्मामें आत्मा मिलाये'—ऐसा हम करते हैं क्या? अपने आत्म-हंसको इस पींजरेके बाहरकी हवा खिलाते हैं क्या?—क्या कभी तेरे मनमें ऐसा आता है कि अपने माने हुए दायरे को छेदकर कल मैंने नये दस दोस्त बनाये। आज पंद्रह हुए। कल पचास होंगे। और ऐसा करते-करते एक दिन सारा विश्व ही मेरा और मैं विश्वका, इस प्रकार अनुभव करने लगूंगा? हम जेलसे अपने नाते-रिश्तेदारोंको पत्र लिखते हैं, इसमें क्या विशेषता है? किंतु जेलसे छूटे हुए किसी नये मित्र—राजनैतिक कैदी नहीं, चोर कैदी—को पत्र लिखेंगे क्या?

हमारा आत्मा व्यापक होनेके लिए छटपटाता रहता है। वह चाहता है कि सारे जगत् को गले लगा लें। परंतु हम उसे कोठरीमें बंद कर देते हैं। आत्माको हमने कैदी बना डाला है। उसकी यादतक हमें नहीं होती। सबेरेसे लेकर शामतक हम देहकी ही सेवामें लगे रहते हैं। दिन-रात यही विचार कि मेरा यह शरीर कितना मोटा-ताजा हुआ या कितना दुबला हो गया, मानो संसारमें कोई दूसरा आनंद ही नहीं। भोग और स्वादका आनंद तो पशु भी लेते हैं। अब त्याग और स्वाद-

भंगका आनंद भी देखेगा या नहीं ? स्वयं भूखसे पीड़ित होते हुए भी भरी थाली दूसरे भूखे मनुष्य को देनेमें क्या आनंद है—इसका अनुभव कर। इसके स्वादको चख। मां जब बच्चेके लिए कष्ट उठाती है तब उसे इस स्वादका थोड़ासा मजा मिलता है। मनुष्य 'अपना' कहकर जो संकुचित दायरा बनाता रहता है उसमें भी उसका उद्देश्य अनजाने यह रहता है कि वह आत्मविकासका स्वाद चखे; क्योंकि उससे देहबद्ध आत्मा थोड़ा, और कुछ देरके लिए उससे बाहर निकलता है। परंतु यह बाहर आना किस प्रकारका है ? जिस प्रकार कि जेलकी कोठरीके कैदीका जेलके अहातेमें आना हो। परंतु आत्माका काम इतनेसे नहीं चलता। आत्माको तो मुक्तानंद चाहिए।

सारांश, (१) साधकको चाहिए कि वह अधर्म और परधर्मके टेढ़े रास्तेको छोड़कर स्वधर्मका सहज और सरल मार्ग पकड़े। स्वधर्मका पल्ला वह कभी न छोड़े। (२) देह क्षणभंगुर है, यह समझकर उसका उपयोग स्वधर्मके लिए ही करे। जब आवश्यकता हो तो उसे स्वधर्मके लिए ही खतम भी कर दे। (३) आत्माकी अखंडता और व्यापकताका भान सतत जाग्रत रखे और चित्तसे 'स्व'-'पर' के भेदको निकाल डाले। जीवनके ये मुख्य सिद्धांत भगवान् बताते हैं। जो मनुष्य इनके अनुसार आचरण करेगा, वह निस्संदेह एक दिन 'नरदेहके ही द्वारा सच्चिदानंद पद धारा' इस अनुभवको प्राप्त करेगा।

(८)

भगवान्ने जीवनके सिद्धांत बताये तो, किंतु केवल सिद्धांत बता देनेसे काम पूरा नहीं हो सकता। गीतामें वर्णित ये सिद्धांत तो उपनिषदों और स्मृतियोंमें पहलेसे ही मौजूद हैं। गीताने उन्हींको फिरसे उपस्थित किया तो इसमें गीताकी अपूर्वता नहीं है। उसकी अपूर्वता तो यह बतलानेमें है कि इन सिद्धांतोंको आचरणमें कैसे लावें ? इस महाप्रश्नको हल करनेमें ही गीताकी कुशलता है।

जीवनके सिद्धांतोंको व्यवहार में लानेकी जो कला या युक्ति है उसीको योग कहते हैं। सांख्यका अर्थ है—सिद्धांत अथवा शास्त्र', और योगका अर्थ है कला। ज्ञानदेव साक्षी देते हैं—"योगियोंको सधी जीवनकला।" गीता सांख्य और योग—शास्त्र और कला—दोनोंसे

परिपूर्ण है। शास्त्र और कला, दोनोंके योगसे जीवन-सौंदर्य खिलता है। कोरा शास्त्र हवाई महल है। संगीत-शास्त्रको समझ तो लिया, किंतु यदि कंठसे संगीत प्रकट करनेकी कला न सधी तो नाद-ब्रह्मकी सजावट नहीं होगी। यही कारण है कि भगवान्ने सिद्धांतके साथ-ही-साथ उनके विनियोग जाननेकी कला भी बताई है। तो वह भला कौन-सी कला है? देहको तुच्छ मानकर आत्माकी अमरता और अखंडतापर दृष्टि रखकर स्वधर्मका आचरण करनेकी वह कला कौन-सी है?

जो कर्म करते हैं उनकी दोहरी भावना होती है। एक तो यह कि अपने कर्मका फल हम अवश्य चखेंगे। यह हमारा अधिकार है। और इसके विपरीत दूसरी यह कि यदि हमें फल चखने को नहीं मिलता हो तो हम कर्म ही नहीं करेंगे। गीता इन दोके अतिरिक्त एक तीसरी ही भावना या वृत्ति बताती है। वह कहती है—"कर्म तो अवश्य करो, पर फलमें अपना अधिकार मत मानो।" जो कर्म करता है उसे फलका अधिकार अवश्य है। परंतु तुम उस अधिकारको स्वयं ही छोड़ दो। रजोगुण कहता है—"लूंगा तो फलके सहित ही।" और तमोगुण कहता है, "छोड़ूंगा तो कर्म-समेत ही।" ये दोनों एक-दूसरेके भाई ही हैं। अतः तुम इन दोनोंसे आगे बढ़कर शुद्ध सत्त्वगुणी बनो—अर्थात् कर्म तो करो, पर फलको छोड़ दो और फलको छोड़कर कर्म करो। पहले और पीछे, कहीं भी फलाशा मत रखो।

गीता जब यह कहती है कि फलाशा मत रखो तो साथ ही वह यह जताकर कहती है कि कर्मको उत्तमता और दक्षतासे करना चाहिए। सकाम पुरुषके कर्मकी अपेक्षा निष्काम पुरुषका कर्म अधिक अच्छा होना चाहिए। यह अपेक्षा उचित ही है; क्योंकि सकाम पुरुष तो फलासक्त है, इसलिए फल-संबंधी स्वप्न-चिंतनमें उसका थोड़ा-बहुत समय और शक्ति अवश्य लगेंगे। परंतु फलेच्छा-रहित पुरुषका तो प्रत्येक क्षण और सारी शक्ति कर्ममें ही लगी रहेगी। नदीको छुट्टी नहीं, हवाको विश्राम नहीं, सूर्य सदैव जलता ही रहना जानता है। इसी प्रकार निष्काम-कर्त्ता एक सतत सेवा-कर्मको ही जानता है। अब यदि ऐसे निरंतर कर्मरत पुरुषका कर्म उत्कृष्ट न होगा, तो किसका होगा? फिर चित्त-की समता एक बड़ा ही कुशल गुण है। और वह तो निष्काम पुरुषकी

बपौती ही है। किसी एक बिलकुल बाहरी कारीगरके काम को देखो तो उसमें भी हस्तकौशलके साथ ही यदि चित्तके समत्वका सहयोग हो जाता है, तो यह प्रकट है कि वह काम और भी अधिक सुंदर बन जायगा। इसके अतिरिक्त सकाम और निष्काम पुरुषकी कर्म-दृष्टिमें जो अंतर है, वह भी निष्काम पुरुषके कर्मके अधिक अनुकूल है। सकाम पुरुष कर्मकी ओर स्वार्थ-दृष्टिसे देखता है। 'मेरा ही कर्म और मुझे ही फल', इस दृष्टिके कारण यदि कर्मकी ओरसे उसका थोड़ा भी ध्यान हट गया तो उसमें उसे नैतिक दोष नहीं मालूम होता। अधिक हुआ तो व्यावहारिक दोष जान पड़ता है। परंतु निष्काम पुरुषकी तो अपने कर्मके विषयमें नैतिक कर्त्तव्य-बुद्धि रहती है। अतः वह तत्परतासे इस बातकी सावधानी रखता है कि अपने काममें थोड़ी-सी भी कमी न रह जाय। इसलिए भी उसका कर्म अधिक निर्दोष होगा। किसी भी तरह देखिए, फल-त्याग अत्यंत कुशल एवं यशस्वी तत्त्व सिद्ध होता है। अतः फल त्यागको योग अथवा जीवनकी कला कहना चाहिए।

यदि निष्काम कर्मकी बात छोड़ दें तो भी खुद कर्ममें जो आनंद है, वह उसके फलमें नहीं है। अपना कर्म करते हुए जो एक प्रकारकी तन्मयता होती है वह आनंदका एक स्रोत ही है। चित्रकारसे कहिए—"चित्र मत बनाओ, इसके लिए तुम जितने चाहो पैसे ले लो", तो वह नहीं मानेगा। किसानसे कहिए—"खेतपर मत जाओ, गायें मत चराओ, मोट मत चलाओ, तुम जितना कहोगे, उतना अनाज तुम्हें दे देंगे।" यदि वह सच्चा किसान होगा तो वह यह सौदा पसंद न करेगा। किसान प्रातःकाल खेतपर जाता है। सूर्यनारायण उसका स्वागत करते हैं। पक्षी उसके लिए गाना गाते हैं। गाय-बैल उसके आस-पास घिरे रहते हैं। वह प्रेमसे उन्हें सहलाता है। जो झाड़-पेड़ लगाये हैं, उनको भर नजर देखता है। इन सब कामोंमें एक सात्त्विक आनंद है। यह आनंद ही उस कर्मका मुख्य और सच्चा फल है। इसकी तुलनामें उसका बाह्य फल बिलकुल ही गौण है।

गीता जब मनुष्यकी दृष्टि कर्म-फलसे हटा लेती है तो वह इस तरकीबसे कर्ममें उसकी तन्मयता सौ गुना बढ़ा देती है। फल-निरपेक्ष पुरुषकी कर्म-विषयक तन्मयता समाधिके दर्जेकी होती है। इसलिए

उसका आनंद औरोंसे सौ-गुना अधिक होता है। इस तरह देखें तो यह बात तुरंत समझ में आ जाती है कि निष्काम कर्म स्वतः ही एक महान् फल है। ज्ञानदेव ने यह ठीक ही पूछा है—"वृक्षमें फल लगते हैं, पर फलमें अब और क्या फल लगेंगे?" इस देहरूपी वृक्ष में निष्काम स्वधर्माचरण-जैसा सुंदर फल लग चुकने पर अब और किसी फलकी ओर क्यों अपेक्षा रखें? किसान खेत में गेहूं बोये और गेहूं बेचकर ज्वार की रोटी खाये? सुस्वादु केले लगाये और उन्हें बेचकर मिर्च क्यों खाये? अरे भाई, केले ही खाओ न? पर लोकमतको यह स्वीकार नहीं। केले खानेका भाग्य लेकर भी लोग मिर्चपर ही टूटते हैं। गीता कहती है—"तुम ऐसा मत करो, कर्मको ही खाओ, कर्मको ही पियो और कर्मको ही पचाओ।" बस, कर्म करनेमें ही सबकुछ आ जाता है। बच्चा खेलनेके आनन्दके लिए खेलता है। इससे उसे व्यायामका फल अपने आप ही मिल जाता है। परन्तु उस फलकी ओर उसका ध्यान नहीं रहता उसका सारा आनंद उस खेलमें ही रहता है।

(९)

संतजनोंने अपने जीवनके द्वारा यह बात सिद्ध कर दी ह्। तुकारामके भक्ति-भावको देखकर शिवाजी महाराजके मनमें उनके प्रति बहुत आदर हो जाता था। एक बार उन्होंने तुकारामके घर पालकी भेजकर उनके स्वागतका आयोजन किया। परंतु तुकारामको अपने स्वागतकी यह तैयारी देखकर भारी दुःख हुआ। उन्होंने अपने मनमें कहा—"मेरी भक्तिका क्या यह फल? क्या इसीके लिए मैं भक्ति करता हूं?" उनको ऐसा प्रतीत हुआ मानो भगवान् मान-सम्मानका यह फल उनके हाथमें रखकर उन्हें अपने से दूर हटा रहा है। उन्होंने कहा—

"जानते हुए अंतर, टालोगे मेरी झंझट?
यह ऐब तेरी है, पांडुरंग बहुत खोटी।"

"भगवन्, तुम्हारी यह आदत अच्छी नहीं। तुम मुझे यह घुंघचीके दाने देकर टरकाना चाहते हो। मनमें सोचते होगे कि इस आफतको निकाल ही दूं न? परंतु मैं भी कच्चे गुरुका चेला नहीं हूं। मैं तुम्हारे पांव जोरसे पकड़कर बैठ जाऊंगा। भक्ति ही भक्त का स्वधर्म है और भक्तिमें फलोंके अवांतर कांटे न फूटने देना ही उसकी जीवन-कला है।"

पुण्डलीकका चरित्र फल-त्यागका इससे भी गहरा आदर्श सामने रखता है। पुण्डलीक अपने मां-बापकी सेवा कर रहा था। उसकी सेवासे प्रसन्न होकर पांडुरंग उसकी भेंटके लिए भागे आये। परंतु पुण्डलीक ने पांडुरंगके चक्करमें पड़कर अपने उस सेवा-कार्य को छोड़नेसे इन्कार कर दिया। अपने मां-बापकी यह सेवा उसके लिए हार्दिक ईश्वर-भक्ति थी। कोई लड़का यदि दूसरोंको लूट-खसोटकर अपने मां-बापको सुख पहुंचाता हो, अथवा कोई देश-सेवक दूसरे देशका द्रोह करके अपने देशका उत्कर्ष चाहता हो, तो दोनोंकी यह वस्तु भक्ति नहीं कहलायगी। वह तो आसक्ति हुई। पुण्डलीक ऐसी आसक्तिमें फंसा नहीं। उसने कहा कि परमात्मा जिस रूपको धारण कर मेरे सामने खड़ा हुआ है, क्या वह इतना ही है? उसका यह रूप दिखाई देने से पहले सृष्टि क्या प्रेतवत् थी? वह भगवान् से बोला—

"भगवन्, आप स्वयं मुझे दर्शन देनेके लिए आये हैं, पर मैं 'भी-सिद्धान्त' को माननेवाला हूं। आप ही अकेले भगवान् हैं, ऐसा मैं नहीं मानता। मेरे लिए तो आप भी भगवान् हैं और ये माता-पिता भी। इनकी सेवामें लगे रहनेके कारण मैं आपकी ओर ध्यान नहीं दे सकता, इसके लिए क्षमा कीजिए।" इतना कहकर उसने भगवान्के खड़े रहनेके लिए एक ईंट सरका दी और स्वयं उसी सेवा-कार्यमें निमग्न हो रहा। तुकाराम इस प्रसंगको लेकर बड़े कुतूहल और विनोदपूर्वक कहते हैं—

"कैसा तू रे पागल प्रेमी, खड़ा रखा जो विट्ठलको।
ऐसा कैसा ढीठ साहसी, ईंट बिछाई विट्ठल को ?"

पुण्डलीकने जो यह 'भी-सिद्धान्त' का उपयोग किया, वह फल-त्यागकी युक्तिका एक अंग है। फल-त्यागी पुरुषकी कर्म-समाधि जैसी गंभीर होती है, वैसी ही उसकी वृत्ति व्यापक, उदार और सम रहती है। इस कारण वह विविध तत्त्व-ज्ञानके जंजालमें नहीं पड़ता और न अपना सिद्धान्त छोड़ता है। 'नान्यदस्तीति वादिनः'—'यही है, दूसरा बिलकुल नहीं,' ऐसा विवाद वह उत्पन्न नहीं करता। 'यह भी सही है और वह भी सही है; परंतु मेरे लिए तो यही सही है,' ऐसी उनकी नम्र और निश्चयी वृत्ति रहती है। एक बार एक गृहस्थ एक साधु के पास गया और उससे पूछा—"मोक्ष-प्राप्तिके लिए क्या घर-

बार छोड़ना आवश्यक है?" साधुने कहा—"नहीं तो, देखो, जनक-जैसोंने जब राजमहलमें रहकर मोक्ष प्राप्त कर लिया तो फिर तुमको घर छोड़नेकी क्या आवश्यकता है ?" फिर दूसरा मनुष्य आया और साधुसे बोला—"स्वामीजी, घर-बार छोड़े विना क्या मोक्ष मिल सकता है ?" साधु ने कहा—"कौन कहता है ? क्यों, घरमें रहकर संत-मेंतमें ही मोक्ष मिलता होता, तो शुक-जैसोंने जो घर-बार छोड़ा तो क्या वे मूर्ख थे ?" बादको उन दोनों मनुष्योंकी जब एक-दूसरे से मुलाकात हुई तो दोनों में बड़ा झगड़ा मचा। एक कहने लगा, "साधुने घर-बार छोड़ने के लिए कहा है।" दूसरे ने कहा—"नहीं, उन्होंने कहा है कि घर-बार छोड़ने की आवश्यकता नहीं है।" तब दोनों साधुके पास आये। साधुने कहा—"दोनों का कहना ठीक है। जैसी जिसकी भावना, वैसा ही उसका मार्ग। और जिसका जैसा प्रश्न, वैसा ही उसका उत्तर। घर छोड़ने की जरूरत है, यह भी सत्य है और घर छोड़ने की जरूरत नहीं है, यह भी सत्य है।" इसीको कहते हैं 'भी-सिद्धान्त'।

पुण्डलीकके उदाहरणसे यह मालूम हो जाता है कि फल-त्याग किस मंजिलतक पहुंचानवाला है। तुकारामको प्रलोभन भगवान् देना चाहते थे, उससे पुण्डलीकवाला लालच बहुत ही मोहक था। परंतु वह उसपर भी मोहित नहीं हुआ। यदि हो जाता तो फंस जाता। अतः एक बार साधनका निश्चय हो जानेपर फिर अंततक उसका आचरण करते रहना चाहिए, फिर बीचमें प्रत्यक्ष भगवान्के दर्शन-जैसी बाधा खड़ी हो जाय तो भी उसके लिए साधन छोड़नेकी आवश्यकता न होनी चाहिए। देह बची है तो वह साधनके लिए ही है। भगवान्का दर्शन तो हाथमें ही है, वह जाता कहां है ?

"सर्वात्म-भाव मेरा, हां कौन छीन ले अब ;
तेरी ही भक्तिमें मन मेरा रंगा हुआ जब ?"

इसी भक्तिको प्राप्त करनेके लिए हमें यह जन्म मिला है। 'मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि' इस गीता-वचनका अर्थ यहांतक जाता ह कि निष्काम कर्म करते हुए अकर्मकी—अर्थात् अंतिम कर्म-मुक्तिकी, यानी मोक्षकी भी, वासना मत रख। वासनासे छुटकारा ही तो मोक्ष

है। मोक्षको वासनासे क्या लेना-देना ? जब फल-त्याग इस मंजिल-तक पहुंच जाता है तब समझो कि जीवन-कलाकी पूर्णिमा सध गई।

(१०)

शास्त्र बतला दिया, कला भी बतला दी, किंतु इतनेसे सारा चित्र आंखोंके सामने खड़ा नहीं रहता। शास्त्र निर्गुण है, कला सगुण है; परंतु सगुण भी साकार हुए बिना व्यक्त नहीं होता। केवल निर्गुण जैसे हवा में रहता है, उसी तरह निराकार सगुणकी हालत भी हो सकती है। इसका उपाय है, जिस गुणीमें गुण मूर्तिमान हुआ है उसका दर्शन। इसीलिए अर्जुन कहता है—"भगवन्, आपने जीवनके मुख्य सिद्धांत बता दिये, उन सिद्धांतोंको आचरणमें लानेकी कला भी बतला दी, तो भी इसका स्पष्ट चित्र मेरे सामने खड़ा नहीं होता। अतः मुझे अब इसके उदाहरण दीजिए, चरित्र सुनाइए। ऐसे पुरुषोंके लक्षण बताइए जिनकी बुद्धिमें सांख्य-निष्ठा स्थिर हो गई है और फल-त्यागरूपी योग जिनकी रग-रगमें व्याप्त हो गया है। जिन्हें हम स्थितप्रज्ञ कहते हैं, जो फल-त्यागकी पूरी गहराई दिखलाते हैं, कर्म-समाधिमें मग्न हैं, और निश्चयके महा-मेरु हैं, वे बोलते कैसे हैं, बैठते कैसे हैं, चलते कैसे हैं, यह सब मुझसे बताइए। वह मूर्ति कैसी होती है, उसे कैसे पहचानें ? यह सब कहिए, भगवन् !"

इसके लिए भगवान्ने दूसरे अध्यायके अंतिम अठारह श्लोकोंमें स्थितप्रज्ञका गंभीर और उदात्त चरित्र चित्रित किया है। मानो इन अठारह श्लोकोंमें गीताके अठारह अध्यायोंका सार ही एकत्र कर दिया है। स्थितप्रज्ञ गीताकी आदर्श मूर्त्ति है। यह शब्द भी गीताका अपना स्वतंत्र है। आगे पांचवें अध्यायमें जीवन-मुक्तका, बारहवेंमें भक्तका, चौदहवेंमें गुणातीतका और अठारहवेंमें ज्ञान-निष्ठाका ऐसा ही वर्णन आया है, परंतु स्थितप्रज्ञका वर्णन इन सबसे अधिक सविस्तर और खोलकर किया है। उनमें सिद्ध-लक्षणके साथ-साथ साधक-लक्षण भी बताये हैं। हजारों सत्याग्रही स्त्री-पुरुष सायंकालीन प्रार्थनामें इन लक्षणोंका पाठ करते हैं। यदि प्रत्येक गांव व प्रत्येक घरमें वे पहुंचाये जा सकें तो कितना आनन्द हो ! परंतु पहले जब वे हमारे हृदयमें बैठें, तो वे बाहर अपने आप पहुंच जायंगे। नित्य पाठकी चीज यदि यान्त्रिक

हो गई तो फिर वह चित्तमें अंकित होनेकी जगह उलटी मिट जायगी। पर यह दोष नित्य पाठका नहीं, मनन न करनेका है। नित्य पाठके साथ-ही-साथ नित्य मनन और नित्य आत्म-परीक्षण आवश्यक है।

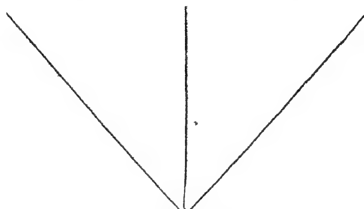
स्थितप्रज्ञ यानी स्थिर बुद्धिवाला मनुष्य। यह तो उसका नाम ही बता रहा है। परंतु संयमके बिना बुद्धि स्थिर होगी कैसे? अतः स्थित-प्रज्ञको संयम-मूर्ति बताया है। बुद्धि तो हो आत्म-निष्ठ और अंतर-बाह्य इन्द्रियां बुद्धिके अधीन हों—यह है संयमका अर्थ। स्थितप्रज्ञ सारी इंद्रियोंको लगाम चढ़ाकर उन्हें कर्मयोगमें जोतता है। इंद्रियरूपी बैलोंसे वह निष्काम स्वधर्माचरणकी खेती भलीभांति करा लेता है। अपना प्रत्येक श्वासोच्छ्वास वह परमार्थमें खर्च करता रहता है।

यह इंद्रिय-संयम आसान नहीं है। इंद्रियोंसे बिलकुल काम ही न लेना एक बार आसान हो सकता है। मौन, निराहार आदि बातें इतनी कठिन नहीं हैं। इससे उलटे, इंद्रियोंको खुला छोड़ देना तो सबके लिए सधा-सधाया ही रहता है। परन्तु जिस प्रकार कछुवा खतरेकी जगह अपने तमाम अवयवोंको भीतर छिपा लेता है और निर्भय स्थानपर उनसे काम लेता है, इसी तरह विषय-भोगोंसे इंद्रियोंको समेट लेना और परमार्थके काममें उनका उचित उपयोग करना, यह संयम कठिन है। इसके लिए महान् प्रयत्नकी जरूरत है। ज्ञान भी चाहिए। परंतु इतना होनेपर भी ऐसा नहीं है कि वह हमेशा अच्छी तरह सध ही जायगा। तब क्या हम निराश हो जायं? नहीं, साधकको कभी निराश न होना चाहिए। वह साधककी अपनी सब युक्तियां काममें लाये और फिर भी कमी रह जाय तो उसमें भक्तिको जोड़ दे। यह बड़ा कीमती सुझाव भगवान्ने स्थितप्रज्ञके लक्षणोंमें दिया है। हां, वह दिया है गिने-गिनाये शब्दोंमें ही। परंतु गाड़ीभर व्याख्यानोंकी अपेक्षा वह अधिक कीमती है; क्योंकि जहां भक्तिकी अचूक आवश्यकता है, वहीं वह उपस्थित की गई है। स्थितप्रज्ञके लक्षणोंका सविस्तर विवरण हमें आज यहां नहीं देना है। परंतु हम अपनी इस सारी साधनामें भक्तिका अपना निश्चित स्थान कहीं भूल न जायं, इसके लिए उसकी ओर ध्यान दिला दिया। पूर्ण स्थितप्रज्ञ इस जगत्में कौन हो गया है, सो तो भगवान् ही जानें, परंतु सेवापरायण स्थितप्रज्ञके उदाहरणके रूपमें पुण्डलीककी

मूर्त्ति सदैव मेरी आंखोंके सामने आती रहती है और वह मैंने आपके सामने रख भी दी है।

अच्छा, अब स्थितप्रज्ञके लक्षण पूरे हुए, दूसरा अध्याय भी समाप्त हुआ।

(निर्गुण) सांख्य-बुद्धि + (सगुण) योग-बुद्धि + (साकार) स्थितप्रज्ञ



मिलाकर

संपूर्ण जीवन-शास्त्र

इनमेंसे ब्रह्म-निर्वाण यानी मोक्षके सिवा दूसरा क्या फलित हो सकता है?

रविवार, २८-२-३२

तीसरा अध्याय

(११)

भाइयो, दूसरे अध्यायमें हमने सारे जीवन-शास्त्रपर निगाह डाली। अब इस तीसरे अध्यायमें इसी जीवन-शास्त्रका स्पष्टीकरण करना है। पहले हमने तत्त्वोंका विचार किया, अब उनकी तफसीलमें जायंगे। पिछले अध्यायमें कर्मयोगसंबंधी विवेचन किया था। कर्मयोगमें महत्त्वकी वस्तु है फल-त्याग। कर्मयोगमें फल-त्याग तो है, परंतु प्रश्न यह उठता है कि फिर फल मिलता भी है या नहीं? अतः तीसरे अध्यायमें कहते हैं कि कर्मफलोंको छोड़नेसे कर्मयोगी उलटा अनंत गुना फल प्राप्त करता है।

यहां मुझे लक्ष्मीकी कथा याद आती है। उसका था स्वयंवर। सारे देव-दानव बड़ी आशा बांधे आये थे। लक्ष्मीने अपना प्रण पहले प्रकट नहीं किया था। सभा-मंडपमें आकर वह बोली—"मैं उसी-के गलेमें वरमाला डालूंगी, जिसे मेरी चाह न होगी।" वे तो सब थे लालची। सो लक्ष्मी निस्पृह वर खोजने लगी। इतने में शेषनागपर शान्त भावसे लेटी हुई भगवान् विष्णुकी मूर्ति उसे दिखाई दी। उसके गलेमें वरमाला डालकर वह आजतक उनके पैर दबाती हुई बैठी है। "जो न चाहे उसकी होती रमा दासी।" यही तो खूबी है।

साधारण मनुष्य अपने फलके आसपास कांटेकी बाड़ लगाता है। पर इससे वह अनन्तरूपसे मिलनेवाला फल गंवा बैठता है। सांसारिक मनुष्य अपार कर्म करके अल्पफल प्राप्त करता है; पर कर्मयोगी थोड़ासा करके भी अनन्तगुना। यह फर्क सिर्फ एक भावनाके कारण होता है। टॉल्स्टायने एक जगह कहा है—"लोग ईसाहमसीहके बलिदानकी बहुत स्तुति करते हैं। परंतु ये संसारी जीव तो रोज न जाने अपना कितना खून सुखाते हैं, दौड़-धूप करते हैं! पूरे दो

गधोंका बोझ अपनी पीठपर लादकर चक्कर काटनेवाले ये संसारी जीव, इन्हें ईसासे कितना गुना ज्यादा कष्ट, कितनी ज्यादा इनकी दुर्गति ! यदि ये इनसे आधे भी कष्ट भगवान्के लिए उठावें तो सचमुच ईसासे भी बढ़ जायंगे।"

संसारी मनुष्यकी तपस्या सचमुच बड़ी होती है, परंतु वह होती है क्षुद्र फलोंके खातिर। जैसी वासना, वैसा ही फल। अपनी चीजकी जो कीमत हम आंकते हैं, उससे ज्यादा कीमत संसारमें नहीं होती। सुदामा चिउड़ा लेकर भगवान्के पास गये। उस मुट्ठीभर चिउड़ेकी कीमत एक धेला भी शायद न हो; परंतु सुदामाको वे अमोल मालूम होते थे; क्योंकि उनमें भक्तिभाव था। वे अभिमंत्रित थे। उनके एक-एक कणमें भावना थी। चीज भले ही क्षुद्र क्यों न हो, मंत्रसे उसका मोल, उसका सामर्थ्य बढ़ जाता है। नोटका वजन भला कितना होगा ? उसे जलावें तो एक बूंद पानी भी शायद ही गरम हो। पर उसपर एक मुहर लगी रहती है। उसीसे उसकी कीमत होती है।

कर्मयोगमें भी यही सारी खूबी है। कर्मको नोट ही समझो। भावनारूपी मुहरकी कीमत है, कर्मरूपी कागजके टुकड़े की नहीं। एक तरहसे यह मैं मूर्ति-पूजाका ही रहस्य बतला रहा हूं। मूर्ति-पूजाकी कल्पनामें बड़ा सौंदर्य है। इस मूर्तिको कौन तोड़-फोड़ सकता है ? यह मूर्ति शुरूआतमें एक टुकड़ा ही तो थी। मैंने इसमें प्राण डाला। अपनी भावना डाली। भला इस भावनाके कोई टुकड़े कर सकता है ? तोड़-फोड़ पत्थरकी हो सकती है, भावना की नहीं। जब मैं अपनी भावना मूर्तिमेंसे निकाल लूंगा, तभी वहां पत्थर बाकी बच रहेगा और तभी उसके टुकड़े हो सकते हैं।

कर्मका अर्थ हुआ पत्थर या कागजका टुकड़ा। मेरी मांने काग-जकी एक चिटपर दो-चार टेढ़ी-मेढ़ी सतरें लिखकर भेज दीं और दूसरे किसी शख्सने पचास पन्नोंमें अंट-संट लेख लिखकर भेजा। अब वजन किसका ज्यादा होगा ? परंतु मांकी उन चार सतरोंमें जो भाव है वह अनमोल है, पवित्र है। उसकी बराबरी वह रद्दी नहीं कर सकती। कर्ममें तरी चाहिए, भावना चाहिए। हम मजदूर

के कामका एक कीमत लगाते हैं और उसे मजूरी दे देते हैं। परंतु दक्षिणाकी बात ऐसी नहीं है। दक्षिणा भिगोकर दी जाती है। दक्षिणाके संबंधमें यह प्रश्न नहीं उठता कि कितनी दी ? बल्कि मार्केकी जो बात देखी जाती है वह यह है कि उसमें तरी है या नहीं ? मनुस्मृति में एक बड़ी मजेदार बात कही है। एक शिष्य बारह साल गुरु-गृहमें रहकर पशुसे मनुष्य हुआ। अब वह गुरु-दक्षिणा क्या दे ? प्राचीन समयमें पहले ही फीस नहीं ले ली जाती थी। बारह साल पढ़ चुकनेके बाद गुरुको जो कुछ देना हो सो दे दिया जाता था। मनु कहते हैं—"चढ़ा दो गुरुजीको एकाध पत्र-पुष्प, दे दो एकाध पंखा या खड़ाऊं, या पानी का कलसा।" इसे आप मजाक मत समझिए क्योंकि जो कुछ देना है, श्रद्धाका चिह्न समझकर देना है। फूलमें भला क्या वजन है ? परंतु उस भक्ति-भावमें ब्रह्मांडके बराबर वजन है।

"रुक्मिणीने एक ही तुलसी-दलसे
तोला प्रभु गिरिधरको।"

सत्यभामाके मनभर गहनोंसे काम नहीं चला। परंतु भाव-भक्तिसे पूर्ण एक तुलसीपत्र जब रुक्मिणी माताने पलड़े में डाल दिया तो सारा काम बन गया। तुलसी-पत्र अभिमंत्रित था। अब वह मामूली नहीं रह गया था। कर्मयोगीके कर्मकी भी यही बात है।

ऐसी कल्पना करो कि दो व्यक्ति गंगा-स्नान करने गये है। उनमेंसे एक कहता है—"लोग गंगा-गंगा जो कहते हैं, सो उसमें है क्या ? दो हिस्से हायड्रोजन, एक हिस्सा ऑक्सीजन, ये दो गैस एकत्र कर दिये, यही गंगा हो गई। इससे अधिक उसमें क्या है ?" दूसरा कहता है—"भगवान् विष्णुके पद-कमलोंसे यह निकली है, शंकरके जटाजूटमें इसने वास किया है, हजारों ब्रह्मर्षियों व राजर्षियोंने इसके तीरपर तपस्या की है, अनंत पुण्य-कृत्य इसके किनारे हुए हैं—ऐसी यह पवित्र गंगामाई है।" इस भावनासे अभिभूत होकर वह उसमें नहाता है। वह ऑक्सीजन-हायड्रोजनवाला भी नहाता है। अब देह-शुद्धिरूपी फल तो दोनोंको मिला ही। परन्तु

उस भक्तको देह-शुद्धिके साथ ही चित्त-शुद्धिरूपी फल भी मिला। यों तो गंगामें बैल भी नहाये तो उसे देहशुद्धि प्राप्त होगी। शरीरकी गंदगी निकल जायगी। परंतु मनका मल कैसे धुलेगा ? एकको देह-शुद्धिका तुच्छ फल मिला, दूसरेको, उसके अलावा भी, चित्त-शुद्धिरूपी अनमोल फल मिला।

स्नान करके सूर्य-नमस्कार करनेवालेको व्यायामका फल तो मिलेगा ही। परंतु वह आरोग्यके लिए नमस्कार नहीं करता है, उपासनाके लिए करता है। इससे उसके शरीरको तो आरोग्य-लाभ होता ही है, परंतु बुद्धिकी प्रभा भी बढ़ती है। आरोग्यके साथ ही, स्फूर्ति और प्रतिभा भी उसे सूर्य-नारायणसे मिलेगी।

वही कर्म, परन्तु भावना-भेदसे उसमें अंतर पड़ जाता है। परमार्थी मनुष्यका कर्म आत्म-विकासक होता है, संसारी मनुष्यका कर्म आत्म-बंधक सिद्ध होता है। कर्मयोगी यदि किसान होगा तो वह स्वधर्म समझकर खेती करेगा। इससे उसकी पेटपूर्ति अवश्य होगी; परन्तु वह इसलिए कर्म नहीं करता है कि उसकी उदर-पूर्ति हो; बल्कि भोजनको वह एक साधन मानेगा, जिससे उसका शरीर खेती करने योग्य रहता है। स्वधर्म उसका साध्य व भोजन उसका साधन हुआ। परंतु जो दूसरा किसान होगा, उसके लिए उदर-पूर्ति साध्य व खेती-रूपी स्वधर्म उसका साधन होगा। ऐसी यह एक-दूसरेसे उल्टी अवस्था है।

दूसरे अध्यायमें, स्थितप्रज्ञ के लक्षण बताते हुए यह बात मज़ेदार ढंगसे कही गई है। जहां दूसरे लोग जाग्रत रहते हैं वहां कर्मयोगी सोता रहता है। और जहां दूसरे लोग निद्रित रहते हैं वहां कर्मयोगी जाग्रत रहता है। हम उदरपूर्ति के लिए जाग्रत रहेंगे तो कर्मयोगी इस बातके लिए जाग्रत रहेगा कि उसका एक क्षण भी बिना कर्मके न जाय। वह खाता भी है तो मजबूर होकर। इस पेटके हांडेमें इसीलिए कुछ डालता है कि डालना जरूरी ह। संसारी मनुष्यको भोजनमें आनंद आता है, योगीको भोजन करते हुए कष्ट होता है। इसलिए वह स्वाद ले-लेकर भोजन नहीं करेगा। संयमसे काम लेगा। एककी जो रात, वही दूसरेका दिन,

और एकका जो दिन, वही दूसरेकी रात। अर्थात् जो एकका आनंद वही दूसरेका दुःख और जो एकका दुःख, वही दूसरेका आनंद, हो जाता है। संसारी व कर्मयोगी—दोनोंके कर्म तो एक-से ही हैं, परंतु कर्मयोगीकी विशेषता यह है कि वह फलासक्ति छोड़कर कर्ममें ही रमता है। संसारकी तरह योगी खायेगा, पियेगा, सोयेगा। परंतु तत्संबंधी उसकी भावना भिन्न होगी। इसलिए तो आरंभमें ही स्थितप्रज्ञकी संयम-मूर्ति खड़ी कर दी गई है, जबकि गीताके अभी सोलह अध्याय बाकी हैं।

संसारी पुरुष व कर्मयोगी दोनोंके कर्मोंका साम्य व वैषम्य तत्काल दिखाई दे जाता है। फर्ज कीजिए कि कर्मयोगी गोरक्षाका काम कर रहा है। तो वह किस दृष्टिसे करेगा? उसकी यह भावना रहेगी कि गो-सेवा करनेसे समाजको भरपूर दूध मिलेगा, गायके बहाने मनुष्य से निचली पशुसृष्टिसे प्रेम-संबंध जुड़ेगा। यह नहीं कि मुझे वेतन मिलेगा। वेतन तो कहीं गया नहीं है, परन्तु असली आनन्द, सच्चा सुख, इस दिव्य भावनामें है।

कर्मयोगीका कर्म उसे इस विश्वके साथ समरस कर देता है। तुलसीको पानी पिलाये बिना भोजन नहीं करेंगे। यह वनस्पति-सृष्टिके साथ हमने प्रेम-संबंध जोड़ा है। तुलसीको भूखा रखकर मैं कैसे पहले खा लूं? इस तरह गायके साथ एकरूपता, वनस्पतिके साथ एकरूपता साधते-साधते हुए हमें सारे विश्वसे एकरूपता साधनी है। भारतीय युद्धमें शाम होते ही सब लोग तो सायं-संध्या करनेके लिए चले जाते हैं, परंतु भगवान् श्रीकृष्ण रथके घोड़े छोड़-कर उन्हें पानी दिखाते, खुर्रा करते और उनके शरीरसे शल्यनिका-लते हैं। उस सेवामें भगवान्‌को कितना आनंद आता था! कवि यह वर्णन करते हुए अघाते ही नहीं। अपने पीतांबरमें दाना-चंदी लेकर घोड़ोंको देनेवाले उस पार्थ-सारथीका चित्र अपनी आंखोंके सामने खड़ा कीजिए और कर्मयोगके आनंदकी कल्पना का अनुभव कीजिए। प्रत्येक कर्म मानो आध्यात्मिक, उच्चतर पारमार्थिक कर्म। खादीके ही कामको लीजिए। कंधेपर खादीकी गांठ रख-कर फेरी करनेवाला क्या ऊब नहीं जाता? नहीं, क्योंकि वह इस

विचारमें मस्त रहता है कि देशमें जो मेरे करोड़ों नंगे-भूखे भाई-बहन हैं, उन्हें मुझे दो रोटी खिलाना है। उसका वह गज भर खादी बेचना समस्त दरिद्रनारायणके साथ जुड़ा हुआ होता है।

(१२)

निष्काम कर्मयोगमें अद्‌भुत सामर्थ्य है। ऐसे कर्मसे व्यक्ति व समाज दोनोंका परम कल्याण होता है। स्वधर्माचरण करनेवाले कर्मयोगी की शरीर-यात्रा तो चलती ही है, परंतु सदा सर्वदा उद्योग-रत रहनेके कारण उसका शरीर नीरोग व स्वच्छ रहता है और उसके इस कर्मकी बदौलत उसके समाजका भी, जिसमें वह रहता है, अच्छी तरह योगक्षेम चलता है। कर्मयोगी किसान, इसलिए कि पैसा ज्यादा मिलेगा; अफीम व तंबाकू नहीं बोयेगा; क्योंकि वह अपने कर्मका संबंध समाज-मंगलके साथ जोड़े हुए है। स्वधर्मरूप कर्म समाजके लिए हितकारी ही होगा। जो व्यापारी यह मानता है कि मेरा यह व्यवहाररूप कर्म समाजके हितके लिए है, वह कभी विदेशी कपड़ा नहीं बेचेगा। उसका व्यापार समाजोपकारक होगा। खुदको भूलकर अपने आसपासके समाजसे समरस होनेवाले कर्मयोगी जिस समाजमें पैदा होते हैं, उसमें सुव्यवस्था, समृद्धि व सौमनस्य रहते हैं।

कर्मयोगीके कर्मके फलस्वरूप उसकी शरीर-यात्रा चलकर देह व बुद्धि सतेज रहते हैं और समाजका भी कल्याण होता है। इन दो फलोंके अलावा चित्त-शुद्धिका भी महान् फल उसे मिलता है। 'कर्मणा शुद्धिः' ऐसा कहा गया है। कर्म चित्त-शुद्धिका साधन है। परंतु वह सब लोगोंका मामूली कर्म नहीं है। कर्मयोगी जो अभिमंत्रित कर्म करता है, उससे चित्तशुद्धि होती है। महाभारतमें तुलाधार वैश्यकी कथा है! जाजलि नामक एक ब्राह्मण तुलाधारके पास ज्ञान-प्राप्तिके लिए जाता है। तुलाधार उससे कहते हैं—"भैया, इस तराजूकी डंडीको सदा सीधा रखना पड़ता है।" इस बाह्यकर्मको करते हुए तुलाधारका मन भी सीधा सरल हो गया। छोटा बच्चा दुकानमें आ जाय या जवान आदमी, उसकी डंडी सबके लिए एक-सी रहती है, न ऊंची न नीची। उद्योगका मनपर भी परिणाम

होता है । कर्मयोगीके कर्मको एक प्रकारका जप ही समझो । उससे उसकी चित्त-शुद्धि होती है और निर्मल चित्तमें ज्ञानका प्रतिबिंब पड़ता है । अपने भिन्न-भिन्न कर्मोंसे कर्मयोगी अंतको ज्ञान प्राप्त करते हैं । तराजूकी डंडीसे तुलाधारको समवृत्ति मिली । सेना नाई बाल बनाया करता था । दूसरोंके सिरका मैल निकालते-निकालते उसे ज्ञान हुआ—"देखो, मैं दूसरोंके सिरका तो मैल निकालता हूं, परंतु क्या खुद कभी अपने सिरका, अपनी बुद्धिका, भी मैल मैंने निकाला है ?" ऐसी आध्यात्मिक भाषा उसे उस कर्म से सूझने लगी । खेतका कचरा निकालते-निकालते कर्मयोगीको खुद अपने हृदयका वासना-विकाररूपी कचरा निकालनेकी बुद्धि उपजती है । कच्ची मिट्टीको रौंद-रौंदकर समाजको पक्की हंडिया देनेवाला गोरा कुम्हार उससे यह शिक्षा लेता है कि मुझे अपने जीवनकी भी हंडिया पक्की बना लेनी चाहिए । इस तरह वह हाथमें थपकी लेकर 'हंडिया कच्ची है या पक्की' यों संतोंकी परीक्षा लेनेवाला परीक्षक बन जाता है । इससे यह सिद्ध होता है कि कर्मयोगी जिन-जिन कर्मोंको या धंधोंको करता है उनकी भाषामेंसे ही उसे भव्य ज्ञान प्राप्त हुआ है । वे कर्म क्या थे, उनकी अध्यात्म-शाला ही थे । उनके वे कर्म उपासनामय, सेवामय थे । वे दीखनेमें वैसे व्यावहारिक ही दीखते थे, परंतु भीतरसे वे वास्तवमें आध्यात्मिक थे ।

कर्मयोगीके कर्मसे एक और भी उत्तम फल मिलता है, और वह है समाजको एक आदर्शका मिलना । समाजमें यह तो है ही कि यह पहले जन्मा है व यह बादको । जिनका जन्म पहले हुआ है, उनके जिम्मे बादमें पैदा होनेवालोंके लिए उदाहरण बन जाने का काम रहता है । बड़े भाई पर छोटे भाईको, मां-बापपर बेटे-बेटीको, नेतापर अनुयायियोंको, गुरुपर शिष्यको अपनी कृतिके द्वारा अपना उदाहरण पेश करनेकी जिम्मेदारी है । ऐसा उदाहरण कर्मयोगियोंके सिवा और कौन उपस्थित कर सकता है ?

कर्मयोगी सदैव कर्म-रत रहता है क्योंकि कर्ममें ही उसे आनंद मालूम होता है । इससे समाज में दंभ-ढोंग नहीं बढ़ता । कर्मयोगी खुद यद्यपि स्वयं-तृप्त होता है तो भी कर्म किये बिना उससे रहा नहीं

जाता। तुकाराम कहते हैं—"भजनसे भगवान् मिल गया तो क्या इसलिए मैं भजन छोड़ दूं ? भजन तो अब हमारा सहज धर्म हो गया।"

पहले जोड़ा संत संग। तुका हुआ पांडुरंग।
भजनका तांता टूटे क्यों ? मूल स्वभाव छूटे क्यों ?

कर्मकी सीढ़ीसे चढ़कर शिखरतक पहुंच गये। परंतु कर्मयोगी तब भी सीढ़ी नहीं छोड़ता। वह उससे छूट ही नहीं सकती। उसकी इंद्रियोंको उन कर्मोंको करने की ऐसी सहज आदत ही पड़ जाती है। इस तरह स्वधर्म-कर्मरूपी सेवाकी सीढ़ीका महत्त्व वह समाजको जंचाता रहता है।

समाजसे ढोंगका मिटना बहुत ही बड़ी चीज है। ढोंग-पाखंडसे समाज डूब जाता है। ज्ञानी यदि खामोश बैठ जाय तो उसे देखकर दूसरे भी हाथ-पर-हाथ रखकर बैठने लगेंगे। ज्ञानी तो नित्य-तृप्त होनेके कारण आंतरिक सुखमें तल्लीन रहकर खामोश रहेगा; परंतु दूसरा मनुष्य भीतरसे रोता हुआ भी कर्म-शून्य हो जायगा। एक अंतस्तृप्त होकर स्वस्थ है तो दूसरा मनमें कुढ़ता हुआ भी स्वस्थ है। ऐसी स्थिति भयानक है। इसमें दंभ, पाखंड बढ़ेगा। अतः सारे संत शिखरपर पहुंचकर भी साधनका पल्ला बड़ी सतर्कतासे पकड़े रहे, आमरण स्वकर्माचरण करते रहे। माता बच्चोंके गुड्डे-गुड्डीके खेलोंमें रस लेती है। वह यह समझते हुए भी कि ये बनावटी हैं, उनके खेलोंमें शरीक होकर उनमें रुचि उत्पन्न करती है। मां यदि उन खेलोंमें शरीक न हो, तो बच्चोंको उसमें मजा नहीं आयगा। कर्मयोगी तृप्त होकर कर्म छोड़ देगा तो दूसरे अतृप्त रहते हुए भी कर्म छोड़ देंगे, हालांकि मनमें भूखे व निरानंद रहेंगे।

अतः कर्मयोगी मामूली आदमीकी तरह ही कर्म करता रहता है। वह यह नहीं मानता कि मैं कोई विशेष मनुष्य हूं। औरोंकी अपेक्षा अनंतगुना परिश्रम वह करता है। अमुक कर्म पारमार्थिक है, ऐसी छाप लगाने की जरूरत नहीं है। कर्मका विज्ञापन करने की जरूरत नहीं है। यदि तुम उत्कृष्ट ब्रह्मचारी हो, तो अपने कर्ममें औरोंकी अपेक्षा सौ गुना उत्साह दीखने दो। कम खाना मिलने पर भी तिगुना काम होने

दो, समाजकी सेवा अपने द्वारा अधिक होने दो। अपना ब्रह्मचर्य अपने आचार-व्यवहारमें दिखने दो। चंदनकी सुगंध बाहर फैलने दो।

सार यह है कि कर्मयोगी फलकी इच्छा छोड़नेसे ऐसे अनंत फल प्राप्त करेगा, उसकी शरीर-यात्रा चलती रहेगी, शरीर व बुद्धि सतेज रहेंगे। जिस समाज में वह विचरेगा, वह समाज सुखी होगा। उसकी चित्त-शुद्धि होकर ज्ञान भी मिलेगा और समाजसे ढोंग, पाखंड मिटकर जीवनका पवित्र आदर्श हाथ लगेगा। कर्मयोगकी यह अनुभव-सिद्ध महिमा है।

(१३)

कर्मयोगी अपना कर्म औरोंकी अपेक्षा उत्कृष्ट रीतिसे करेगा; क्योंकि उसके लिए कर्म ही उपासना है, कर्म ही पूजा-विधान है। मैंने भगवान्‌का पूजन किया। फिर पूजाका नैवेद्य प्रसादके रूपमें पाया। परंतु क्या यह नैवेद्य उस पूजाका फल है? जो नैवेद्यके लिए पूजन करेगा उसे प्रसादका अंश तो तुरंत मिलेगा ही। परंतु जो कर्मयोगी है वह अपने पूजा-कर्मके द्वारा परमेश्वर-दर्शनरूपी फल चाहता है। वह उस कर्मकी कीमत इतनी थोड़ी नहीं समझता कि सिर्फ प्रसाद ही मिल जाय। वह अपने कर्मकी कीमत कम आंकने के लिए तैयार नहीं है। स्थूल नापसे वह अपने कर्मोंको नहीं नापता। जिसकी स्थूल दृष्टि है, उसे फल भी स्थूल ही मिलेगा। खेतीकी एक कहावत है—'गहरा बो पर गीला बो'। महज गहरे जोतनेसे काम नहीं चलेगा, नीचे तरी भी होनी चाहिए। गहराई व तरी दोनों होंगी तो भुट्टा (या बाल) बड़ा कलाई के बराबर पड़ेगा। अतः कर्म गहरा अर्थात् उत्कृष्ट होना चाहिए। फिर उसमें ईश्वर-भक्ति, ईश्वरार्पणतारूपी तरी भी होनी चाहिए। कर्मयोगी गहरा कर्म करके उसे ईश्वरार्पण कर देता है।

परमार्थके संबंधमें कुछ वाहियात कल्पनाएं हमारे अंदर फैल गई हैं। लोग समझते हैं कि जो परमार्थी हो गया उसे हाथ-पांव हिलानेकी जरूरत नहीं, काम-काज करनेकी जरूरत नहीं। कहते हैं, जो खेती करता है, खादी बुनता है, वह कहांका परमार्थी? परंतु कोई यह नहीं पूछता कि जो भोजन करता है, वह कैसा परमार्थी?

कर्मयोगियोंका परमेश्वर तो कहीं घोड़ोंको खुर्रा करता है, राजसूय-यज्ञके समय जूठी पत्तलें उठाता है, जंगलमें गायें चराने जाता है। वह द्वारकानाथ यदि फिर कभी गोकुलमें गया तो ठुमक-ठुमक चलकर बंसी बजाते हुए गायें चरावेगा। सो संतोंने तो घोड़ोंको खुर्रा करने-वाला, गायें चरानेवाला, रथ हांकनेवाला, पत्तल उठानेवाला, लीपने-वाला, कर्मयोगी परमेश्वर खड़ा किया है और खुद संत भी कोई दरजीका, तो कोई कुम्हारका, कोई बुनाईका, तो कोई मालीका, कोई धान कूटने-पीसनेका, तो कोई बनियेका, कोई नाईका, तो कोई ढोर घसीटनेका काम करते-करते मुक्त पदवीको प्राप्त हुए हैं।

ऐसे इस दिव्य कर्मयोगके व्रतसे मनुष्य दो कारणोंसे डिगता है। इस सिलसिलेमें हमें इंद्रियोंका विशिष्ट स्वभाव—खासियत—ध्यानमें रखना चाहिए। हमारी इंद्रियां सदैव—"यह चाहिए और वह नहीं चाहिए"—ऐसे द्वंद्वोंसे घिरी रहती हैं। जो चाहिए उसके लिए राग अर्थात् प्रीति, और जो न चाहिए उसके प्रति मनमें द्वेष उत्पन्न होता है। ऐसे ये राग-द्वेष, काम-क्रोध मनुष्यको नोच-नोचकर खाते हैं। कर्म-योग वैसे कितना बढ़िया, कितना रमणीय, कितना अनंत फलदायी है! परंतु ये काम-क्रोध 'इसे ले व इसे छोड़' ऐसा झगड़ा हमारे गले बांधकर दिन-रात हमारे पीछे पड़े रहते हैं। अतः भगवान् इस अध्यायके अंतमें खतरेकी घंटी बजाते हैं कि इनका संग छोड़ो, इनसे बचो। स्थितप्रज्ञ जिस प्रकार संयमकी मूर्ति होता है, उसी प्रकार कर्मयोगीको बनना चाहिए।

रविवार, ६-३-३२

चौथा अध्याय

(१४)

भाइयो, पिछले अध्यायमें हमने निष्काम कर्मयोगका विवेचन किया है। स्वधर्मको टालकर यदि हम अवान्तर धर्म स्वीकार करेंगे तो निष्कामतारूपी फलको अशक्य ही समझो। स्वदेशी माल बेचना व्यापारीका स्वधर्म है। परंतु इस स्वधर्मको छोड़कर जब वह सात समुंदर पारका विदेशी माल बेचने लगता है, तब उसके सामने यही हेतु रहता है कि बहुतेरा नफा मिले। तो फिर उस कर्ममें निष्का-मता कहांसे आयगी ? अतएव कर्मको निष्काम बनानेके लिए स्वधर्म-पालनकी अत्यंत आवश्यकता है। परंतु यह स्वधर्माचरण भी 'सकाम' हो सकता है। अहिंसाकी ही बात हम लें। जो अहिंसाका उपासक है, उसके लिए हिंसा तो वर्ज्य है। परंतु यह संभव है कि ऊपरसे अहिंसक होते हुए भी वह वास्तवमें हिंसामय हो; क्योंकि हिंसा मनका एक धर्म है। महज बाहरसे हिंसाकर्म न करनेसे ही मन अहिंसामय हो जायगा सो बात नहीं। तलवार हाथमें लेनेसे हिंसा-वृत्ति अवश्य प्रकट होती है, परंतु तलवार छोड़ देनेसे मनुष्य अहिंसामय होता ही है, सो बात नहीं। ठीक यही बात स्वधर्माचरणकी है। निष्कामताके लिए पर-धर्मसे तो बचना ही होगा। परंतु यह तो निष्कामताका आरंभमात्र हुआ। इससे हम साध्यतक नहीं पहुंच गये।

निष्कामता मनका धर्म है। इसकी उत्पत्तिके लिए एक स्वधर्मा-चरणरूपी साधन ही काफी नहीं है। दूसरे साधनोंका भी सहारा लेना पड़ेगा। अकेली तेल-बत्तीसे दिया नहीं जल जाता। उसके लिए ज्योतिकी जरूरत होती है। ज्योति होगी तो अंधेरा दूर होगा। यह ज्योति कैसे जगावें ? इसके लिए मानसिक संशोधनकी जरूरत है। आत्म-परीक्षणके द्वारा चित्तकी मलिनता——कूड़ा-कचरा——

धो डालना चाहिए। तीसरे अध्यायके अंतमें यही मार्केकी बात भगवान्‌ने बताई थी। उसीमेंसे चौथे अध्यायका जन्म हुआ है।

गीतामें 'कर्म' शब्द 'स्वधर्म' के अर्थमें व्यवहृत हुआ है। हमारा खाना, पीना, सोना, ये कर्म ही हैं, परंतु गीताके 'कर्म' शब्दसे ये सब क्रियाएं सूचित नहीं होती हैं। कर्मसे वहां मतलब स्वधर्माचरणसे है। परंतु इस स्वधर्माचरणरूपी कर्मको करके निष्कामता प्राप्त करनेके लिए और भी एक वस्तुकी सहायता जरूरी है। वह है काम व क्रोधको जीतना। चित्त जबतक गंगाजलकी तरह निर्मल व प्रशांत न हो जाय तबतक निष्कामता नहीं आ सकती। इस तरह चित्त-संशोधनके लिए जो-जो कर्म किये जायं, उन्हें गीता 'विकर्म' कहती है। 'कर्म,' 'विकर्म'—व 'अकर्म', ये तीन शब्द चौथे अध्यायमें बड़े महत्त्वके हैं। 'कर्म' का अर्थ है, स्वधर्माचरणकी बाहरी—स्थूल—क्रिया। इस बाहरी क्रियामें चित्तको लगाना ही 'विकर्म' है। बाहरसे हम किसीको नमस्कार करते हैं, परंतु उस बाहरी सिर झुकानेकी क्रियाके साथ ही यदि भीतरसे मन भी न झुकता हो तो बाह्य क्रिया व्यर्थ है। अंतर्बाह्य—भीतर व बाहर—दोनों एक होना चाहिए। बाहरसे मैं शिव-पिंडपर सतत जल-धारा छोड़कर अभिषेक करता हूं। परंतु इस जल-धाराके साथ ही यदि मानसिक चिंतनकी धार भी अखंड न चलती रहती हो तो उस अभिषेककी क्या कीमत रही? ऐसी दशा में वह शिवपिंड भी पत्थर व मैं भी पत्थर ही। पत्थरके सामने पत्थर बैठा—यही उसका अर्थ होगा। निष्काम कर्मयोग तभी सिद्ध होता है, जब हमारे बाह्य कर्मके साथ अंदरसे चित्त-शुद्धिरूपी कर्मका भी संयोग हो।

'निष्काम कर्म' इस शब्द-प्रयोगमें 'कर्म'-पदकी अपेक्षा 'निष्काम' पदको ही अधिक महत्त्व है, जिस तरह 'अहिंसात्मक असहयोग' शब्द-प्रयोगमें 'असहयोग' की बनिस्बत, 'अहिंसात्मक' विशेषणको ही अधिक महत्त्व है। अहिंसाको दूर हटाकर यदि केवल असहयोगका अवलंबन करेंगे तो वह एक भयंकर चीज बन सकती है। उसी तरह स्वधर्माचरणरूपी कर्म करते हुए यदि मनका विकर्म उसमें नहीं जुड़ा है तो उसे धोखा समझना चाहिए।

आज जो लोग सार्वजनिक सेवा करते हैं, वे स्वधर्मका ही आचरण करते हैं। जब लोग गरीब, कंगाल, दुःखी व मुसीबतमें होते हैं, तब उनकी सेवा करके उन्हें सुखी बनाना प्रवाह-प्राप्त धर्म है। परंतु इससे यह अनुमान न कर लेना चाहिए कि जितने भी लोग सार्वजनिक सेवा करते हैं, वे सब कर्मयोगी हो गए हैं। लोक-सेवाके करते हुए यदि मनमें शुद्ध भावना न हो तो उस लोक-सेवाके भयानक होनेकी संभावना है। अपने कुटुंबकी सेवा करते हुए जितना अहंकार, जितना द्वेष-मत्सर, जितना स्वार्थ आदि विकार हम उत्पन्न करते हैं, उतने सब लोक-सेवामें भी हम उत्पन्न करते हैं और इसका प्रत्यक्ष दर्शन हमें आजकलकी लोक-सेवामंडलियोंके जमघटमें भी हो जाता है।

(१५)

कर्मके साथ मनका मेल होना चाहिए। इस मनके मेलको ही गीता 'विकर्म' कहती है। बाहर का स्वधर्मरूप सामान्य कर्म और यह आंतरिक विशेष कर्म। यह विशेष कर्म अपनी-अपनी मानसिक जरूरत के अनुसार जुदा-जुदा होता है। विकर्मके ऐसे अनेक प्रकार, नमूनेके तौरपर, चौथे अध्यायमें बताये गए हैं। उसीका विस्तार आगे छठे अध्यायसे किया गया है। इस विशेष कर्मका, इस मानसिक अनुसंधानका, योग जब हम करगे, तभी उसमें निष्कामताकी ज्योति जगेगी। कर्मके साथ जब विकर्म मिलता है तो फिर धीरे-धीरे निष्कामता हमारे अंदर आती रहती है। यदि शरीर व मन जुदा-जुदा चीजें हैं तो साधन भी दोनोंके लिए जुदा-जुदा ही होंगे। जब इन दोनोंका मेल बैठ जाता है तो साध्य हमारे हाथ लग जाता है। मन एक तरफ और शरीर दूसरी तरफ, ऐसा न हो जाय, इसलिए शास्त्रकारोंने दुहरा मार्ग बताया है। भक्तियोगमें बाहरसे तप व भीतरसे जप बताया है। उपवास आदि बाहरी तपके चलते हुए यदि भीतरसे मानसिक जप न हो तो वह सारा तप फिजूल गया। तपसंबंधी मेरी भावना सतत सुलगती, जगमगाती रहनी चाहिए। उपवास शब्दका अर्थ ही है, भगवान्‌के पास बैठना। इसलिए कि परमात्माके नजदीक हमारा चित्त रहे, बाहरी भोगोंका दरवाजा बंद करनेकी जरूरत है। परंतु बाहरसे विषयभोगों को छोड़-कर यदि मनमें भगवान्‌का चिंतन न होता तो फिर इस बाहरी उपवास-

की क्या कीमत रही ? ईश्वरका चिंतन न करते हुए यदि उस समय खाने-पीनेकी चीजोंका चिंतन करें तो फिर वह बड़ा ही भयंकर भोजन हो गया। यह जो मनसे भोजन हुआ, मनमें जो विषय-चिंतन रहा, इससे बढ़कर भयंकर वस्तु दूसरी नहीं। तंत्रके साथ मंत्र होना चाहिए। कोरे बाह्यतंत्रका कोई महत्त्व नहीं है और न केवल कर्महीन मंत्रका भी कोई मूल्य है। हाथमें भी सेवा हो व हृदयमें भी सेवा हो, तभी सच्ची सेवा हमारे हाथों बन पड़ेगी।

यदि बाह्य कर्ममें हृदयकी आर्द्रता न रही तो वह स्वधर्माचरण रूखा-सूखा रह जायगा। उसमें निष्कामतारूपी फूल-फल नहीं लगेंगे। फर्ज कीजिए कि हमने किसी रोगीकी सेवा-शुश्रूषा शुरू की, परंतु उस सेवा-कर्मके साथ यदि मनमें कोमल दया-भाव न हो तो वह रुग्णसेवा नीरस मालूम होगी व उससे जी ऊब उठेगा। वह एक बोझ मालूम देगी। रोगीको भी वह सेवा एक बोझ मालूम पड़ेगी। उसमें यदि मनका सहयोग न हो तो उससे अहंकार पैदा होगा। 'मैंने आज उसका काम किया है; उसे जरूरतके वक्त मेरी सहायता करनी चाहिए। मेरी तारीफ करनी चाहिए। मेरा गौरव करना चाहिए।'—आदि अपेक्षाएं मनमें उत्पन्न होंगी। अथवा हम त्रस्त होकर कहेंगे—हम इसकी इतनी सेवा करते हैं, फिर भी यह बड़बड़ाता रहता है। बीमार आदमी वैसे ही चिड़चिड़ा रहता है। उसके ऐसे स्वभावसे ऐसा सेवक, जिसके मनमें सच्चा सेवा-भाव नहीं होता, ऊब जायगा।

कर्मके साथ जब आंतरिक भावका मेल हो जाता है तो वह कर्म कुछ और ही हो जाता है। तेल और बत्तीके साथ जब ज्योतिका मेल होता है, तब प्रकाश उत्पन्न होता है। कर्मके साथ विकर्मका मेल हुआ तो निष्कामता आती है। बारूदमें बत्ती लगानेसे धड़ाका होता है। उस बारूदमें एक शक्ति उत्पन्न होती है। कर्मको बंदूककी बारूदकी तरह समझो। उसमें विकर्मकी बत्ती या आग लगी कि काम हुआ। जबतक विकर्म आकर नहीं मिलता तबतक वह कर्म जड़ है। उसमें चैतन्य नहीं। एक बार जहां विकर्मकी चिनगारी उसमें गिरी कि फिर उस कर्ममें जो सामर्थ्य पैदा होता है वह अवर्णनीय है। चिमटी भर बारूद जेबमें पड़ी रहती है, हाथ में उछलती रहती है, पर जहां उसमें

बत्ती लगी कि शरीर के टुकड़े-टुकड़े हुए। स्वधर्माचरणका अनंत सामर्थ्य इसी तरह गुप्त रहता है। उसमें विकर्मको जोड़िये तो फिर देखिये कि कैसे-कैसे बनाव-बिगाड़ होते हैं। उसके स्फोटसे अहंकार, काम, क्रोध के प्राण उड़ जायंगे व उसमेंसे उस परम ज्ञानकी निष्पत्ति हो जायगी।

कर्म ज्ञानका पलीता है। एक लकड़ीका बड़ा-सा टुकड़ा कहीं पड़ा है। उसे आप जला दीजिए। वह जगमग अंगार हो जाता है। उस लकड़ी और उस आगमें कितना अंतर है? परंतु उस लकड़ीकी ही वह आग होती है। कर्ममें विकर्म डाल देने से, कर्म दिव्य दिखाई देने लगता है। मां बच्चेकी पीठपर हाथ फेरती है। एक पीठ है, जिसपर एक हाथ योंही इधर-उधर फिर गया। परंतु इस एक मामूली कर्मसे उन मां-बच्चे के मनमें जो भावनाएं उठीं, उनका वर्णन कौन कर सकेगा? यदि कोई ऐसा समीकरण बिठाने लगेगा कि इतनी लंबी-चौड़ी पीठपर इतने वजनका एक मुलायम हाथ फिराइये तो इससे वह आनंद उत्पन्न होगा, तो एक दिल्लगी ही होगी। हाथ फिरानेकी यह क्रिया बिलकुल क्षुद्र है, परंतु उसमें मांका हृदय उंडेला हुआ है। वह विकर्म उंडेला हुआ है। इसीसे यह अपूर्व आनंद प्राप्त होता है। तुलसीरामायणमें एक प्रसंग आया है। राक्षसोंसे लड़कर बंदर आते हैं। वे जख्मी हो गए हैं। बदनसे खून बह रहा है। परंतु प्रभु रामचन्द्रके एक बार प्रेमपूर्वक दृष्टिपात मात्रसे उन बंदरोंकी वेदना काफूर हो गई। अब यदि दूसरे मनुष्यने रामकी उस समय की आंख व दृष्टिका फोटो लेकर किसीकी ओर उतनी आंखें फाड़कर देखा होता तो क्या उसका वैसा प्रभाव पड़ा होता? वैसा करने का यत्न करना हास्यास्पद है।

कर्मके साथ जब विकर्मका जोड़ मिल जाता है तो शक्ति-स्फोट होता है और उसमें से अकर्म निर्माण होता है। लकड़ी जलने पर राख हो जाती है। पहलेका वह इतना बड़ा लकड़ीका टुकड़ा, अंतमें चिमटी भर बेचारी राख रह जाती है उसकी! खुशीसे उसे हाथमें ले लीजिए और सारे बदनपर मल लीजिए। इस तरह कर्ममें विकर्मकी ज्योति जला देनेसे अंतमें अकर्म हो जाता है। कहां लकड़ी व कहां राख? कः केन संबंधः! उनके गुण-धर्मोंमें अब बिलकुल साम्य नहीं रह गया।

परंतु इसमें कोई शक नहीं है कि वह राख उस लकड़ी के लट्ठेकी ही है।

कर्ममें विकर्म उंडलनेसे अकर्म होता है। इसका अर्थ क्या ? इसका अर्थ यह कि ऐसा मालूम ही नहीं होता कि कोई कर्म किया है। उस कर्मका बोझ नहीं मालूम होता। करके भी अकर्त्ता होते हैं। गीता कहती है कि मारकर भी तुम मारते नहीं। मां बच्चे को पीटती है, इसलिए तुम तो उसे पीटकर देखो। तुम्हारी मार बच्चा नहीं सहेगा। मां मारती है, फिर भी वह उसके आंचलमें मुंह छिपाता है; क्योंकि मां के बाह्य कर्ममें चित्त-शुद्धि का मेल है। उसका यह मारना-पीटना निष्काम भाव से है। उस कर्ममें उसका स्वार्थ नहीं है। विकर्म के कारण, मनकी शुद्धि के कारण, कर्मका कर्मत्व उड़ जाता है। रामकी वह दृष्टि, आंतरिक विकर्मके कारण, महज प्रेम-सुधा-सागर हो गई थी, परन्तु रामको उस कर्मका कोई श्रम नहीं हुआ था। चित्त-शुद्धि से किया कर्म निर्लेप रहता है। उसका पाप-पुण्य कुछ बाकी नहीं रहता, नहीं तो कर्मका कितना बोझ, कितना जोर हमारी बुद्धि व हृदय पर पड़ता है। यदि यह खबर आज दो बजे उड़ी कि कल ही सारे राजनैतिक कैदी छूट जानेवाले हैं तो फिर देखो, कैसी भीड़ चारों ओर हो जाती है। चारों ओर हलचल व गड़बड़ मच जाती है। हम कर्मके अच्छे-बुरे होनेकी वजहसे मानो व्यग्र रहते हैं। कर्म हमको चारों ओरसे घेर लेता है, मानो कर्मने हमारी गर्दन धर दबाई है। जिस तरह समुद्र का प्रवाह जोरसे जमीनमें धंसकर खाड़ियां बना देता है, उसी तरह कर्मका यह जंजाल चित्तमें घुसकर क्षोभ पैदा करता है। सुख-दुःखके द्वंद्व निर्माण होते हैं। सारी शांति नष्ट हो जाती है। कर्म हुआ और होकर चला भी गया; परंतु उसका वेग बाकी बच ही रहता है। कर्म चित्त पर हावी हो जाता है। फिर उसकी नींद हराम हो जाती है।

परंतु ऐसे इस कर्ममें यदि विकर्मको मिला दिया तो फिर आप चाहे जितने कर्म करें तो भी उसका श्रम या बोझ नहीं मालूम होता। मन ध्रुव की तरह शांत, स्थिर व तेजोमय बना रहता है। कर्ममें विकर्म डाल देने से वह अकर्म हो जाता है, मानो कर्मको करके फिर उसे पोंछ दिया हो।

(१६)

यह कर्मका अकर्म कैसे होता है ? यह कला किसके पास मिलेगी ? संतोंके पास। इस अध्यायके अंतमें भगवान् कहते हैं—"संतों के पास जाकर बैठो व उनसे शिक्षा लो"। कर्मका अकर्म कैसे हो जाता है, इसका वर्णन करनेमें भाषाका अंत आ जाता है। उसका सही खयाल लाना हो तो संतों के पास जाना चाहिए। परमेश्वर का वर्णन भी तो है—

"शान्ताकारं भुजगशयनम्"

परमेश्वर हजार फनोंके शेषनागपर सोते हुए भी शांत हैं। इसी तरह संत हजारों कर्म करते हुए भी रत्तीभर क्षोभ-तरंग अपने मानस-सरोवरमें नहीं उठने देते। यह खूबी संतों के गांव गये बिना समझ में नहीं आ सकती।

वर्तमान कालमें पुस्तकें बहुत सस्ती हो गई हैं। एक-एक दो-दो आनेमें गीता, 'मनाचे श्लोक'[1] आदि मिल जाते हैं। गुरुओंकी भी कमी नहीं। शिक्षा उदार व सस्ती है। विद्यापीठ तो मानो ज्ञानकी खैरात ही बांटते हैं। परंतु ज्ञानामृत-भोजनकी डकार किसीको नहीं आती। पुस्तकोंके इस पहाड़को देखकर संत-सेवाकी जरूरत दिन-पर-दिन ज्यादा दिखाई देने लगी है। पुस्तकोंकी मजबूत कपड़ेकी जिल्दके बाहर ज्ञान नहीं आता। ऐसे अवसरपर मुझे एक अभंग हमेशा याद आ जाया करता है—

"काम क्रोध के खड़े हैं पहाड़
रहा है अनन्त पल्ले पार।"

काम-क्रोधरूपी पहाड़ोंके परले पार नारायण रहता है। उसी तरह इन पुस्तकोंकी राशिके पीछे ज्ञान-राजा छिपा बैठा है। पुस्तकालयों व ग्रंथालयोंके चारों ओर छा जानेपर भी अभीतक मनुष्य सब जगह संस्कारहीन व ज्ञानहीन बंदर ही दिखाई देता है। बड़ौदामें बहुत बड़ी लाइब्रेरी है। एक बार एक सज्जन एक बड़ी-सी पुस्तक लेकर जा रहे थे। उसमें तस्वीरें थीं। वे यह समझकर ले जा रहे थे कि वह अंग्रेजी पुस्तक है। मैंने पूछा—"कौन-सी पुस्तक है ?" उन्होंने पुस्तक आगे

---

१. समर्थ रामदासकृत मराठी पुस्तक।

बढ़ा दी। मैंने कहा—"यह तो फ्रेंच है," तो उन्होंने कहा—"अच्छा, फ्रेंच आ गई?" परम पवित्र रोमन लिपि, बढ़िया तस्वीर, सुंदर जिल्द, फिर ज्ञानकी क्या कमी रही!

अंग्रेजीमें हर साल कोई दस हजार नई किताबें तैयार होती हैं। यही हाल दूसरी भाषाओंका समझिए। ज्ञानका इतना प्रसार होत हुए भी मनुष्यका दिमाग अबतक खोखला ही कैसे बना हुआ है? कोई कहते हैं, स्मरणशक्ति कमजोर हो गई है। कोई बताते ह, एकाग्रता नहीं होती। कोई जवाब देते हैं कि जो कुछ पढ़ते हैं, सब ही सच मालम होता है। और कोई कहते हैं, अजी, विचार करने को फुरसत ही नहीं मिलती! श्रीकृष्ण कहते हैं—"अर्जुन, बहुत कुछ सुन-सुनाकर तुम्हारी बुद्धि चक्कर में पड़ गई है। वह जबतक स्थिर नहीं होगी तबतक तुम्हें योगप्राप्ति नहीं हो सकती। सुनना व पढ़ना अब बन्द करके संतोंकी शरण ले! वहांसे जीवन-ग्रंथ पढ़नेको मिलेगा। वहांका 'मौन व्याख्यान' सुनकर तू 'छिन्न-संशय' हो जायगा। वहां जानेसे तुम्हें मालूम हो जायगा कि लगातार सेवा-कर्म करते हुए भी मन कैसे अत्यंत शांत रह सकता है; बाहर से कर्मका जोर रहते हुए भी मन कैसे अत्यंत शांत रह सकता है। बाहरसे कर्मका जोर रहते हुए भी हृदयमें कैसे अखंड संगीतरूपी सितार लँगाई जा सकती है।"

रविवार, १३-३-३२

पांचवां अध्याय

(१७)

संसार बड़ी भयानक वस्तु है। बहुत बार उसे समुद्रकी उपमा देते हैं। समुद्रमें जहां देखिए तहां पानी-ही-पानी दिखाई देता है। वही हाल संसारका है। जिधर देखो उधर संसार हरा-ही-हरा दीख पड़ता है। यदि कोई घर-बार छोड़कर सार्वजनिक सेवामें लग जाता है, तो वहां भी उसके मनमें संसार अपना पड़ाव डाले बैठा ही मिलता है। कोई यदि गुफामें जाकर बैठ जाय तो भी, उसकी बित्तेभर लंगोटीमें, संसार ओत-प्रोत भरा रहता है। वह लंगोटी उसकी ममता का सार-सर्वस्व बन बैठती है। जैसे छोटे-से नोटमें हजार रुपये भरे रहते हैं, वैसे ही उस छोटी-सी लंगोटीमें भी अपार आसक्ति भरी रहती है। घर-जंजाल तोड़ दिया, विस्तार कम कर दिया, इतनेसे संसार कम नहीं हो जाता। $\frac{१०}{२५}$ कहो या $\frac{२}{५}$ कहो, दोनोंका मतलब एक ही है। चाहे घरमें रहो या जंगलमें, आसक्ति तो पास ही बनी रहती है। संसार लेशमात्र भी कम नहीं होता। दो योगी भले ही हिमालयकी गुफामें जाकर बैठ जायं, पर वहां भी एक-दूसरेकी कीर्ति उनके कानोंमें पड़ गई तो वे जल-भुन जायंगे। सार्वजनिक सेवाके क्षेत्रमें भी ऐसा ही दृश्य दिखाई दे जाता है।

इस प्रकार यह संसार-प्रपंच हाथ धोकर हमारे पीछे पड़ा हुआ होनेसे स्वधर्माचरणकी मर्यादामें रहते हुए भी संसारसे पिंड नहीं छूटता। बहुतेरा उखाड़-पछाड़ करना छोड़ दिया और झंझटें भी कम कर दीं व अपना संसार-प्रपंच भी नाममात्रका रख दिया, तो भी वहां ममत्व पीछा नहीं छोड़ता। राक्षस जैसे कभी छोटे हो जाते हैं व कभी बड़े, वैसे ही यह संसार अपना रूप बनाता है। छोटे हों या बड़े, आखिर वे हैं तो राक्षस ही। ऐसे ही दुर्निवारत्व चाहे महलोंमें हों या झोंपड़ीमें, है एक-सा ही। स्वधर्मका बंधन डालकर यद्यपि संसारको समतोल

रखा तो भी वहां अनेक झगड़े पैदा हो जायंगे और तुम्हारा जी वहांसे ऊब उठेगा। वहां भी अनेक संस्था व अनेक व्यक्तियोंसे तुम्हारा संबंध बंधेगा और तुम ऊब उठोगे। तुम कहने लगोगे—कहां इस आफतमें आ फंसा! लेकिन तुम्हारा मन कसौटीपर भी तभी चढ़ेगा। केवल स्वधर्माचरणको अपनानेसे ही अलिप्तता नहीं आ जाती। कर्मकी व्याप्ति को कम करना अलिप्त होना नहीं है।

तो फिर अलिप्तता कैसे प्राप्त हो? उसके लिए मनोमय प्रयत्न होना चाहिए। मनका सहयोग जबतक न हो तबतक कोई भी बात सिद्ध नहीं हो सकती। मां-बाप किसी संस्थामें अपना लड़का भेज देते हैं। वह वहां सवेरे उठता है, सूर्य-नमस्कार करता है। चाय नहीं पीता। परंतु घर आते ही दो-चार दिनोंमें वह सबकुछ छोड़ देता है। ऐसे अनुभव हमें होते हैं। मनुष्य कुछ मिट्टीका ढेला तो है नहीं। उसके मनको हम जो आकार देना चाहते हैं, वह उसके मनमें बैठना तो चाहिए न? मन यदि आकारमें नहीं बैठा तो बाहरकी यह सारी तालीम व्यर्थ हो गई! इसलिए साधनमें मानसिक सहयोगकी बहुत आवश्यकता है।

साधन के रूपमें बाहरसे स्वधर्माचरण व भीतरसे मनका विकर्म, दोनों बातें चाहिए। बाह्य कर्मकी भी आवश्यकता है ही। कर्म किये बिना मनकी परीक्षा नहीं होती। प्रातःकालके प्रशांत समयमें हमें अपना मन अत्यंत शांत मालूम होता है। परंतु जहां जरा बच्चा रोया नहीं कि हमारी उस मनःशांतिकी असली कीमत हमें मालूम हो जाती है। अतः कर्मको टालनेसे काम नहीं चलेगा। बाह्य कर्मोंसे हमारे मनका स्वरूप प्रकट होता है। पानी ऊपरसे साफ दीखता है। परंतु उसमें पत्थर डालिए; तुरंत ही अंदरकी गंदगी ऊपर तैर आवेगी। वैसी ही दशा हमारे मनकी है। मनके अंतःसरोवरमें नीचे घुटनेभर गंदगी जमा रहती है। बाहरी वस्तुसे उसका स्पर्श होते ही वह दिखाई देने लगती है। हम कहते हैं, उसे गुस्सा आ गया। तो यह गुस्सा कहीं बाहरसे आ गया? वह तो अंदर ही था। मनमें यदि न होता तो वह बाहर दिखाई ही न देता।

लोग कहते हैं—"सफेद खादी नहीं चाहिए, वह मैली हो जाती

है। रंगीन खादी मैली नहीं होती।" पर मैली तो वह भी होती है। हां, अलबत्ता मली दिखाई नहीं देती। सफेद खादी की मैल दीख जाती है। वह कहती है—"मैं मैली हूं, मुझे धो डालो।" यह मुंहसे बोलनेवाली खादी लोगों को पसंद नहीं आती। इसी तरह हमारा कर्म भी बोलता है। कर्म यह बतला देता है कि आप क्रोधी हैं, स्वार्थी हैं, या और कुछ हैं। कर्म वह आइना है, जो हमारा स्वरूप हमें दिखा देता है। अतः हमें कर्मका अहसानमंद होना चाहिए। आइनेमें यदि हमारा चेहरा मैला-कुचैला दिखाई दे तो क्या हम आइने को फोड़ डालेंगे ? नहीं, उलटा उसका अहसान मानेंगे। मुंह धो-धाकर फिर उसमें चेहरा देखेंगे। इसी तरह यदि कर्मकी बदौलत हमारे मनका पाप-दोष बाहर आता है तो क्या इसलिए हम कर्म से बचना चाहेंगे ? कर्मसे ही यदि हम बचते रहें तो क्या उससे हमारा मन निर्मल हो जायगा। अतः कर्म करते रहें व निर्मल होनेका उत्तरोत्तर उद्योग करते रहें।

कोई मनुष्य जाकर गुफामें बैठ गया। वहां उसका किसीसे भी संपर्क नहीं होता। वह समझने लगता है कि अब मैं बिलकुल शांतमति हो गया ? परंतु गुफा छोड़कर उसे किसीके यहां भिक्षा मांगने जाने दीजिए। वहां कोई खिलाड़ी लड़का दरवाजेकी सांकल खटखटाता है। वह बालक तो उस नाद-ब्रह्म में तल्लीन हो जाता है, परंतु उस भोले-भाले बच्चेका वह सांकल बजाना उस योगीको सहन नहीं होता। वह कहता है—"बच्चेने क्या खट-खट लगा रखी है !" गुफामें रहकर उसने अपने मनको इतना कमजोर बना लिया है कि जरा-सा भी धक्का उसे सहन नहीं होता। जरा खट-खट आवाज आई कि बस, उसकी शांति रफूचक्कर होने लगी। मनकी ऐसी दुर्बल स्थिति अच्छी नहीं।

मतलब यह कि अपने मनका स्वरूप समझनेके लिए कर्म बड़े कामकी चीज है। जब दोष दिखाई देंगे तो वे दूर भी किये जा सकेंगे। यदि दोष मालूम ही न हों तो प्रगति रुकी, विकास खतम। कर्म करेंगे तो दोष दिखाई देंगे। उन्हें दूर करनेके लिए विकर्मकी तजवीज करनी पड़ती है। भीतर जब ऐसे विकर्मके प्रयत्न रात-दिन जारी रहने लगें तो फिर स्वधर्मका आचरण करते हुए भी अलिप्त कैसे रहें,

काम-क्रोधातीत, लोभ-मोहातीत कैसे रहें, यह बात समय पाकर समझमें आ जायगी। कर्मको निर्मल रखनेका सतत प्रयत्न होने लगा तो फिर, आगे चलकर निर्मल कर्म अपने-आप होने लगेगा। निर्विकार कर्म जब एकके बाद एक सहजतासे होने लगते हैं तो फिर सहसा यह पता भी नहीं लगता कि कर्म कब हो गया। जब कर्म सहज हो जाता है तो वह अकर्म हो जाता है। सहज कर्मको ही अकर्म कहते हैं, यह हमने चौथे अध्यायमें देख लिया है। 'कर्मका अकर्म' कैसे होता है, सो संत चरणोंम बैठनेसे मालूम होगा, यह भी भगवान्‌ने चौथे अध्यायके अख़ीरमें बता दिया है। इस अकर्म-स्थितिका वर्णन करनेके लिए वाणी अपर्याप्त है।

(१८)

कर्मकी सहजताको समझनेके लिए हम अपने परिचयका एक उदाहरण लें। छोटा बच्चा पहले चलना सीखता है। उस समय उसे कितनी तकलीफ होती है। किंतु हमें उसकी इस लीलासे आनंद होता है। हम कहते हैं, देखो लल्ला चलने लगा। परंतु पीछे वही चलना सहज हो जाता है। वह चलता भी रहता है, व बातचीत भी करता रहता है। चलनेकी ओर ध्यान भी नहीं रहता। यही बात खानेके संबंधमें। हम छोटे बच्चेको अन्नप्राशन कराते हैं, मानो खाना कोई बड़ा काम हो। परंतु पीछे वही खाना एक सहज कर्म हो जाता है। मनुष्य जब तैरना सीखता है तो कितना कष्ट होता है! पहले दम भर आता है, पर बादमें तो उलटे जब दूसरी मेहनतसे थक जाता है तो कहता है कि चलो, जरा तैर आवें तो थकान निकल जाय। अब वह तैरना कष्टकर नहीं मालूम होता। शरीर योंही सहज भावसे पानीपर तैरता रहता है। श्रमित होना मनका धर्म है। मन जब कर्मोंमें व्यस्त रहता है तो श्रम मालूम होता है, परंतु कर्म जब सहज होने लगते हैं तो फिर उनका बोझ नहीं मालूम होता। कर्म मानो अकर्म हो जाता है। कर्म आनंदमय हो जाता है।

कर्मको अकर्म कर देना हमारा ध्येय है, इसके लिए स्वधर्माचरण-रूपी कर्म करना है। उन्हें करते हुए दोष नजर आवेंगे, उन्हें दूर करनेके लिए विकर्मका पल्ला पकड़ना होगा। ऐसा अभ्यास करते रहनेसे

मनकी फिर ऐसी स्थिति हो जाती है कि कर्ममें त्रास या कष्ट बिलकुल नहीं मालूम होता। हजारों कर्म हाथोंसे होते रहनेपर भी मन निर्मल व शांत रहता है। आप आकाशसे पूछिये, "भाई आकाश, क्या तुम गरमीसे झुलस नहीं जाते, पानीसे भीग नहीं जाते? सर्दी से ठिठुर नहीं जाते?" तो वह क्या जवाब देगा ? वह कहेगा—"मुझे क्या कुछ होता है, इसका फैसला तुम करो, मैं कुछ नहीं जानता।"

"पागल नंगा है या पहने।
इसको लोग देखकर जाने॥"

पागल नंगा है या कपड़े पहने है, इसका फैसला लोग करें। पागलको इसका कुछ पता नहीं रहता।

इसका भावार्थ यही है कि स्वधर्माचरण-संबंधी कर्म, विकर्मकी सहायता से निर्विकार बनानेकी आदत होते-होते स्वाभाविक हो जाते हैं। बड़े-बड़े विकट अवसर भी फिर मुश्किल नहीं मालूम होते। कर्म-योगकी यह ऐसी कुंजी है। कुंजी न हो तो तालेको तोड़ते-तोड़ते हाथोंमें छाले हो जायंगे। परंतु कुंजी हाथ लग जानेपर पलभरमें सबकुछ खुल जायगा। कर्मयोगकी इस चाबीके कारण सब कर्म निरुपद्रवी मालूम होते हैं। यह कुंजी मनोजयसे मिलती है। अतः मनोजयका अविरत प्रयत्न होना चाहिए। कर्म करते हुए जो मनोबल दिखाई देंगे, उन्हें धो डालनेका प्रयत्न करना चाहिए। तो फिर बाह्य कर्मोंकी झंझट नहीं मालूम होती। कर्म का अहंकार ही मिट जाता है। काम-क्रोधके वेग नष्ट हो जाते हैं। क्लेशोंका अनुभवतक नहीं होता। कर्मका भी भान बाकी नहीं रहता।

एक बार मुझे एक भले आदमीने पत्र लिखा—"अमुक संख्या रामनामका जप करना है। तुम भी इसमें शरीक होओ और बताओ कि रोज कितना जप करोगे।" वह शख्स अपनी बुद्धिके अनुसार उद्योग कर रहा था। उसे बुरा कहने की दृष्टि से यह नहीं कह रहा हूं। परंतु राम-नाम कुछ गिनने या नापने की चीज नहीं है। मां बच्चेकी सेवा करती है तो क्या वह उसकी रिपोर्ट छपाने जाती है। यदि वह रिपोर्ट छपवाने लगी तो 'थैंक्यू' कहकर उसके ऋणसे बरी हो सकेंगे। परंतु माता रिपोर्ट नहीं लिखती। वह तो कहती है—"मैंने क्या किया ?

मैंने कुछ नहीं किया। यह क्या मेरे लिए कोई बोझ है ?" विकर्मकी सहायतासे मन लगाकर, हृदय उंडेलकर जब मनुष्य कर्म करता है, तब वह कर्म रहता ही नहीं, अकर्म हो जाता है। वहां क्लेश, कष्ट, अटपटा जैसा कुछ नहीं रहता।

इस स्थिति का वर्णन नहीं किया जा सकता। एक धुंधली-सी कल्पना कराई जा सकती है। सूर्य उगता है, पर उसके मनमें क्या कभी यह आता है कि मैं अंधेरा मिटाऊंगा, पंछियों को उड़नेकी प्रेरणा करूंगा, लोगोंको कर्म करनेमें प्रवृत्त करूंगा ? वह जहां उगता है, वहीं खड़ा रहता है। उसका अस्तित्वमात्र ही विश्वको गति देता है। परंतु सूर्यको उसका पता नहीं। आप यदि सूर्यसे कहेंगे—"हे सूर्यदेव, आपके अनंत उपकार हैं, आपने कितना अंधेरा दूर कर दिया।" तो वह चक्कर में पड़ जायगा। कहेगा, "जरा-सा अंधेरा लाकर मुझे दिखाओ। यदि उसे मैं दूर कर सका तो मैं कहूंगा कि यह मेरा कर्त्तव्य है।" क्या सूर्यके पास अंधेरा ले जाया जा सकेगा ? सूरज के अस्तित्वसे अंधकार दूर होता होगा, उसके प्रकाशमें कोई सद्ग्रंथ पढ़ता होगा तो कोई असद्ग्रंथ भी पढ़ लेगा, कोई आग लगा देगा तो कोई किसीका भला कर रहा होगा। परंतु इस पाप-पुण्य का जिम्मेदार सूर्य नहीं है। सूर्य कहता है—"प्रकाश मेरा सहज धर्म है। मेरे पास यदि प्रकाश न होगा तो फिर होगा क्या ? मैं जानता ही नहीं कि मैं प्रकाश दे रहा हूं। मेरा होना ही प्रकाश है। प्रकाश देने की क्रिया का कष्ट मैं नहीं जानता। मुझे नहीं प्रतीत होता कि मैं कुछ कर रहा हूं।"

सूर्यका यह प्रकाशदान जैसा स्वाभाविक है, वैसा ही हाल संतोंका है। उनका जीवित रहना ही मानो प्रकाश देना है। आप यदि किसी ज्ञानी मनुष्यसे कहें कि "आप महात्मा सत्यवादी हैं" तो वह कहेगा—"मैं यदि सत्यपर न चलूं तो करूंगा क्या ? मैं विशेष क्या करता हूं ?" ज्ञानी पुरुषमें असत्यता हो ही नहीं सकती।

अकर्मकी यह ऐसी भूमिका है। साधन इतने नैसर्गिक व स्वाभाविक हो जाते हैं कि उनका आना-जाना मालूम ही नहीं पड़ता। इंद्रियां उनकी महज आदी हो जाती हैं। 'सहज बोलना, हित उपदेश' वाली स्थिति हो जाती है। जब ऐसी स्थिति प्राप्त हो जाती है तब कर्म अकर्म

हो जाता है। ज्ञानी पुरुषके लिए सत्कर्म सहज हो जाते हैं। किलकिलाते रहना पंखियोंका सहज धर्म है। मांकी याद आना बच्चोंका सहज धर्म है। इसी तरह ईश्वरका स्मरण होना संतोंका सहज धर्म हो जाता है। सुबह होते ही 'कुकड़ू-कू' करना मुर्गेका सहज धर्म है। स्वरों का ज्ञान कराते हुए भगवान् पाणिनिने मुर्गे की बांग का उदाहरण दिया है। पाणिनिके समयसे आजतक मुर्गा सुबह बांग देता है ? पर क्या इसके लिए उसे किसीने मानपत्र अर्पण किया है ? मुर्गेका वह सहज धर्म है। उसी तरह सच बोलना, भूतमात्रके प्रति दया, किसीका ऐब--खामी-न देखना, सबकी सेवा-शुश्रूषा करना आदि सत्पुरुषोंके कर्म सहज रूपसे होते रहते हैं। उनके किए बिना वे जिंदा नहीं रह सकते। किसीने भोजन किया तो क्या हम उसका गौरव करते हैं ? खाना, पीना, सोना जैसे सांसारिकोंके सहज कर्म हैं, वैसे ही सेवा-कर्म ज्ञानियोंके लिए सहज कर्म हैं। उपकार करना उनका स्वभाव हो जाता है। वह यदि कहेगा कि मैं उपकार नहीं करूंगा तो यह असंभव है। ऐसे ज्ञानी पुरुषका वह कर्म अकर्म दशाको पहुंच गया है, ऐसा समझना चाहिए। इसी दशा को 'संन्यास' नामक अति पवित्र पदवी दी गई है। संन्यास यही परम धन्य अकर्म दशा है। इसी दशाको कर्मयोग भी कहना चाहिए। कर्म करता रहता है, अतः वह 'योग' है; परंतु करते हुए भी वह करता है ऐसा मालूम नहीं होता, इसीलिए वही 'संन्यास' है। वह कुछ ऐसी युक्तिसे कर्म करता है कि उसका लेप उसे नहीं लगता--इसलिए वह 'योग' ह, व करके भी कुछ नहीं किया, इसलिए वह 'संन्यास' है।

(१९)

'संन्यास'की आखिर कल्पना क्या है ? कुछ कर्म छोड़ना, कुछ कर्म करना, यह कल्पना ह क्या ? नहीं, ऐसी बात नहीं है। संन्यासकी व्याख्या ही है, "सब कर्मों को छोड़ना।" सब कर्मों से मुक्त होना, कर्म जरा भी न करना संन्यास है। परंतु कर्म न करनेका मतलब क्या ? कर्म बड़ी विचित्र वस्तु है। सर्व-कर्म-संन्यास होगा कैसे ? कर्म तो आगे-पीछे, अगल-बगल, सब ओर व्याप्त हो रहा है। अजी, बैठे तो भी क्रिया ही हुई न ? 'बैठना' यह क्रिया-पद है। केवल व्याकरणकी दृष्टि से ही वह क्रिया नहीं हुई, परंतु सृष्टि-शास्त्रमें भी 'बैठना' क्रिया ही है।

अर, सतत बैठे रहनेसे पैर दुखने लगते हैं। बैठनेमें भी श्रम तो है ही। जहां न करना भी कर्म सिद्ध होता है, वहां कर्म संन्यास होगा भी कैसे? भगवान्ने अर्जुनको विश्वरूप दिखलाया। वह सर्वत्र फैला हुआ विश्वरूप देखकर अर्जुन डर गया व घबराकर उसने आंखें मूंद लीं। परंतु आंखें मूंदकर देखा तो वह भीतर भी दिखाई देने लगा। अब आंखें मूंद लेनेपर भी जो दीखता है उससे कैसे बचा जाय? न करनेसे भी जो होता है, उसे कैसे टाला जाय?

एक शख्सकी बात है। उसके पास सोनेके बहुत बेश-कीमती गहने थे। वह उन्हें एक बड़ी संदूकमें बंद करके रखना चाहता था। नौकर एक खासा बड़ा-सा लोहे का संदूक बनवा लाया। उसे देखकर उस शख्स ने कहा—"तू कैसा बेवकूफ है रे! गंवार, तू सुंदरता-जैसी भी कोई चीज समझता है या नहीं? ऐसे बेश-कीमती जेवर रखना है तो क्या भद्दे मनहूस लोहे के संदूकमें रखे जायंगे? जा, अच्छा सोनेका संदूक बनाकर ला!" नौकर सोनेका संदूक बनवा लाया। "अब ताला भी सोनेका ही ले आओ। सोने के संदूक में सोनेका ही ताला फबेगा।" वह शख्स गया था जेवरको छिपाने, उसे ढांककर रखने, लेकिन वह सोना छिपा या खुला? चोरोंको जेवर खोजनेकी जरूरत ही नहीं रही। संदूक उड़ाया और काम बन गया। मतलब यह है कि कर्म न करना भी कर्म करनेका ही एक प्रकार हो जाता है। इतना व्यापक जो कर्म है, उसका संन्यास किया कैसे जाय?

ऐसे कामोंका संन्यास करनेकी रीति ही यह है कि ऐसी तरकीब साधी जाय जिससे दुनियाभरके कर्म करते हुए भी वे सब गलकर बह जायं। जब ऐसा हो सकेगा, तभी कह सकते हैं कि 'संन्यास-प्राप्ति' हुई। कर्म करके भी उन सबका 'गल-जाना' यह बात आखिर है कैसी? सूर्यके जैसी है। सूर्य रात-दिन कर्म कर रहा है। रातको भी वह कर्म करता ही है। उसका प्रकाश दूसरे गोलार्द्ध में काम करता रहता है। परंतु इतने कर्म करते हुए भी, ऐसा कहा जाता है कि वह कुछ भी नहीं करता। इसीलिए चौथे अध्याय में भगवान् कहते हैं—मैंने यह योग, पहले सूर्य को सिखाया? फिर सूर्य से विचार करनेवाले, मनन करनेवाले मनुने इसे सीखा। चौबीस घंटे कर्म करते हुए भी सूर्य लेशमात्र

कर्म नहीं करता । इसमें कोई संदेह नहीं कि यह स्थिति सचमुच अद्‌भुत है ।

(२०)

परंतु यह तो संन्यासका सिर्फ एक प्रकार हुआ । वह कर्म करके भी नहीं करता, यह उसकी स्थितिका एक पहलू हुआ । वह कुछ भी कर्म नहीं करता, फिर भी सारी दुनियाको कर्म करनेमें प्रवृत्त करता है, यह उसका दूसरा पहलू भी है । उसमें अपरंपार प्रेरक शक्ति है । अकर्मकी खूबी भी यही है । अकर्म में अनंत कार्यके लिए आवश्यक शक्ति भरी रहती है । भापका भी ऐसा ही है न ? भापको रोककर रखिये तो कितना प्रचंड कार्य करती है । उस रोकी हुई भापमें अपार शक्ति आ जाती है । वह बड़े-बड़े जहाज और रेलगाड़ियोंको बात-की-बातमें खींच ले जाती है । सूर्यकी भी ऐसी ही बात है । वह लेशमात्र भी कर्म नहीं करता, परंतु चौबीस घंटे लगातार काम करता है । उससे पूछेंगे तो वह कहेगा, "मैं कुछ नहीं करता ।" रात-दिन कर्म करते हुए न करना यह जैसे सूर्यका एक पहलू हुआ, वैसे ही कुछ न करते हुए रात-दिन अनंत कर्म करना, यह दूसरा पहलू हुआ । संन्यास इन दोनों प्रकारोंसे विभूषित है ।

दोनों असाधारण हैं । एक प्रकारमें कर्म प्रकट है व अकर्मावस्था गुप्त है । दूसरे प्रकारमें अकर्मावस्था प्रकट दिखाई देती है, परंतु उसकी बदौलत अनंत कर्म होते रहते हैं । इस अवस्थामें अकर्ममें कर्म लबालब भरा रहता है । इसलिए उससे प्रचंड कार्य होता है, ऐसी अवस्था को प्राप्त व्यक्तिमें व आलसी आदमीमें बड़ा अंतर है । आलसी मनुष्य थक जायगा, ऊब जायगा । लेकिन यह अकर्मी संन्यासी कर्म-शक्तिको रोक करके रखता है । लेशमात्र भी कर्म नहीं करता । वह हाथ-पांवसे किसी इंद्रियसे कोई कर्म नहीं करता । परंतु कुछ न करते हुए भी वह अनंत कर्म करता है ।

किसी मनुष्य को गुस्सा आ गया । यदि हमारी किसी भूलसे वह गुस्सा हुआ है तो हम उसके पास जाते हैं । वह चुप रहता है, बोलता नहीं । अब उसके अबोलका, उस कर्मत्यागका कितना प्रचंड परिणाम होता है । दूसरा बड़-बड़ बोलता चला जायगा । दोनों हैं तो गुस्सेमें

ही, परंतु एक चुप है, दूसरा बड़बड़ाता है। दोनों हैं गुस्सेके ही नमूने। न बोलना भी है तो क्रोधका ही एक रूप। उससे भी कार्य होता है। मां या बापने बच्चेसे बोलना बंद कर दिया तो उसका परिणाम कितना प्रचंड होता है। उस बोलनेके कर्मको छोड़ देनेसे, उस कर्मको न करनेसे ही इतना प्रचंड कर्म होता है कि प्रत्यक्ष कर्म करनेपर भी उसका उतना परिणाम नहीं हो सकता था। उस अबोलका जो प्रभाव हुआ, वह बोलनेसे नहीं हो सकता। ज्ञानी पुरुषों की ऐसी ही स्थिति होती है। उनका अकर्म ही, उनका खामोश बैठना ही प्रचंड कर्म करता है, प्रचंड सामर्थ्य उत्पन्न करता है। अकर्मी रहकर वह इतने कर्म करता है कि वे सब क्रिया के द्वारा प्रकट ही नहीं हो सकते। इस तरह यह संन्यासका दूसरा प्रकार है।

ऐसे संन्यासके सारे उद्योग, सारी मिहनत एक आसनपर आकर बैठ जाते हैं।

"उद्योगकी दौड़ बैठी है सुस्थिर।
प्रभु-पंखमें पड़ा गठरी जैसा॥
चिंता गई सारी, हुआ है भरोसा।
अब गर्भवास छूटा मेरा॥
अपनी सत्तासे हूं नहीं जीता।
यों अभिमान छीना प्रभुने॥
तुका कहे जीता एककी सत्तासे।
हूं मैं खोखला खोखा जैसे॥"

तुकाराम कहते हैं—"मैं अब खाली हो गया हूं। गठरी होकर पड़ा हूं। सब उद्योग खत्म हो गये।" तुकाराम खाली हो गये, परंतु उस खाली बोरे में प्रचंड प्रेरक शक्ति है। सूर्य स्वतः आवाज नहीं लगाता, परंतु उसके दीखते ही पंछी उड़ने लगते हैं, मेमने नाचने लगते हैं, गायें वनमें चरने जाती हैं, बनिया-महाजन दूकान खोलते हैं, किसान खेतपर जाते हैं, संसार के नाना व्यवहार शुरू हो जाते हैं। सूर्य बना रहे, यही काफी है। उतनेहीसे अनंत कर्म शुरू हो जाते हैं। इस अकर्मावस्था में अनंत कर्मों की प्रेरणा भरी रहती है, सामर्थ्य ठसाठस भरा रहता है। ऐसा यह संन्यास का दूसरा अद्‍भुत प्रकार है।

(२१)

पांचव अध्यायमें संन्यासके दो प्रकारोंकी तुलना की गई है। एक चौबीसों घंटे कर्म करके भी कुछ नहीं करता और दूसरा क्षणभर भी कुछ न करके सबकुछ करता है। एक बोलकर न बोलनेका प्रकार तो दूसरा न बोलकर बोलनेका प्रकार। इन दो प्रकारोंकी यहां तुलना की गई है। ये जो दिव्य प्रकार हैं, उनका अवलोकन करें, विचार करें, मनन करें, इसमें अपूर्व आनंद है।

यह विषय ही अपूर्व व उदात्त है। सचमुच ही संन्यासकी यह कल्पना बहुत ही पवित्र व भव्य है। जिस किसीने यह विचार—यह कल्पना—पहलेपहल खोज निकाली, उसे कितने धन्यवाद दिये जायं। यह बड़ी उज्ज्वल कल्पना है। मानवीय बुद्धिने, मानवीय विचारने अबतक जो ऊंची उड़ानें मारी हैं उन सबमें ऊंची उड़ान संन्यासतक पहुंची है। इससे आगे अभीतक कोई उड़ान न मार सका। उड़ान मारना तो जारी है, परंतु मैं नहीं कह सकता कि विचार और अनुभवमें इतनी ऊंची उड़ान किसीने मारी हो। इन दो प्रकारोंसे युक्त संन्यासकी कोरी कल्पना ही आंखोंके सामने आनेसे अपूर्व आनंद होता है। किंतु भाषा और व्यवहारके इस जगत्में जब आते हैं, तब वह आनंद कम हो जाता है। जान पड़ता ह, नीचे गिर रहे हैं। मैं अपने मित्रोंसे इसके विषयमें हमेशा कहता रहता हूं। आज कितने ही वर्षोंसे मैं इन दिव्य विचारोंका मनन कर रहा हूं। यहां भाषा अधूरी पड़ती है। शब्दोंकी कक्षामें यह आता ही नहीं।

न करके सबकुछ कर डाला व सबकुछ करके भी लेशमात्र नहीं किया—कितनी उदात्त, रसमय व काव्यमय यह कल्पना है ! अब काव्य और क्या बाकी रहा। जो कुछ काव्य के नामसे प्रसिद्ध है वह सब इस काव्यके आगे फीका है। इस कल्पनामें जो आनंद, जो उत्साह, जो स्फूर्ति व जो दिव्यता है, वह किसी भी काव्यमें नहीं। इस तरह यह पांचवां अध्याय ऊंची—बड़ी ऊंची—भूमिकापर प्रतिष्ठित किया गया है। चौथे अध्यायतक कर्म, विकर्म बता कर यहाँ खूब ही ऊंची उड़ान मारी है। यहां अकर्म दशाके दो प्रकारोंकी प्रत्यक्ष तुलना ही की है। यहां भाषा लड़खड़ाती है। कर्मयोगी श्रेष्ठ या कर्मसंन्यासी

श्रेष्ठ ? कर्म कौन ज्यादा करता है, यह कहा ही नहीं जा सकता। सब करके भी कुछ न करना व कुछ भी न करते हुए सब कुछ करना, ये दोनों योग ही हैं परन्तु तुलनाके लिए एकको योग कहा है, दूसरेको संन्यास।

(२२)

तो अब इनकी तुलना कैसे की जाय ? इसके लिए उदाहरणोंसे ही काम लेना पड़ेगा। जब उदाहरण देने जाते हैं तो प्रतीत होता है, मानो नीचे गिर रहे हैं। परंतु नीचे गिरना ही होगा। सच पूछिये तो, पूर्ण कर्म-संन्यास अथवा पूर्ण कर्म-योग, ये कल्पनाएं ऐसी हैं, जो इस शरीरमें नहीं समा सकतीं। वे इस देहको फोड़ डालेंगी। परंतु, जो महापुरुष इस कल्पनाके नजदीकतक पहुंच गये हैं, उनके उदाहरणसे हमें काम चलाना होगा। उदाहरण तो सदा अधूरे ही रहनेवाले हैं; परंतु थोड़ी देरके लिए यही मान लेना होगा कि वे पूर्ण हैं।

रेखागणितमें जैसा कहते हैं कि 'कल्पना करो' कि 'सा' 'रे' 'ग' एक त्रिकोण है। भला 'कल्पना' क्यों करें ? क्योंकि इस त्रिकोणकी रेखाएं यथार्थ रेखाएं नहीं हैं। रेखाकी तो व्याख्या ही यह है कि जिसमें लंबाई है, पर चौड़ाई नहीं। तख्तेपर बिना चौड़ाईके यह लंबाई दिखाई कैसे जाय ? लंबाई जहां खींची कि चौड़ाई आ ही जाती है। जो भी रेखा हम खींचेंगे, उसमें कुछ-न-कुछ चौड़ाई रहेगी ही। इसलिए भूमिति-शास्त्रमें रेखा 'मानें' बिना कामही नहीं चलता। भक्ति-शास्त्रमें भी ऐसी ही बात है। वहां भी भक्त कहता है —इस छोटी-सी शालग्रामकी बट्टीमें अखिल ब्रह्मांड है, यह 'मानो।' यदि कोई कहे—"यह क्या पागलपन है ?" तो उससे कहो—"तुम्हारा यह भूमिति क्या पागलपन है ? बिलकुल स्पष्टत: मोटी रेखा दिखाई पड़ती है और कहते हो कि इसे बिना चौड़ाईकी मानो, यह क्या पागलपन है ?" खुर्दबीन से देखोगे तो वह आधा इंच चौड़ी दिखाई देगी। जैसे तुम अपनी भूमितिमें मानते हो, वैसे ही भक्ति-शास्त्र कहता है कि—"मानो, इस शालग्राममें परमेश्वर मानो।" अब कोई यदि यह कहे कि "परमेश्वर न टूटता है, न फूटता। तुम्हारा यह शालग्राम तो टूट जायगा, लगाऊंगा एक चोट ?" तो यह समझदारी नहीं कही

जायगी; क्योंकि जब भूमितिमें 'मानो' चलता है तो फिर भक्ति-शास्त्रमें क्यों न चलना चाहिए ? बिंदुको कहते हैं 'मानो' और तख्तेपर बिंदु (प्रत्यक्ष) निकालते हैं। बिंदु भी क्या, एक खासा वर्तुल होता है। बिंदुकी व्याख्या यानी ब्रह्मकी ही व्याख्या है। बिंदुकी न लंबाई, न चौड़ाई, न मोटाई—कुछ भी नहीं। किंतु व्याख्या तो ऐसी करते हैं व फिर उसे तख्तेपर बनाकर दिखाते हैं। पर बिंदु तो वास्तवमें अस्तित्वमात्र है, त्रि-परिमाण-रहित है। मतलब यह कि सच्चा त्रिकोण, सच्चा बिंदु व्याख्यामें ही रहता है, परंतु हमको उसे मानकर चलना पड़ता है। भक्ति-शास्त्रमें भी शालग्राममें न टूटने-फूटनेवाला सर्वव्यापी परमेश्वर मानना पड़ता है। हम भी ऐसे ही काल्पनिक दृष्टांत लेकर इनकी तुलना करेंगे।

मीमांसकोंने तो एक बड़ा मजा ही किया है। परमेश्वर कहां है—इसकी मीमांसा करते हुए उन्होंने बड़ा सुंदर विवरण किया है। वेदोंमें इंद्र, अग्नि, वरुण आदि देवता हैं। इन देवताओंका विचार मीमांसामें करते हुए एक ऐसा प्रश्न पूछा जाता है—"यह इंद्र कैसा है? इसका रूप कैसा है ? यह रहता कहां है ?" मीमांसक उत्तर देते हैं—'इंद्र' शब्द ही इंद्रका रूप है। 'इंद्र' शब्दमें ही वह रहता है। 'इ' व उस पर 'अनुस्वार,' फिर 'द्र'—यही उसका स्वरूप है। वही उसकी मूर्त्ति, वही परिमाण। वरुण देवता कसे ? वैसे ही। पहले 'व', फिर 'रु,' फिर 'ण'। व रु ण—यह वरुणका रूप। इसी तरह अग्नि आदि देवताओंके विषयमें समझिए। ये सारे देवता अक्षर-रूपधारी हैं। देवता सब अक्षर-मूर्त्ति हैं, इस कल्पनामें—इस विचारमें—बड़ी मिठास है। देवकी कल्पना—देव वस्तु किसी आकारमें न समाने जैसी है। उस कल्पनाको प्रदर्शित करनेके लिए अक्षर यही एक चिह्न काफी होगा। ईश्वर कैसा है? तो पहले 'ई', फिर 'श्व', फिर 'र'। आखिरमें 'ॐ' ने तो कमाल ही कर डाला। 'ॐ' अक्षर ही ईश्वर हो गया। ईश्वरके लिए वह एक संज्ञा ही बन गया। ऐसी संज्ञाएं बनानी पड़ती हैं; क्योंकि मूर्त्तिमें—आकारमें—ये विशाल कल्पनाएं समा ही नहीं सकतीं; परंतु मनुष्यकी इच्छा बड़ी जबरदस्त होती है। वह इन कल्प-नाओंको मूर्त्तिमें प्रविष्ट करनेका प्रयत्न किये बिना रहता ही नहीं।

(२३)

संन्यास व योग, ये बहुत ऊंची उड़ानें हैं। पूर्ण संन्यास व पूर्ण योग-की कल्पना इस देहमें नहीं समा सकती। भले ही देहमें ये ध्येय न समा सकें तो भी विचारमें जरूर समा जाते हैं। पूर्ण योगी और पूर्ण संन्यासी तो व्याख्यामें ही रहनेवाले हैं। ध्येयभूत और अप्राप्य ही रहेंगे, परंतु उदाहरणके तौरपर ऐसे व्यक्ति लेने होंगे, जो इन कल्पनाओंके अधिक-से-अधिक नजदीक पहुंच पाये होंगे। और फिर भूमितिकी तरह कहना होगा कि 'इसे पूर्ण योगी और इसे पूर्ण संन्यासी' समझो। संन्यासका उदाहरण देते समय शुक, याज्ञवल्क्यके नाम लिये जाते हैं। इधर कर्मयोगीके रूपमें जनक और श्रीकृष्णका नाम खुद भगवद्गीतामें ही लिया गया है। लोकमान्यने 'गीता-रहस्य' में एक नामावली ही दे दी है। "जनक, श्रीकृष्ण आदि इस मार्गसे गये, शुक, याज्ञवल्क्य आदि उस मार्गसे गये।" परंतु थोड़ा विचार करनेसे यह फेहरिस्त, लिखा हुआ, भीगे हाथसे जिस तरह मिटाया जाता है, उस तरह, मिटा दी जायगी। याज्ञवल्क्य संन्यासी थे, जनक कर्मयोगी थे। यानी संन्यासी याज्ञवल्क्यके कर्मयोगी जनक शिष्य थे, लेकिन उसी जनकके शिष्य शुकदेव संन्यासी हुए। याज्ञवल्क्यके शिष्य जनक और जनकके शिष्य शुक। संन्यासी, फिर कर्मयोगी, फिर संन्यासी—ऐसी यह मालिका बनती है। इस तरह योग और संन्यास एक ही परंपरामें आ जाते हैं।

शुकदवसे व्यासने कहा—"बेटा शुक, तुम ज्ञानी तो हो, परंतु गुरुकी मोहर (छाप) अभी तुमपर नहीं लगी। इसलिए तुम जनकके पास जाओ।" शुकदेव चले। जनक तीसरे मंजिलपर अपने विशाल भवनमें बैठे थे। शुक थे वनवासी। नगर देखते-देखते चले। जनकने शुक-देवसे पूछा—"क्यों आये ?" शुकने कहा—"ज्ञान पानेके लिए।" "किसने भेजा?" "व्यासदेवने।" "कहांसे आये?" "आश्रमसे।" "आते हुए यहां बाजार में क्या-क्या देखा?" "चारों तरफ शकरकी एक ही मिठाई सजी हुई दिखाई दी।" "और क्या देखा ?" "चलते-बोलते शकरके पुतले देखे।" "फिर क्या देखा ?" "यहां आते हुए शकरकी सख्त सीढ़ियां मिलीं।" "फिर क्या मिला ?" "शकरके चित्र यहां

भी सर्वत्र देखे।" "अब क्या दीख रहा है ?" "एक शकरका पुतला दूसरे शकरके पुतलेसे बात कर रहा है।" जनकने कहा, "जाओ, तुमको सब ज्ञान मिल चुका।" शुकदेवको जनकसे उनके दस्तखतका जो प्रमाणपत्र चाहिए था, वह मिल गया। मुद्दा यह कि कर्मयोगी जनकने संन्यासी शुकदेवको शिष्यके रूपमें पास किया। शुक तो संन्यासी ही थे, परन्तु प्रसंग कैसा मजेदार है!

परीक्षितको शाप मिला—सात दिनमें तुम्हारी मौत आ जायगी। परीक्षितको मरनेकी तैयारी करनी थी। उसे ऐसा गुरु चाहिए था, जो यह सिखाये कि मरे कैसे। उसने शुकाचार्यको बुलाया। शुकाचार्य जो आकर बैठे तो २४×७=१६८ घंटे पल्थी मारकर भागवत सुनाते रहे। जो आसन जमाया तो फिर छोड़ा ही नहीं। एक-सी कथा कहते ही रहे। 'तो इसमें कौन बड़ी बात है ?' बड़ी बात यह कि सतत सात दिनतक उनको भारी श्रम करना पड़ा, फिर भी वह उन्हें कुछ नहीं मालूम हुआ। सतत कर्म करते रहकर भी मानो वे कर्म कर ही नहीं रहे थे। श्रमकी भावना ही वहां नहीं थी। सार यह कि संन्यास और कर्मयोग, ये दोनों भिन्न हैं ही नहीं।

इसलिए भगवान् कहते हैं—

"एकं साख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति।"

संन्यास और योगमें जो एकरूपता देखेगा, कहना होगा कि उसीने वास्तविक रहस्य समझा है। एक न करके करता है और दूसरा करके भी नहीं करता। जो सचमुच श्रेष्ठ संन्यासी है, जिसकी सदैव समाधि लगी रहती है, जो बिलकुल निर्विकार है, ऐसा संन्यासी पुरुष दस दिन हमारे-आपके बीचमें आकर रहने दो। कितना प्रकाश, कितनी स्फूर्ति उससे मिलेगी! अनेक वर्षोंतक कामका ढेर लगाकर भी जो नहीं हुआ वह केवल उसके दर्शनसे—अस्तित्वमात्रसे हो जायगा। फोटो देखकर यदि मनमें पावनता उत्पन्न होती है, मृत लोगोंके चित्रोंसे यदि भक्ति, प्रेम, पवित्रता हृदयमें उत्पन्न होती है, तो जीवित संन्यासीको देखनेसे कितनी प्रेरणा प्राप्त होगी ? संन्यासी और योगी, दोनों लोक-संग्रह करते हैं। एक जगह यदि बाहरसे कर्मत्याग दिखाई दिया तो भी उस कर्मत्यागमें कर्म लबालब भरा हुआ है। उसमें अनंत स्फूर्ति

भरी हुई है। ज्ञानी संन्यासी और ज्ञानी कर्मयोगी दोनों एक ही सिंहासन पर बैठनेवाले हैं। संज्ञा भिन्न-भिन्न होनेपर भी अर्थ एक ही है। एक ही तत्त्वके ये दोनों पहलू या प्रकार हैं। यंत्र जब वेगसे घूमता है तो वह ऐसा दिखाई देता है, मानो स्थिर है, घूम नहीं रहा है। संन्यासीकी भी स्थिति ऐसी ही होती है। उसकी शांतिमेंसे, स्थिरतामेंसे, अनंत शक्ति, अपार प्रेरणा निकलती है। महावीर, बुद्ध, निवृत्तिनाथ ऐसी ही विभूतियां थीं। संन्यासीके तमाम उद्योगोंकी दौड़ एक आसनपर आकर स्थिर हो जाय तो भी वह प्रचंड कर्म करता है। मतलब यह कि योगी ही संन्यासी है और संन्यासी ही योगी है। दोनोंमें कुछ भी भेद नहीं है। शब्द अलग-अलग हैं, पर अर्थ एक ही है। पत्थरके मानी पाषाण और पाषाणके मानी पत्थर जैसे हैं, वैसेही कर्मयोगीके मानी संन्यासी और संन्यासीके मानी कर्मयोगी हैं।

(२४)

बात यद्यपि ऐसी है तो भी भगवान्‌ने एक तुर्रा लगा रखा है। भगवान् कहते हैं—संन्याससे कर्मयोग श्रेष्ठ है। जब दोनों ही एकसे हैं तो फिर भगवान् ऐसा क्यों कहते हैं? यह फिर क्या दिल्लगी है? जब भगवान् कहते हैं कि कर्मयोग श्रेष्ठ है तब वह साधककी दृष्टिसे कहते हैं। बिलकुल कर्म न करते हुए सब कर्म करनेकी विधि एक सिद्धके लिए शक्य है, साधकके लिए नहीं। परंतु सब कर्म करके भी कुछ न करना, इस तरीकेका थोड़ा-बहुत अनुकरण किया जा सकता है। एक विधि ऐसी है जो साधकके लिए शक्य नहीं, सिर्फ सिद्धके ही लिए शक्य है। दूसरी ऐसी है जो साधकके लिए भी थोड़ी-बहुत शक्य है। बिलकुल कर्म न करते हुए कर्म कैसे करना, यह साधकके लिए एक पहेली ही रहेगी। यह उसकी समझमें नहीं आ सकता। कर्मयोग साधकके लिए एक मार्ग भी है व मुकाम—पड़ाव—भी है, परंतु संन्यास तो आखिरी मंजिलपर ही है, मार्गमें नहीं है। इसी कारण संन्यासकी अपेक्षा कर्मयोगी साधककी दृष्टिसे श्रेष्ठ है।

इसी न्यायसे भगवान्‌ने आगे बारहवें अध्यायमें निर्गुणकी अपेक्षा सगुणको विशेष माना है। सगुणमें सब इंद्रियोंके लिए काम है, निर्गुणमें ऐसा नहीं है। निर्गुणमें हाथ बेकार, पांव बेकार, आंखें बेकार—सब

इंद्रियां कर्म-शून्य ही रहती हैं। साधकसे यह सब नहीं सध सकता। परंतु सगुण में ऐसी बात नहीं है। आंखोंसे रूप देख सकते हैं, कानोंसे कीर्त्तन सुन सकते हैं, हाथसे पूजा कर सकते हैं, लोगोंकी सेवाकी जा सकती है, पांवसे तीर्थयात्रा होती है—इस तरह सब इंद्रियोंको काम देकर उनसे वैसा-वैसा काम कराते हुए धीरे-धीरे उन्हें हरिमय बना देना सगुणमें शक्य रहता है परंतु निर्गुणमें यह सब बंद—जीभ बंद, कान बंद, हाथ-पैर बंद। यह सारा 'बंदी' प्रकार देखकर बेचारा साधक घबरा जाता है! उसके चित्तमें निर्गुण बैठेगा कैसे? वह यदि खामोश बठा रहेगा तो उसके चित्तमें अंटशंट विचार आने लगेंगे। इंद्रियोंका यह स्वभाव ही है कि उन्हें कहते हैं कि न करो तो वे जरूर करेंगी। विज्ञापनोंमें क्या ऐसा नहीं होता? ऊपर लिखते हैं 'मत पढ़ो।' तो पाठक मनमें कहता है कि यह जो न पढ़नेको लिखा है, तो पहले इसीको पढ़ो न! 'मत पढ़ो' कहना इसी उद्देश्यसे होता है कि पाठक उसे जरूर पढ़े। मनुष्य अवश्य ही उसे जतनसे पढ़ता है। निर्गुणमें मन भटकता रहेगा। सगुण भक्तिकी बात ऐसी नहीं। वहां आरती है, पूजा है, सेवा है, भूत-दया है, इंद्रियोंके लिए वहां काम है। इन इंद्रियों को ठीक काममें लगाकर फिर मनसे कहो, "अब जाओ जहां जी चाहे।" परंतु तब मन नहीं जानेका। वहीं रम रहेगा, अनजाने ही एकाग्र हो जायगा। परंतु यदि उसे जानबूझकर एक स्थानपर बैठाना चाहोगे तो वह भाग ही छूटेगा। भिन्न-भिन्न इंद्रियोंको उत्तम, सुंदर, काममें लगा दो, फिर मनको खुशीसे भटकने के लिए कह दो। वह नहीं भटकेगा। उसे जानेकी बिलकुल छुट्टी दे दो तो वह कहेगा—"लो, मैं यहीं बैठ गया।" यदि उसे हुक्म दिया कि "चुप बैठो" तो कहेगा "मैं यह चला।"

देहधारी मनुष्यके लिए सुलभताकी दृष्टिसे निर्गुणकी बनिस्बत सगुण श्रेष्ठ है। कर्म करते रहते भी उसे उड़ा देनेकी युक्ति कर्म न करते हुए कर्म करनेकी अपेक्षा श्रेष्ठ है; क्योंकि उसमें आसानी होती है। कर्मयोगमें प्रयत्न—अभ्यासके लिए जगह है। सब इंद्रियोंको अपने अधीन बनाकर धीरे-धीरे सब उद्योगोंसे मन हटा लेनेका अभ्यास कर्मयोगमें किया जा सकता है। यह तरकीब आज न सधी तो भी सधने जैसी है। कर्मयोग अनुकरण-सुलभ है, यही संन्यासकी अपेक्षा

उसकी विशेषता है; परंतु पूर्णावस्थामें कर्मयोग व संन्यास दोनों एक ही हैं। पूर्ण संन्यास व पूर्ण कर्मयोग दोनों एक ही हैं। नाम दो हैं, देखनेमें अलग-अलग हैं, परंतु असलमें दोनों हैं एक ही। एक प्रकारमें कर्मका भूत बाहर नाचता हुआ दिखाई देता है, परंतु भीतर शांति है। दूसरे प्रकारमें कुछ न करते हुए त्रिभुवन को हिला डालनेकी शक्ति है। जो दीख पड़ता है वह नहीं है—यह दोनोंके स्वरूप हैं। पूर्ण कर्मयोग संन्यास है तो पूर्ण संन्यास कर्मयोग है। कोई भेद नहीं, परंतु साधकके लिए कर्मयोग सुलभ है। पूर्णावस्थामें दोनों एक ही हैं।

ज्ञानदेवको चांगदेवने एक पत्र भेजा। वह सिर्फ कोरे कागजका पत्र था। चांगदेवसे ज्ञानदेव उम्रमें छोटे थे। 'चिरंजीव' लिखते हैं तो ज्ञानदेव ज्ञानमें श्रेष्ठ थे। 'पूज्य' लिखें तो उम्रमें कम थे। तब सिरनामा क्या लिखें? यह कुछ तय नहीं हो पाता था। अतः चांगदेवने कोरा कागज ही भेज दिया। वह पहले निवृत्तिनाथके हाथमें पड़ा। उन्होंने उसे पढ़कर ज्ञानदेवको दे दिया। ज्ञानदेवने पढ़ा व मुक्ताबाईको दे दिया। मुक्ताबाईने पढ़कर कहा—"चांगदेव, इतना बड़ा हो गया है, पर है अभी कोरा-का-कोरा ही।" निवृत्तिनाथने और ही अर्थ पढ़ा था। उन्होंने कहा—"चांगदेव कोरे हैं, शुद्ध हैं, निर्मल हैं, उपदेश देनेके योग्य हैं।" फिर ज्ञानदेवसे पत्रका जवाब देनेके लिए कहा। ज्ञानदेवने ६५ ओवियों[१] का पत्र भेजा। उसे 'ज्ञानदेव पासष्ठी' कहते हैं। इस पत्रकी ऐसी मनोरंजक कथा है। लिखा हुआ पढ़ना सरल है, परंतु न लिखा हुआ पढ़ना कठिन है। उसका पढ़ना कभी खतम नहीं होता। इसी तरह संन्यासी रीता-कोरा दिखाई दिया तो भी उसमें अपरंपार कर्म भरा रहता है।

संन्यास व कर्मयोग—पूर्ण रूपमें दोनोंकी कीमत एक-सी है; परंतु कर्मयोगकी व्यावहारिक कीमत और ज्यादा है। किसी एक नोट की कीमत पांच रुपये है। सोनेका सिक्का भी पांच रुपये का होता है। जबतक सरकार स्थिर है तबतक दोनोंकी कीमत एक-सी है, परंतु यदि सरकार बदल गई तो फिर व्यवहारमें उस नोटकी कीमत

---

१ एक प्रचलित मराठी छंद।

एक पाई भी नहीं रहती। मगर सोनेके सिक्केकी कीमत जरूर कुछ-न-कुछ मिल जायगी; क्योंकि आखिर वह सोना है। पूर्णावस्थामें कर्म-त्याग व कर्मयोग दोनोंकी कीमत एक-सी है; क्योंकि ज्ञान दोनोंमें समान है। ज्ञानकी कीमत अनंत है। अनंतमें कुछ मिलाओ तो कीमत अनंत ही रहती है, गणितशास्त्रका यह सिद्धांत है। कर्म-त्याग व कर्मयोग जब परिपूर्ण ज्ञानमें मिल जाते हैं तो दोनों की कीमत बराबर हो जाती है; परंतु ज्ञानको यदि दोनों ओर से हटा लिया तो फिर कर्म-त्यागकी अपेक्षा कर्मयोग ही साधकके लिए श्रेष्ठ सिद्ध होगा। ठोस, शुद्ध ज्ञान दोनों ओर लिया जाय तो कीमत एक-सी है। मंजिलपर पहुंच जानेपर ज्ञान+कर्म=ज्ञान+कर्माभाव। परंतु ज्ञानको दोनों ओरसे घटा दीजिए तो फिर कर्मके अभावकी अपेक्षा कर्म ही साधकके लिए श्रेष्ठ ठहरेगा। न करके करना साधककी समझमें ही नहीं आ सकता। करके न करना वह समझ सकता है। कर्मयोग मार्गमें भी है और मुकामपर भी है; परंतु संन्यास सिर्फ मुकामपर ही है, मार्गमें नहीं। यदि यही बात शास्त्रकी भाषामें कहनी हो तो कर्मयोग साधन भी है व निष्ठा भी है; परंतु संन्यास सिर्फ निष्ठा है। निष्ठाका अर्थ है, अंतिम अवस्था।

रविवार, २०-३-३२

छठा अध्याय

(२५)

पांचवें अध्यायमें हम कल्पना और विचारके द्वारा देख सके कि मनुष्य ऊंची-से-ऊंची उड़ान कहांतक मार सकता है। कर्म, विकर्म, अकर्म मिलकर सारी साधना पूर्ण होती है। कर्म स्थूल वस्तु है। जो-जो स्वधर्म-कर्म हम करें उनमें हमारे मनका सहयोग होना चाहिए। मानसिक शिक्षणके लिए जो कर्म किया जाय वह विकर्म, विशेष कर्म, अथवा सूक्ष्म कर्म है। जरूरत कर्म और विकर्म दोनों की है। इन दोनोंका प्रयोग करते-करते अकर्मकी भूमिका तैयार होती है। हमने पिछले अध्यायमें देख लिया कि इस भूमिकामें कर्म व संन्यास, दोनों एक-रूप ही हो जाते हैं। अब छठे अध्यायके आरंभमें फिर कहा है कि कर्मयोगीकी भूमिका संन्यासीकी भूमिकासे अलग दिखाई देनेपर भी अक्षरशः एक-रूप है। सिर्फ दृष्टि का फर्क है। पांचवें अध्यायमें जिस अवस्थाका वर्णन किया गया है, उसके साधन खोजना यह बादके अध्यायोंका विषय है।

कई लोगोंकी ऐसी एक भ्रामक कल्पना है कि परमार्थ, गीता आदि ग्रंथ, साधुओंके लिए हैं। एक सज्जनने कहा—"मैं कोई साधु नहीं हूं।" इसका अर्थ यह हुआ कि साधु नामके कोई जीव हैं, जिनमेंसे वे सज्जन नहीं हैं। जैसे घोड़े, सिंह, भालू, गाय आदि प्राणी हैं, वैसे ही साधु नामके भी कोई जीव हैं और परमार्थकी कल्पना सिर्फ उन्हींके लिए है। शेष जो व्यावहारिक जगत्में रहते हैं, वे मानो किसी और जातिके हैं। उनके विचार अलग, आचार अलग! इस कल्पनाने साधु-संत और व्यावहारिक लोग, ऐसी दो अलग-अलग जातियां बना दी हैं। 'गीता-रहस्य' में तिलक महाराजने इस बातकी ओर ध्यान खींचा है। गीताग्रंथ सर्वसाधारण व्यावहारिक लोगोंके लिए है, उनका यह कथन मैं अक्षरशः सही मानता हूं। भगवद्गीता सारे संसारके

लिए है। परमार्थ-विषयक समस्त साधन प्रत्येक व्यावहारिक मनुष्यके लिए है। परमार्थ सिखाता है कि अपना व्यवहार शुद्ध और निर्मल रखकर मनका समाधान और शांति कैसे प्राप्त की जाय? व्यवहार शुद्ध कैसे किया जाय—यह बतानेके लिए गीता है। जहां-जहां तुम व्यवहार करते हो, वहां-वहां गीता आती है। परंतु वहां वह आपको रखना नहीं चाहती। आपका हाथ पकड़कर वह अंतिम मंजिलतक आपको ले जायगी। एक मशहूर कहावत है न कि 'पर्वत यदि मुहम्मद के पास न आवे तो मुहम्मद पर्वतके पास जायगा।' मुहम्मदको यह चिंता है कि मेरा संदेश जड़ पर्वततक भीपहुंचे। पर्वत जड़ है, इसलिए मुहम्मद उसके आनेकी बाट नहीं जोहता रहेगा। यही बात गीता-ग्रंथकी है। कैसा ही दीनदुर्बल हो, गंवार हो, गीता उसके पास पहुंच जायगी। परंतु इसलिए नहीं कि उसे जहां-का-तहां रख दे, बल्कि इसलिए कि उसे हाथ पकड़कर आगे ले जाय, ऊपर उठावे। गीता चाहती है कि मनुष्य अपना व्यवहार शुद्ध करके परमोच्च स्थितिको प्राप्त करे। इसीके लिए गीताका जन्म हुआ है।

अतएव "मैं जड़ हूं, व्यवहारी हूं, सांसारिक जीव हूं"—ऐसा कहकर अपने आस-पास बाड़ मत लगाओ। मत कहो कि "मेरे हाथोंसे क्या होगा? इस साढ़े तीन हाथके शरीरमें ही मेरा सारसर्वस्व है।" ऐसी बंधनोंकी दीवारें अपने आस-पास खड़ी करके पशुवत् व्यवहार मत करो। तुम तो आगे बढ़नेकी—ऊपर चढ़नेकी हिम्मत रखो।

"उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्"

ऐसी हिम्मत रखो कि मैं अपनेको अवश्य ऊपर चढ़ा ले जाऊंगा। यह मानकर कि मैं क्षुद्र सांसारिक जीव हूं मनकी शक्तिको मार मत डालो। कल्पनाके पंख काट मत डालो। अपनी कल्पनाको विशाल बनाओ। चंडूलका उदाहरण अपने सामने रखो। प्रातःकाल सूर्यको देखकर चंडूल कहता है कि मैं सूर्यतक उड़ जाऊंगा। वैसा हमें बनना चाहिए। अपने दुर्बल पंखोंसे चंडूल बेचारा कितना ही ऊंचा उड़े तो भी वह सूर्यतक कैसे पहुंचेगा? परंतु अपनी कल्पना-शक्तिद्वारा वह जरूर सूर्यको पा सकता है। हमारा आचरण इससे उलटा होता है। हम जितने ऊंचे जा सकते थे, उतने भी न जाकर अपनी कल्पना और

भावनाओंपर रुकावटें डाल अपनेको और नीचे गिरा लेते हैं। जो शक्ति प्राप्त है, उसे भी अपनी हीन-भावनासे नष्ट कर लेते हैं। जहां कल्पनाके ही पांव टूट गये तो फिर नीचे गिरनेके सिवाय क्या गति होगी? अतः कल्पनाका रुख हमेशा ऊपरकी ओर होना चाहिए। कल्पनाकी सहायतासे मनुष्य आगे बढ़ता है, अतः कल्पनाको सिकोड़ मत डालो।

"स्थूल मार्गको तजो नहीं।
पड़े जगतमें रहो, न इत-उत भटको भैय्या व्यर्थ कहीं।"

ऐसा रोना मत रोते रहो। आत्माका अपमान मत कर लो। साधकके पास यदि विशाल कल्पना होगी, आत्म-विश्वास होगा तो ही वह टिक सकेगा। इसी से उद्धार होगा। परंतु धर्म तो साधु-संतोंके लिए ही है, साधु-संतोंके पास गये भी तो यह प्रशस्ति-पत्र लेनेके लिए कि 'तुम जिस स्थितिमें हो' उसमें यही व्यवहार उचित है, इस किस्मके खयाल छोड़ दो। ऐसी भेदात्मक कल्पनाएं करके अपने को बंधनमें मत डालो। यदि उच्च आकांक्षा नहीं रखेंगे तो एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सकोगे।

यह दृष्टि, यह आकांक्षा, यह महान् भावना, यदि हो तब तो साधनोंका जोड़-तोड़ आवश्यक है, नहीं तो फिर सारा किस्सा ही खतम। बाह्य कर्मकी सहायताके लिए मानसिक साधनरूपी विकर्म बताया है। कर्मकी मददके लिए विकर्म निरंतर चाहिए। इन दोनोंकी सहायतासे अकर्म नामक जो दिव्य स्थिति प्राप्त होती है, वह और उसके प्रकार पांचवें अध्यायमें देखें। इस छठे अध्यायसे विकर्मके प्रकार बताये गये हैं। मानसिक साधना बताई गई है। इस मानसिक साधनाको समझानेसे पहले गीता कहती है—

"भैय्या जीव, तुम देव हो सकते हो। तुम यह दिव्य आकांक्षा रखो। मनको मुक्त बनाकर उसके पंखोंको सुदृढ़ बनाओ।" साधनाके—विकर्मके—भिन्न-भिन्न प्रकार हैं। भक्ति-योग, ध्यान, ज्ञान-विज्ञान, गुण-विकास, आत्मानात्म-विवेक आदि नाना प्रकार हैं।

छठे अध्यायमें ध्यान-योगनामक साधन-प्रकार बताया गया है।

(२६)

ध्यान-योगमें तीन बातें मुख्य हैं—(१) चित्तकी एकाग्रता,

(२) चित्तकी एकाग्रताके लिए उपयुक्त जीवनकी परिमितता और (३) साम्यदशा या सम-दृष्टि। इन तीन बातों के बिना वास्तविक साधना नहीं हो सकती। चित्तकी एकाग्रताका अर्थ है, चित्तकी चंचलता-पर अंकुश। जीवनकी परिमितताका अर्थ है, सब क्रियाओंका नाप-तौल कर होना। समदृष्टिका अर्थ है, विश्वकी ओर देखनेकी उदार दृष्टि। इन तीन बातोंको लेकर ध्यानयोग बन जाता है। इन तीन साधनोंके भी फिर और साधन हैं। वे हैं अभ्यास और वैराग्य। इन पांचों बातों की थोड़ी-सी चर्चा हम यहां करें।

पहले चित्तकी एकाग्रताको लीजिए। प्रत्येक काममें चित्तकी एकाग्रता आवश्यक है। व्यावहारिक बातोंमें भी चित्तकी एकाग्रता चाहिए। यह बात नहीं कि व्यवहार में अलग गुणोंकी जरूरत है और परमार्थमें अलग। व्यवहारको शुद्ध करनेका ही अर्थ है, परमार्थ। कैसा भी व्यवहार हो, उसका यशापयश, सफलता-विफलता आपकी एकाग्रतापर अवलंबित है। व्यापार, व्यवहार, शास्त्र-शोधन, राजनीति, कूटनीति किसीको ले लीजिए, इनमें जो कुछ यश मिलेगा, वह उन पुरुषोंके चित्तकी एकाग्रताके अनुसार मिलेगा। नेपोलियनके लिए कहा जाता है कि युद्धकी व्यवस्था जहां एक बार ठीक-ठीक लगा दी कि फिर समर-भूमिमें वह गणितके सिद्धांत हल किया करता था। डेरों-तंबुओंपर गोले बरसते, सैनिक मरते, परंतु नेपोलियनका चित्त अपने गणितमें ही मग्न रहता। मैं यह नहीं कहता कि नेपोलियनकी एकाग्रता बहुत बढ़ी हुई थी। उससे भी ऊंचे दरजेकी एकाग्रताके उदाहरण दिये जा सकेंगे, परंतु एकाग्रता उसके पास कितनी थी यह देखो। खलीफा उमरकी भी ऐसी ही बात कही जाती है। बीच लड़ाईमें जब नमाजका समय हो जाता, तो वह वहीं समरभूमिमें चित्त एकाग्र करके घुटने टेककर नमाज पढ़ने लगता और उसका चित्त इतना एकाग्र हो जाता कि उसे यह होश भी नहीं रहता कि किसके आदमी कट-मर रहे हैं। शुरूके मुसलमानोंकी इस परमेश्वर निष्ठाकी ही बदौलत, इस एकाग्रताकी ही बदौलत, इस्लाम-धर्म इतना फैला था।

उस दिन मैंने एक कहानी सुनी। एक फकीर था। उसके शरीरमें तीर चुभ गया। इससे उसे बड़ी वेदना हो रही थी। तीर खींचनेकी

कोशिश करते तो वेदना और बढ़ जाती थी। इससे वह तीर भी नहीं खींचा जा सकता था। क्लोरोफार्म जैसी बेहोश करनेकी दवा उस समय थी नहीं। बड़ी समस्या खड़ी हो गई। कुछ लोग उस फकीरको जानते थे। वे आगे बढ़कर बोले—"तीर अभी मत निकालो। यह नमाज पढ़ने बैठेगा तब निकाल लेंगे।" शामकी नमाजका वक्त हुआ। फकीर नमाज पढ़ने लगा। पलभरमें ही उसका चित्त इतना एकाग्र हो गया कि तीर उसके बदनसे निकाल लिया गया तो भी मालूम नहीं हुआ। कैसी जबरदस्त है यह एकाग्रता।

सारांश यह व्यवहार हो या परमार्थ, चित्तकी एकाग्रताके बिना उसमें सफलता मिलनी कठिन है। यदि चित्त एकाग्र रहेगा तो फिर सामर्थ्यकी कभी कमी न पड़ेगी। साठ वर्ष के बूढ़े होनेपर भी किसी नौजवानकी तरह तुममें उत्साह और सामर्थ्य दीख पड़ेगा। मनुष्य ज्यों-ज्यों बुढ़ापेकी तरफ जाता है त्यों-त्यों उसका मन अधिक मजबूत होता जाना चाहिए। फलको ही देखिए न? पहले वह हरा होता है, फिर पकता है, फिर सड़ता है और मिट जाता है, परंतु त्यों-त्यों भीतरका बीज अधिकाधिक सख्त होता जाता है। यह बाहरी शरीर सड़ जायगा, गिर जायगा, परंतु बाहरी शरीर फलका सार-सर्वस्व नहीं है। उसका सार-सर्वस्व, उसकी आत्मा, तो है बीज। यही बात शरीरकी है। शरीर भले ही बूढ़ा होता चला जाय, परंतु स्मरणशक्ति तो बढ़ती ही रहनी चाहिए, बुद्धि तेजस्वी होनी चाहिए। परंतु ऐसा होता नहीं। मनुष्य कहता है—"आजकल मेरी याददाश्त कम हो गई।" "क्यों?" "अब बुढ़ापा आ गया है।" तुम्हारा जो ज्ञान, विद्या या स्मृति है, वह तुम्हारा बीज है। शरीर ज्यों-ज्यों बूढ़ा होता जायगा, त्यों-त्यों ढीला पड़ता जायगा। परंतु त्यों-ही-त्यों आत्मा बलवान् होती जानी चाहिए। और यह बिना एकाग्रताके नहीं हो सकता।

(२७)

अब एकाग्रता तो होनी चाहिए, पर वह हो कैसे? उसके लिए क्या करना चाहिए? भगवान् कहते हैं, आत्मामें मनको स्थिर करके "न किंचिदपि चिंतयेत्"—दूसरा कुछ भी चिंतन न करे।

परंतु यह सधे कैसे? मनको बिलकुल शांत करना बड़ी महत्त्वकी

वस्तु है। विचारोंके चक्रको जोरसे रोके बिना एकाग्रता कैसे होगी ? बाहरी चक्र तो किसी तरह रोक भी लिया जायं, परंतु भीतरी चक्र तो चलता ही रहता है। चित्तकी एकाग्रताके लिए ये बाहरी साधन जैसे-जैसे काममें लाये जायं वैसे-वैसे भीतरके चक्र अधिक वेगसे चलने लगते हैं। आप आसन जमाकर तनकर बैठ जाइए, आँखें स्थिर कर लीजिए। परंतु इतनेसे मन एकाग्र नहीं हो सकेगा। मुख्य बात यह है कि मनका चक्र बंद करना सधना चाहिए।

बात यह है कि बाहरका यह अपरंपार संसार जो हमारे मनमें भरा रहता है, उसको बंद किये बिना एकाग्रता अशक्य ह। अपने आत्माकी अपार ज्ञान-शक्ति हम बाह्य क्षुद्र वस्तुओंमें खर्च कर डालते हैं, लेकिन ऐसा नहीं होना चाहिए। जिस तरह दूसरेको न लूटते हुए खुद अपने प्रयत्नसे धनी हो जानेवाला पुरुष बिना जरूरत खर्च नहीं करता, उसी तरह हमें भी अपने आत्माकी ज्ञान-शक्ति क्षुद्र बातोंके चिंतनमें खर्च नहीं करनी चाहिए। यह ज्ञान-शक्ति हमारी अमूल्य थाती है, परंतु हम उसे स्थूल विषयोंमें खर्च कर डालते हैं। यह साग अच्छा नहीं बना, इसमें नमक कम पड़ा। अरे भाई, कितनी रत्तीभर नमक कम पड़ा ? नमक तनिक-सा कम पड़ा, इस महान् विचारमें ही हमारा ज्ञान खर्च हो जाता है ! बच्चोंको पाठशालाकी चारदीवारीके अंदर ही पढ़ाते हैं क्योंकि, कहते हैं कि यदि पेड़के नीचे पढ़ायंगे तो कौवे, कोयल और चिड़ियां देखकर उनका मन एकाग्र नहीं होगा। बच्चे ही जो ठहरे ! कौवे, चिड़ियां नहीं दिखाई दीं तो हो गई एकाग्रता ! परंतु अब हम हो गये हैं घोड़ेके बराबर। हमारे अब सींग निकल आये हैं। यदि हमें सात-सात दीवारोंके अंदर भी किसीने बंद कर दिया तो भी हमारे मनकी एकाग्रता नहीं हो सकती क्योंकि हमारी आदत दुनियामें हर छोटी-बड़ी चीजकी चर्चा करनेकी पड़ गई है। जो ज्ञान परमेश्वरकी प्राप्ति करा सकता है, उसे हम साग-सब्जीके जायकेकी चर्चा करनेमें खो देते हैं और उसमें कृतार्थता मानते हैं।

दिन-रात ऐसा यह भयानक संसार हमारे चारों ओर भीतर-बाहर धू-धू करता रहता है। प्रार्थना अथवा भजन करनेमें भी हमारा हेतु बाहरी ही रहता है। परमेश्वरसे तन्मय होकर एक क्षणके लिए भी

संसारको भुलानेकी भावना ही नहीं रहती। प्रार्थना भी एक दिखावा है। ऐसी जहाँ मनकी स्थिति है वहाँ आसन जमाकर बैठना और आँख मूंदना सब व्यर्थ है। मनकी दौड़ निरंतर बाहर ही होते रहनेसे मनुष्यका सारा सामर्थ्य नष्ट हो जाता है। किसी भी प्रकारकी व्यवस्था, नियंत्रण-शक्ति मनुष्यमें नहीं रहती। इसका अनुभव आज हमारे देशमें कदम-कदमपर हो रहा है। वास्तवमें भारतवर्ष तो परमार्थ-भूमि है। यहाँके लोग पहले ही ऊँची हवामें उड़नेवाले समझे जाते हैं। पर ऐसे देशमें हमारी-आपकी क्या दशा है? छोटी-छोटी बातोंकी इतनी चिंताके साथ चर्चा व पिष्टपेषण करते हैं कि जिसे देखकर दुःख होता है। क्षुद्र विषयोंमें ही हमारा चित्त डूबा रहता है।

कथा-पुराण-श्रवण में मीठी नींद सदा आ जाती है।
पड़ते ही बिस्तरपै किंतु चिन्ता मन को खाती है।
कर्मकी गति ऐसी गहना। उसे रोनेसे क्या पाना?

कथा-पुराण सुननेके लिए जाते हैं, वहाँ नींद आ घेरती है, और नींद लेने जाते हैं तो वहाँ चिंता और विचार-चक्र शुरू हो जाता है। एक ओर शून्याग्रता तो दूसरी ओर अनेकाग्रता। एकाग्रताका कहीं पता नहीं। इतना यह मनुष्य इंद्रियोंका गुलाम है। एक बार किसीने पूछा—"आँखें अधमुंदी रखनी चाहिए, ऐसा क्यों कहा गया है?" मैंने कहा—"सरल ही उत्तर देता हूँ। आँखें बिलकुल मूँद लें तो नींद लग जाती है। खुली रखें तो चारों ओर दृष्टि जाकर एकाग्रता नहीं होती। आँखें मूँदनेसे नींद लग जाती है, यह तमोगुण हुआ। खुली रखनेसे दृष्टि सब जगह जाती है, यह रजोगुण आ गया। इसलिए बीचकी स्थिति कही है।"

तात्पर्य यह है कि मनकी स्थिति बदले बिना एकाग्रता नहीं हो सकती। मनकी स्थिति ठीक शुद्ध होनी चाहिए। केवल आसन जमाकर बैठनेसे वह नहीं प्राप्त हो सकती। इसके लिए हमारे सब व्यवहार शुद्ध होने चाहिए। व्यवहार शुद्ध करनेके लिए उसका उद्देश्य बदलना चाहिए। व्यवहार व्यक्तिगत लाभके लिए, वासनातृप्तिके लिए, अथवा बाहरी बातोंके लिए नहीं करना है।

व्यवहार तो हम दिनभर करते रहते हैं। आखिर दिनभरकी इस उधेड़बुनका हेतु क्या है ?

इसी हेतु मेरा सारा परिश्रम।
अंतकी ये घड़ी होवे मीठी ॥

सारी उधेड़बुन, सारी दौड़-धूप इसीलिए न कि हमारा अंतिम दिवस मधुर हो जाय ? जिन्दगीभर कड़ुआ विष क्यों पचाया ? इसलिए कि अंतिम घड़ी, वह मरण, पवित्र हो जाय। दिनकी अंतिम घड़ी शामको आती है। आजके दिनका सारा काम यदि पवित्र भावसे किया गया तो रातकी प्रार्थना मधुर होगी। वह दिनका अंतिम क्षण यदि मधुर हो गया तो दिनका सारा काम सफल समझो। तब मेरा मन एकाग्र हो जायगा।

एकाग्रताके लिए ऐसी जीवन-शुद्धिकी जरूरत है। बाह्य वस्तुओंका चिंतन छूटना चाहिए। मनुष्यकी आयु बहुत नहीं है, परंतु इस थोड़ी-सी आयुमें भी परमेश्वरीय सुखके स्वाद लेनेका सामर्थ्य है। दो मनुष्य बिलकुल एक ही सांचेमें ढले, एक-सी छाप लगे हुए। दो आँखें, उनके बीच एक नाक और उस नाकमें दो नासा-पुट। इस तरह बिलकुल एकसे होकर भी एक मनुष्य देव-तुल्य होता है तो दूसरा पशु-तुल्य। ऐसा क्यों होता है ? एक ही परमेश्वरके बालबच्चे—

'सब एक ही खानिके'

हैं तो फिर यह फर्क क्यों पड़ता है ? इन दो व्यक्तियोंकी जाति एक है, ऐसा यकीन नहीं होता। एक नरका नारायण है तो दूसरा नरका वानर !

मनुष्य कितना ऊँचा उठ सकता है, इसका नमूना दिखानेवाले लोग पहले भी हो गये हैं और आज भी हमारे बीचमें हैं। यह अनुभवकी बात है। इस नर-देहमें कितनी शक्ति है, इसको दिखानेवाले संत पहले निकले और आज भी हैं। इस देहमें रहकर यदि मनुष्य ऐसी अद्भुत करनी कर सकता है तो फिर भला मैं क्यों न कर सकूँगा। मैं अपनी कल्पनाको मर्यादामें क्यों बाँध लूँ। जिस नर-देहमें रहकर दूसरे नर-वीर हो गये, वही नर-देह मुझे भी मिला है, फिर मेरी ऐसी दशा

क्यों ? कहीं-न-कहीं मुझसे भूल हो रही है। मेरा यह चित्त सदैव बाहर जाता रहता है। दूसरेके गुण-दोष देखने में वह बहुत वाहियात हो गया है। परन्तु मुझे दूसरेके गुण-दोष देखनेकी जरूरत क्या है ?

कहां गुण-दोष परायेके देखूं।
कमी क्या मुझमें दोषों की है।

खुद मुझमें क्या दोष कम हैं! यदि मैं सदैव दूसरों की छोटी-छोटी बातें देखनेमें ही तल्लीन रहा तो फिर मेरे चित्तकी एकाग्रता हो भी कैसे ? उस दशा में मेरी स्थिति दो ही प्रकार की हो सकती है। एक तो शून्य-अवस्था अर्थात् नींद; और दूसरी अनेकाग्रता। तमोगुण और रजोगुणमें ही मैं उलझता रहूँगा।

भगवान्‌ने यह जरूर कहा है कि चित्तकी एकाग्रताके लिए इस तरह बैठो, इस तरह आँखें रखो, इस तरह आसन जमाओ, आदि, परन्तु इन सबसे फायदा तभी होगा, जब पहले चित्तकी एकाग्रताके हम कायल हों। मनुष्यके चित्तमें पहले यह जम जाय कि चित्तकी एकाग्रता आवश्यक है, फिर तो मनुष्य खुद ही उसकी साधना और मार्ग ढूँढ़ निकालेगा।

(२८)

चित्तकी एकाग्रतामें सहायक दूसरी बात है, जीवनकी परिमितता। हमारा सब काम नपा-तुला होना चाहिए। गणित-शास्त्रका यह रहस्य हमारी सब क्रियाओंमें आ जाना चाहिए। औषध जैसे नाप-तौलकर ली जाती है, वैसे ही आहार-निद्रा भी नपी-तुली होनी चाहिए। जीवनमें सब जगह चारों तरफ नाप-तौल करनी चाहिए। प्रत्येक इंद्रियपर पहरा बिठाना चाहिए। मैं ज्यादा तो नहीं खाता हूं, अधिक तो नहीं सोता, जरूरतसे ज्यादा तो नहीं देखता—ऐसा ध्यान बारीकी से निरन्तर रखना चाहिए।

एक साहब किसी शख्स के लिए कह रहे थे कि वे किसीके कमरेमें गए तो एक मिनटमें उनकी निगाहमें आ जाता था कि उसमें कहाँ क्या रक्खा है ? मैंने मनम कहा—"भगवन्, यह महिमा मुझे न प्राप्त हो।"

क्या मैं उसका मंत्री हूँ, जो पाँच-पचास चीजोंकी सूची मनमें रखूँ ? या मुझे चोरी करनी है ? साबुन यहाँ था, घड़ी वहाँ थी, इससे मुझे क्या करना है ? इस ज्ञानकी मुझे क्या जरूरत ? आँखोंकी यह फजूलियात मुझे छोड़ देनी चाहिए । उसी प्रकार कानपर भी पहरा रखो । बाज लोग समझते हैं, यदि कुत्तोंकी तरह हमारे कान होते तो कितना अच्छा रहता ! जिधर चाहते, उधर एक क्षण में उन्हें हिलाया करते । मनुष्य के कानमें परमात्माने यह कसर ही रख दी । परन्तु कानकी यह वाहियात शक्ति हमें नहीं चाहिए । वसे यह मन भी बहुत जबरदस्त है । जरा कहीं खटका हुआ, आहट हुई कि गया उधर ध्यान । अतः जीवनमें नियमन परिमितता लाओ । खराब चीज नहीं देखें । खराब किताब नहीं पढ़ें । निंदास्तुति नहीं सुनें । सदोष वस्तु तो दूर, निर्दोष वस्तुओंका भी जरूरतसे ज्यादा सेवन न करें । लोलुपता किसी भी प्रकारकी न होनी चाहिए । शराब, पकौड़ी, रसगुल्ले तो होने ही नहीं चाहिए, परंतु संतरे, केले, मौसमी भी बहुत नहीं चाहिए । फल-आहार यों शुद्ध आहार है, परंतु वह भी अनाप-शनाप नहीं होना चाहिए । जीभका स्वेच्छाचार भीतरी मालिकको सहन न होना चाहिए । इंद्रियोंपर धाक रहनी चाहिए कि यदि हम ऊट-पटाँग करेंगे तो भीतरका मालिक हमें जरूर सजा देगा । नियमित आचरणको ही जीवनकी परिमितता कहते हैं ।

(२९)

तीसरी बात है समदृष्टि होना । समदृष्टि का ही अर्थ है—शुभ दृष्टि । शुभ दृष्टि प्राप्त हुए बिना चित्त एकाग्र नहीं हो सकता । सिंह इतना बड़ा वनराज है, परंतु चार कदम चलकर पीछे देखता है । हिंसक सिंहको एकाग्रता कैसे प्राप्त होगी ? शेर, कौवे, बिल्ली, इनकी आँख हमेशा फिरती रहती हैं । निगाह उनकी चौकन्नी-घबराई हुई होती है । हिंस्र प्राणियोंका ऐसा ही हाल रहेगा । साम्य दृष्टि आनी चाहिए । यह सारी सृष्टि मंगलमय मालूम होनी चाहिए । जैसे मुझे खुद अपनपर विश्वास है, वैसा ही सारी सृष्टिपर मेरा विश्वास होना चाहिए । यहाँ डरनेकी बात ही क्या है ? सबकुछ शुद्ध और पवित्र है ।

"विश्वं तद् भद्रं यदवन्ति देवाः ।"

यह विश्व मंगलमय है, क्योंकि परमेश्वर उसकी देखभाल करता है। अंग्रेज कवि ब्राउनिंगने भी ऐसा ही कहा है।

"ईश्वर आकाशमें विराजमान है और संसार सब ठीक तरहसे चल रहा है।"

संसारमें कुछ भी बिगाड़ नहीं है। अगर बिगाड़ कहीं है तो वह है मेरी दृष्टिमें। जैसी मेरी दृष्टि, वैसी यह सृष्टि। यदि मैं लाल रंगका चश्मा चढ़ा लूंगा तो सारी सृष्टि लाल-ही-लाल दिखाई देगी, जलती हुई दिखाई देगी।

रामदास रामायण लिखते जाते व शिष्योंको पढ़कर बताते जाते थे। हनुमान भी गुप्त रूपसे उसे सुननेके लिए आकर बैठते थे। समर्थ रामदासने लिखा था—"हनुमान अशोक-वनमें गये। वहाँ उन्होंने सफेद फूल देखे।" यह सुनते ही वहाँ झटसे हनुमान प्रकट हो गये और बोले—"मैंने सफेद फूल नहीं देखे, लाल देखे थे। तुमने गलत लिखा है। उसे सुधार लो।" समर्थने कहा—"मैंने ठीक लिखा है। तुमने सफेद ही फूल देखे थे।" हनुमानने कहा—"मैं खुद वहाँ गया था और मैं ही झूठा?" अंतमें झगड़ा रामचंद्रजी के पास गया। उन्होंने कहा—"फूल तो सफेद ही थे। परंतु हनुमानकी आँखें क्रोधसे लाल हो रही थीं, इसलिए वे शुभ्र फूल उन्हें लाल दिखाई दिये।" इस मधुर कथाका आशय यही है कि संसारकी ओर देखनेकी जैसी हमारी दृष्टि होगी, संसार भी हमें वैसा ही दिखाई देगा।

यदि हमारे मनको इस बातका निश्चय न हो कि यह सृष्टि शुभ है तो चित्तकी एकाग्रता नहीं हो सकती। जबतक मैं यह समझता रहूँगा कि सृष्टि बिगड़ी हुई है तबतक मैं सशंक दृष्टिसे चारों ओर देखता रहूँगा। कवि पंछियोंकी स्वतंत्रताके गान गाते हैं। उनसे कहना चाहिए कि जरा एक बार पंछी होकर देखो तो। फिर उनकी आजादीकी सही कीमत मालूम हो जायगी। पक्षियोंकी गर्दन बराबर आगे-पीछे एक-सी नाचती रहती है। उन्हें सतत दूसरों का भय लगा रहता है। चिड़ियाको आसनपर ला बिठाओ। क्या वह एकाग्र हो जायगी? मेरे जरा निकट जाते ही वह फुरंसे उड़ जायगी। वह डरेगी

कि कहीं यह मुझे मारने तो नहीं आ रहा है ? जिनके दिमागमें ऐसी भयानक कल्पना है कि यह सारी दुनिया भक्षक है—संहारक है, उन्हें शांति कहाँ ? जबतक यह खयाल दिमागसे न निकलेगा कि मेरा रक्षक मैं अकेला ही हूँ, बाकी सब भक्षक हैं, तबतक एकाग्रता नहीं हो सकती । समदृष्टिकी भावना करना ही उसका उत्तम मार्ग है । आप सर्वत्र मांगल्य देखने लग जाइए, चित्त अपने आप शांत हो जायगा ।

किसी दुःखी मनुष्यको कल-कल बहनेवाली नदीके किनारे ले जाइए । उसके स्वच्छ शांत प्रवाहको देखकर उसकी बेचैनी कम हो जायगी । वह अपना दुःख भूल जायगा । उस झरनेमें, उस प्रवाहमें, इतनी शक्ति कहाँसे आ गई ? परमेश्वरकी शुभ शक्ति उससे प्रकट हुई है । वेदोंमें झरनोंका बड़ा ही सुन्दर वर्णन है—

"अतिष्ठन्तीनाम् अनिवेशनानाम्"

ऐसे ये झरने हैं । झरना अखंड बहता है, उसका अपना कोई घर-बार नहीं, वह संन्यासी है । ऐसा पवित्र झरना एक क्षणमें मेरे मनको एकाग्र बना देता है । ऐसे सुंदर झरनेको देखकर प्रेमका, ज्ञानका, स्रोत मेरे मनमें क्यों न उमड़ पड़े ?

यह बाहरका जड़ पानी भी यदि मेरे मनको इतनी शांति प्रदान कर सकता है तो फिर मेरी मानस-दरीमें यदि भक्ति और ज्ञानका चिन्मय झरना बहने लगे तो मेरे मनको कितनी शांति प्राप्त होगी ! मेरे एक मित्र पहले हिमालयमें—काश्मीरमें—घूम रहे थे । वहाँके पवित्र पर्वतोंके, सुंदर जल-प्रवाहोंके वर्णन लिख-लिखकर मुझे भेजते थे । मैंने उन्हें उत्तर दिया कि जो जल-स्रोत, जो पर्वत-माला, जो शुभ समीर तुमको अनुपम आनंद देते हैं, उन सबका अनुभव मुझे अपने हृदयमें हो सकता है । अपनी अंतःसृष्टिमें मैं नित्य उन सब रमणीय दृश्योंको देखता हूँ । अतः तुम्हारे बुलानेपर भी मैं अपने हृदयके इस भव्य-दिव्य हिमालयको छोड़कर नहीं आऊँगा ।

"स्थावराणां हिमालयः ।"

स्थिरताकी मूर्त्तिके रूपमें जिस हिमालयकी उपासना स्थिरता लानेके लिए करनी है, उसका वर्णन सुनकर यदि मैंने अपना कर्त्तव्य छोड़ दिया तो वह उल्टी ही बात होगी !

सारांश, चित्तको जरा शांत कीजिए । चित्तको मंगल-दृष्टिसे देखिए, तो फिर आपके हृदयमें अनंत झरने बहने लगेंगे । कल्पनाओंके दिव्य तारे हृदयाकाशमें चमकने लगेंगे । पत्थर और मिट्टीकी शुभ वस्तु देखकर यदि चित्त शांत हो जाता है तो फिर अंतःसृष्टिके दृश्य देखकर क्यों न होगा ? एक बार मैं त्रावणकोर गया था । एक दिन समुद्रकिनारे बैठा था । वह अपार समुद्र, उसकी धूं-धूं गर्जना, सायं-कालका समय, मैं स्तब्ध, निश्चेष्ट बैठा था । मेरे मित्रने वहीं समुद्र-किनारे कुछ फल वगैरा खानेके लिए ला दिये । उस समय वह सात्त्विक आहार भी मुझे जहरकी तरह लगा । समुद्रकी वह ॐ ॐ गर्जना मुझे— "मामनुस्मर युध्य च" इस गीता-वचनकी याद दिला रही थी । समुद्र सतत स्मरण कर रहा था और कर्म भी कर रहा था । एक लहर आई, वह गई और दूसरी आई । उसे एक क्षणके लिए विश्रांति नहीं । यह दृश्य देखकर मेरी भूख-प्यास उड़ गई थी । आखिर उस समुद्रमें ऐसा क्या था ! उस खारे पानीकी लहरोंको उछलते हुए देखकर यदि मेरा हृदय उछलने लगता है तो फिर ज्ञान और प्रेमके अथाह सागरके हृदयमें हिलोरें मारनेपर मैं कितना नाच उठूँगा ! वैदिक ऋषिके हृदय-में ऐसा ही समुद्र हिलोरें मारता था—

"अंतःसमुद्रे हृदि अंतरायुषि
घृतस्य धारा अभिचाकशीमि
समुद्रादूर्मिर्मधुमानुदारत्"

इस दिव्य भाषापर भाष्य लिखते हुए बेचारे भाष्यकारोंकी भी फजीहत होनेकी नौबत आ गई । कैसी वह घृतकी धारा ? कैसी वह मधुकी धारा ? क्या मेरे अंतःसमुद्रमें खारी लहरें उठेंगी ? नहीं, नहीं । मेरे हृदयमें तो दूध, मधु और घीकी लहरें हिलोरें मार रही हैं ।

(३०)

हृदयके इस समुद्रको निहारना सीखो । बाहरके निरभ्र नील आकाशको देखकर चित्तको भी निर्मल और निर्लेप बनाओ । सच पूछो तो चित्तकी एकाग्रता एक खेल है । मामूली बात है । चित्तकी व्यग्रता ही अस्वाभाविक और अनैसर्गिक है । छोटे बच्चोंकी आँखोंकी ओर एकटक लगाकर देखो । छोटा बच्चा एक-सा टक लगाकर देखता

है, लेकिन तुम दस बार पलक मारोगे। बच्चोंका मन तुरंत एकाग्र हो जाता है। चार-पाँच महीनेके बच्चेको बाहरकी हरी-भरी सृष्टि दिखलाओ। वह एक-सा देखता रहेगा। स्त्रियोंका तो ऐसा खयाल है कि बाहरकी हरियालीको देखकर उसकी विष्ठा भी हरे रंगकी हो जाती है। मानो सब इंद्रियोंकी आँखें बनाकर वह देखता है। छोटे बच्चेके मनपर किसी भी घटनाका बड़ा प्रभाव पड़ता है। शिक्षा-शास्त्री कहते हैं—शुरूके दो-चार सालोंमें जो शिक्षा बालकोंको मिल जाती है वही वास्तविक शिक्षा है। आप कितने ही विद्यापीठ, पाठशाला, संघ कायम कीजिए, शुरूमें जो शिक्षा मिली है,वह फिर कभी नहीं मिल सकती। शिक्षा-विषयसे मेरा संबंध है। दिन-दिन मुझे यह निश्चय होता जा रहा है कि इस बाहरी शिक्षाका परिणाम शून्यवत् है। आरंभिक संस्कार वज्रलेप हो जाते हैं। बादके शिक्षणको बाहरी रंग, ऊपरी झिल्ली समझो। साबुन लगानेसे ऊपरका दाग, मैल निकल जाता है, परंतु चमड़ीका काला रंग कैसे चला जायगा? उसी तरह जो संस्कार आदिमें पड़ जाता है, उसका मिटना कठिन हो जाता है।

तो ये आदिके संस्कार बलवान् क्यों? बादके संस्कार कमजोर क्यों? इसलिए कि बचपनमें चित्तकी एकाग्रता नैसर्गिक रहती है। एकाग्रता होनेके कारण जो संस्कार पड़ते हैं, वे फिर नहीं मिटते। चित्तकी एकाग्रताकी इतनी महिमा है। जिसे यह एकाग्रता प्राप्त हो गई उसके लिए क्या अशक्य है?

हमारा सारा जीवन आज कृत्रिम हो गया है। हमारी बाल-वृत्ति मर गई है, नष्ट हो गई है। जीवनमें वास्तविक सरसता नहीं; वह शुष्क हो गया है। हम ऊट-पटांग, जैसे-तैसे चल रहे हैं। डारविन साहब नहीं, बल्कि हम खुद अपनी कृतिसे यह सिद्ध कर रहे हैं कि मनुष्यके पूर्वज बंदर थे।

छोटा बच्चा विश्वास-शील होता है। माँ जो कहे, वह उसके लिए प्रमाण। जो कहानियाँ उसे कही जाती हैं वे उसे असत्य नहीं मालूम होतीं। कौआ बोला, चिड़िया बोली, यह सब उसे सच मालूम होता है। बच्चोंकी इस मंगल-वृत्तिके कारण उनकी एकाग्रता जल्दी हो जाती है।

(३१)

तात्पर्य यह कि ध्यानयोगके लिए चित्तकी एकाग्रता, जीवनकी परिमितता व शुभ साम्य-दृष्टिकी जरूरत है। इसके सिवा और भी दो साधन बताये जाते हैं—वैराग्य और अभ्यास। एक है विध्वंसक और दूसरा है विधायक। खेतसे घास उखाड़कर फेंकना विध्वंसक काम हुआ। इसीको वैराग्य कहते हैं। उसमें बीज बोना विधायक काम है। मनमें सद्‌विचारोंका पुनः-पुनः चिंतन करना अभ्यास कहलाता है। वैराग्य विध्वंसक क्रिया है, अभ्यास विधायक क्रिया। अब वैराग्य आये कैसे? हम कहते हैं—आम मीठा है, परंतु क्या यह मिठास निरे आममें है? नहीं, निरे आममें नहीं है। हम अपनी आत्माकी मिठास वस्तुमें डालते हैं और फिर वह वस्तु मीठी लगती है। अतः भीतरी मिठासको चखना सीखो। केवल बाह्य वस्तुमें मधुरता नहीं है, बल्कि वह 'रसानां रसतमः' माधुर्य-सागर आत्मा मेरे निकट है, उसीकी बदौलत मीठी वस्तुओंको मिठास मिली है, ऐसी भावना करते रहनेसे मनमें वैराग्यका संचार होता है। सीता माताने हनुमानको मोतियोंका हार इनाममें दिया। हनुमान मोतियोंको चबाता, देखता और फेंक देता। उनमें उसे कहीं 'राम' दिखाई नहीं देता था। राम तो था उसके हृदयमें। उन्हीं मोतियोंके लिए लोग लाख रुपये भी दे देते।

इस ध्यान-योगका वर्णन करते हुए भगवान्‌ने एक बहुत ही महत्त्वकी बात शुरूमें ही बता दी है। वह यह कि मनुष्यको ऐसा दृढ़ संकल्प करना चाहिए कि 'मुझे स्वतः अपना उद्धार करना है। मैं आगे बढ़ूंगा। मैं ऊंची उड़ान मारूंगा। इस नर-देह में मैं ज्यों-का-त्यों पड़ा नहीं रहूंगा। परमेश्वरके पास जानेका साहस करूंगा और ऐसा प्रयत्न भी करूंगा।'

यह सब सुनकर अर्जुनके मनमें शंका उठी कि "भगवन्, अब तो हमारी उमर बीत गई। कुछ दिनोंमें हम मर जायंगे तो फिर यह साधना क्या काम आयगी।" भगवान्‌ने कहा—"मृत्युका अर्थ तो है लंबी नींद।" रोज काम करके हम सात-आठ घंटे सोते हैं। इस नींदसे कोई डरता है? बल्कि नींद न आये तो फिक्र पड़ जाती है। जैसे नींद जरूरी, वैसे ही मौत भी जरूरी है। जैसे नींदसे उठकर

फिर हम अपना काम प्रारंभ कर देते हैं, वैसे ही मरणके बाद भी पहलेकी यह सारी साधना हमारे काम आ जायगी। ज्ञानदेवने 'ज्ञानेश्वरी' में इस प्रसंगको लेकर लिखी ओवियोंमें मानो अपना आत्म-चरित ही लिख दिया हो—

"शैशवमें ही सर्वज्ञता, वरती है उन्हें।
सकल शास्त्र स्वयं ही, मुखसे निकलें।"

आदि चरणोंमें यही दिखाई देता है। पूर्व-जन्मका अभ्यास तुम्हें खींच लेता है। किसीका चित्त विषयोंकी ओर जाता ही नहीं। वह जानता ही नहीं कि मोह कैसा होता है; क्योंकि पूर्व जन्ममें वह उनकी साधना कर चुका है।

"शुभकारी कभी कोई
पाता कुगतिको नहीं।"

जो मनुष्य कल्याण-मार्गपर चलता है, उसका जरा भी श्रम व्यर्थ नहीं जाता। अंतमें इस तरहकी श्रद्धा बताई गई है। जो कुछ अपूर्ण है, वह अंतको पूरा होकर रहेगा। भगवान्के इस उपदेशका सार ग्रहण करो और अपने जीवनको सार्थक करो।

रविवार, २७-३-३२

सातवां अध्याय

(३२)

भाइयो, अर्जुनके सामने जब सर्वधर्म-पालनका प्रश्न उपस्थित हुआ तो उसके मनमें स्वकीय व परकीयका मोह उत्पन्न हो गया और वह स्वधर्माचरणसे बचनेकी तदबीर करने लगा। उसका यह वृथा मोह पहले अध्यायमें दिखाया गया। इस मोहको मिटानेकी तजवीजसे दूसरा अध्याय शुरू हुआ। उसमें ये तीन सिद्धांत बताये गए, (१) आत्मा अमर है और वह सर्वत्र व्याप्त है (२) देह नाशवान् है और (३) स्वधर्मका त्याग कभी न करना चाहिए। साथ ही कर्मफल-त्यागरूपी वह तरकीब भी बतलाई, जिससे उन सिद्धांतोंपर अमल करनेकी कुंजी हाथ लग जाय। इस कर्मयोगका विवरण करते हुए उसमेंसे कर्म, विकर्म और अकर्म, ये तीन चीजें पैदा हुईं। कर्म-विकर्मके संगमसे उत्पन्न होनेवाले दो प्रकारके अकर्म पांचवें अध्यायमें हमने देख लिये। छठे अध्यायसे भिन्न-भिन्न विकर्म बतानेकी शुरुआत की गई। छठे अध्यायमें साधनाके लिए आवश्यक एकाग्रताका महत्त्व बताया गया।

आज सातवां अध्याय है। इस अध्यायमें विकर्मका एक नया ही भव्य भवन खोल दिया गया है। सृष्टि-देवीके मंदिरमें, किसी विशाल वनमें, हम जिस तरह नाना प्रकारके मनोहर दृश्य देखते जाते हैं, वैसा ही अनुभव गीता-ग्रंथमें होता है। छठे अध्यायमें एकाग्रताका भवन देखा। अब हम जरा दूसरे भवनमें प्रवेश करें।

उस भवनका द्वार खोलनेके पहले ही भगवान्‌ने इस मोहकारिणी जगत्-रचनाका रहस्य समझा दिया है। एक ही प्रकारके कागजपर एक ही कूंचीसे चित्रकार नानाविध चित्र निकालता है। कोई सितारी सात सुरोंसे ही अनेक राग निकालता है। वाङ्मयके बावन अक्षरोंकी सहायतासे हम नाना प्रकारके विचार व भाव प्रकट करते हैं। वैसे ही इस सृष्टिको समझो। सृष्टिमें अनंत वस्तुएं और अनंत वृत्तियां दिखाई

देती हैं। परंतु यह सारी अंतर्बाह्य सृष्टि एक ही अखंड आत्मा व एक ही अष्टधा प्रकृतिके इस दुहरे मसालेसे बनी हुई है। क्रोधी मनुष्यका क्रोध, प्रेमी मनुष्यका प्रेम, दुःखितका क्रंदन, आनंदीका हर्ष, आलसीका नींदकी ओर झुकाव, उद्योगीका कर्मस्फुरण—ये सब एक ही चैतन्य शक्तिके खेल हैं। इन परस्पर-विरुद्ध भावोंके मूलमें एक ही चैतन्य यहांसे वहांतक भरा हुआ है। भीतरी चैतन्य एक ही है। उसी तरह बाह्य आवरणका भी स्वरूप एक-सा ही है। चैतन्यमय आत्मा व जड़ प्रकृति, इस दुहरे मसालेसे सारी सृष्टि बनी है जन्मी है, यह आरंभमें ही भगवान बता रहे हैं।

आत्मा व देह, परा व अपरा प्रकृति, सर्वत्र एक ही है, फिर मनुष्य मोहमें क्यों पड़ जाता है? भेद क्यों दिखाई देता है? प्रेमी मनुष्यका चेहरा मधुर मालूम होता है तो किसी दूसरेको देखकर तबियत हटती है। एकसे मिलनेकी व दूसरेसे परहेज करनेकी तबियत क्यों होती है? एक ही पेंसिल, एक ही कागज, एक ही चित्रकार; परंतु नाना चित्रोंसे नाना भाव प्रकट होते हैं। चित्रकारकी यही कुशलता है। चित्रकारकी कूंचीमें, सितारीकी उंगलियोंमें ऐसी कुशलता है कि वे हमें रुला देते हैं, हँसा देते हैं। यह सारी खूबी उनकी उन उंगलियोंमें है।

यह नजदीक रहे, वह दूर रहे; यह मेरा, वह पराया, ऐसे जो विचार मनमें आते हैं, और जिनकी वजहसे समयपर कर्त्तव्यसे भी पीछे हटनेकी प्रवृत्ति होने लगती है, उसका कारण मोह है। इस मोहसे बचना हो तो उस सृष्टि-निर्माताकी उंगलीकी करामातका रहस्य समझ लेना चाहिए। बृहदारण्यक उपनिषदमें नगारेका दृष्टांत दिया गया है। एक ही नक्कारेसे भिन्न-भिन्न नाद निकलते हैं। कुछ नादोंसे मैं भयभीत हो जाता हूं, कुछको सुनकर नाच उठता हूं। इन सब भावोंको यदि जीत लेना है तो नक्कारा बजानेवालेको पकड़ लेना चाहिए। उसके पकड़में आते ही सारे नाद पकड़में आ जाते हैं। भगवान् एक ही वाक्यमें कहते हैं—"जो मायाको तैर जाना चाहते हैं, वे मेरी शरणमें आवें।"

यहां वही लीला से तरे, जो आये शरण मेरे,
उन्हें सूख गया इसी किनारे माया-जल ॥

तो यह माया क्या है ? माया कहते हैं परमेश्वरकी शक्तिको, उसकी कला-कुशलताको। आत्मा व प्रकृति—अथवा जैन परिभाषामें कहें तो जीव व अजीव—रूपी इस मामलेसे जिसने यह अनंत रंगोंवाली सृष्टि रची है, उसकी शक्ति अथवा कला ही माया है। जेलखानेमें जिस तरह एक ही अनाजकी वह रोटी और वही एक सर्व-रसी दाल होती है, वैसे ही एक ही अखंड आत्मा व एक ही अष्टधा शरीर समझो। इससे परमेश्वर तरह-तरहकी चीजें बनाता रहता है। हम इन चीजोंको देखकर भिन्न-भिन्न परस्पर-विरोधी अच्छे-बुरे भावोंका अनुभव करते हैं। इसके परे जाकर यदि हम सच्ची शांति पाना चाहते हैं तो इन वस्तुओंके निर्माताको जा पकड़ना चाहिए, उससे परिचय कर लेना चाहिए। उससे जान-पहचान होनेपर ही इस भेद-जनक, आसक्ति-जनक मोहसे बचा जा सकेगा।

उस परमेश्वरको समझ लेनेका एक महान् साधन—एक महान् विकर्म—बतानेके लिए सातवें अध्यायमें भक्तिका भव्य भवन खुला कर दिया है। चित्त-शुद्धिके लिए यज्ञ-दान, जप-तप, ध्यानधारणा इत्यादि अनेक विकर्म बताये जाते हैं; परंतु इन साधनोंको मैं सोड़ा, साबुन, अरीठा—इनकी उपमा दूंगा। लेकिन भक्तिको पानी कहूंगा। सोडा, साबुन, अरीठा सफाई लाते हैं, परंतु पानीके बिना उनका काम नहीं चल सकता। पानी न हो तो उनसे क्या लाभ ? इसके विपरीत यदि सोड़ा, साबुन, अरीठा न हो, पर केवल पानी ही हो तो भी निर्मलता जरूर आ सकती है। उस पानी के साथ यदि ये पदार्थ भी हों, तो 'अधिकस्य अधिकं फलम्' हो जायगा; दूधमें शकर पड़ी कहेंगे। यज्ञ, याग, ध्यान, तप, इन सबमें यदि हार्दिकता न हो तो फिर चित्त-शुद्धि होगी कैसे ? हार्दिकताका ही अर्थ है भक्ति।

सब प्रकारके साधनोंको भक्तिकी जरूरत है। भक्ति एक सार्वभौम उपाय है। कोई सेवा-शास्त्रका जानकार, उपचारोंसे भलीभांति परिचित मनुष्य किसी रोगीकी सेवा-शुश्रूषाके लिए जाता है, पर यदि उसके मनमें सेवाकी भावना न हो तो बताओ, सच्ची सेवा कैसे बनेगी ? बैल भले ही खासा मोटा-ताजा हो, पर यदि गाड़ी खींचनेकी इच्छा ही उसे न हो तो वह कंधा डालकर बैठ जायगा—और संभव है कि

गाड़ीको किसी खड्डेमें भी गिरा दे। जिस कार्यमें हार्दिकता नहीं है, उससे न तुष्टि मिल सकती है, न पुष्टि।

(३३)

यह भक्ति होगी तो उस महान् चित्रकारकी कलाको हम देख सकेंगे। उसके हाथकी वह कलम हम देख सकेंगे। जहां एक बार उस उद्गम झरनेको व वहांके अपूर्व मधुर रसको चख लिया तो फिर बाकीके सब रस तुच्छ व नीरस मालूम होंगे। जिसने वास्तविक केले खा लिये, वह लकड़ीके रंगीन केले हाथमें लेगा और 'बड़े सुंदर हैं' कहकर एक ओर रख देगा। असली केलोंका स्वाद मिल जानेके कारण उसे इन नकली केलोंके प्रति कोई उत्साह नहीं रहता है। इसी तरह जिसे असली झरनेकी मिठासका मजा आ गया है, वह बाहरके गुलाब-शर्बतपर लट्टू नहीं होगा।

एक दार्शनिक तत्त्वज्ञानीको लोगोंने कहा—"महाराज, चलिये शहरमें आज बड़ी आराइश की गई है।" दार्शनिकने कहा—"भाई, यह आराइश क्या होती है?" एक दिया, इसके बाद दूसरा, फिर तीसरा, इस तरह लाख, दस लाख, करोड़, जितने चाहे समझ लो। गणित श्रेणीमें होता है, १+२+३ इत्यादि अनंत तक। संख्या-संख्या में जो अंतर रखना हो, वह यदि मालूम हो जाय तो फिर सारी संख्या लिखनेकी जरूरत नहीं रहती। उसी तरह वे दिये एकके बाद एक रख दिये। इनमें इतना मशगूल होने जैसी कौन-सी बात है? परंतु मनुष्यको ऐसे आनंद प्रिय होते हैं। वह नीबू लायगा, शकर लायगा, पानीमें उसे घोलेगा और फिर बड़े स्वादसे पीकर कहेगा—"वाह, क्या बढ़िया शिकंजी बनी है।" जबानको जायका लेनेके सिवा और काम ही क्या है? यह इसमें मिलाओ, वह उसमें मिलाओ। ऐसी चाट खानेमें ही उसे सारा मजा। बचपनमें एक बार मैं सिनेमा देखने गया था। साथमें एक टाटका टुकड़ा ले गया था। मतलब यह कि नींद आने लगे तो सो जाऊं। परदेपर आंखोंको चौंधिया देनेवाली वह आग मैं देखने लगा। दो ही चार मिनटमें उन अग्नि-चित्रोंको देखकर मेरी आंखें थकने लगीं। मैं अपने टाटपर सो गया और कहा कि जब खतम हो जाय तो जगा लेना। रातको बाहर खुली हवामें आकाशके चांद-तारे देखना छोड़कर, शांत

सृष्टिका वह पवित्र आनंद छोड़कर, उस कुंद थियेटरमें आगकी पुतलियों को नाचते देखकर तालियां पीटते हैं ! मेरी समझमें ही यह सब न आता था।

मनुष्य इतना निरानंद कैसे ? उन निर्जीव पुतलियोंको देखकर आखिर बेचारा किसी तरह थोड़ा आनंद प्राप्त कर लेता है। जीवनमें जब कि आनंद नहीं है तो फिर ऐसे कृत्रिम आनंद खोजते हैं। एक बार हमारे पड़ोसमें 'टमटम' बजना शुरू हुआ। मैंने पूछा—"यह बाजा क्यों ?" तो कहा गया—"लड़का हुआ है !" दुनियामें क्या एक तुम्हारे ही लड़का हुआ है, जो 'टमटम' बजाकर दुनियाको कहता है कि मेरे यहां लड़का हुआ है ? नाच, गान, खेल होते हैं—इसलिए कि लड़का हुआ है। यह सब लड़कपन नहीं तो क्या है ? मानो आनंदका अकाल ही पड़ गया है। अकालके दिनोंमें जैसे कहीं अनाजका दाना दिखते ही लोग टूट पड़ते हैं, उसी तरह जहां लड़का हुआ, सरकस आया, सिनेमा आया कि ये आनंदके भूखे-प्यासे बेचारे टिड्डीकी तरह टूट पड़ते हैं।

क्या यह सच्चा आनंद है ? गाना कानोंमें घुसकर उसकी लहरें दिमागको धक्का पहुंचाती हैं। आंखोंमें रूप घुसकर दिमागको धक्का देता है। इस धक्के लगनेमें ही बेचारोंका यह आनंद समाया रहता है। कोई तमाखू कूटकर उसे नाकमें घुसेड़ता है, कोई उसकी बीड़ी बनाकर मुंहमें खोंसता है। उस सुंघनीका या उस धुएंका धक्का लगा तो मानो उन्हें आनंदकी गठरी मिल जाती है ! बीड़ी का ठूंठ मिलते ही उसके आनंद की सीमा नहीं रहती। टॉल्स्टाय लिखते हैं—"उस सिगरेटकी खुमारीमें वह कभी किसीका खून भी कर डाले तो आश्चर्य नहीं।" वह एक प्रकारका नशा ही समझो।

ऐसे आनंदमें मनुष्य क्यों मस्त हो जाता है ? क्योंकि उसे वास्तविक आनंदका पता नहीं है। मनुष्य परछाईंमें ही पागल हो रहा है। आज वह पांच ज्ञानेंद्रियोंका ही आनंद ले रहा है। यदि आंखकी इंद्रिय उसके न होती तो वह चार इंद्रियोंका आनंद संसारमें मानता। कलको यदि मंगल ग्रहसे कोई छः इंद्रियोंवाला मनुष्य नीचे उतर आये तो ये बेचारे पांच इंद्रियोंवाले खिन्न होंगे और रोते-रोते वे कहेंगे कि "इसके मुकाबले हम कितने दीन-हीन हैं।"

तृष्टिका सारा अर्थ इन पांच इंद्रियोंको कैसे मालूम होगा ? इन पांच विषयोंमें भी फिर वह चुनाव करता है और उसमें रमता रहता है। गधेका रेंकना उसके कानोंमें गया तो कहता है कि कहांसे यह अशुभ आवाज आ गई ? तो क्या तुम्हारा दर्शन होनेसे उस गधेका कुछ अशुभ नहीं होगा ? तुम्हींको अलबत्ते उससे नुकसान होता है। क्या दूसरोंका तुमसे कुछ नहीं बिगड़ता ? मान लिया है कि गधेका रेंकना अशुभ है। एक बार मेरे बड़ौदा कालेजमें रहते हुए कुछ यूरोपियन गायक आये। थे तो वे उत्तम गवैये। अपनी तरफसे कमाल कर रहे थे ; परंतु मैं सोच रहा था कि कब यहांसे भाग छूटूं, क्योंकि मुझे वैसा गाना सुननेकी आदत नहीं थी। मैंने उन्हें फेल कर दिया। हमारी तरफके गवैये यदि उधर गये तो कदाचित् वे वहां फेल समझे जायंगे। इस तरह संगीतसे एकको आनंद होता है तो दूसरेको नहीं। मतलब यह सच्चा आनंद नहीं है, मायावी आनंद है। जबतक वास्तविक आनंदका दर्शन न होगा तबतक इस झूठे, धोखा ह आनंदमें ही झूलते रहेंगे। जबतक असली दूध नहीं मिला था, तबतक आटा घोलकर बनाया दूध ही अश्वत्थामा दूध कहकर पीता था। इस तरह जब आप सच्चा स्वरूप समझ लेंगे, उसका आनंद चख लेंगे तो फिर दूसरी सब चीजें फीकी लगेंगी।

इस आनंदका पता लगानेके लिए उत्कृष्ट मार्ग है भक्ति। इस रास्ते चलते-चलते परमेश्वरी कुशलता मालूम हो जायगी। उस दिव्य कल्पनाके आते ही दूसरी सब कल्पनाएं अपनेआप विलीन हो जायंगी। फिर क्षुद्र आकर्षण नहीं रह जायगा। फिर संसारमें एक आनंद ही भरा हुआ दिखाई देगा। मिठाईकी दूकान भले ही सैकड़ों हों, परंतु मिठाइयों-का प्रकार सबमें एक-सा होता है। सो, जबतक असली चीज हाथ न लगेगी, तबतक हम चंचल चिड़ियाकी तरह एक चीज यहांकी खायंगे, एक वहांकी। सुवह मैं तुलसीरामायण पढ़ रहा था। दियेके पास कीड़े जमा हो रहे थे। इतनेमें वहां एक छिपकली आई। उसे मेरी रामायणसे तो क्या लेनादेना था ! कीड़े देखकर उसे कितना आनंद हो रहा था ! वह कीड़ोंपर झपटनेवाली थी कि मैंने जरा हाथ हिलाया, वह भाग गई। परंतु उसका ध्यान एक-सा लगा था कीड़ेकी ओर। मैंने अपने मनमें कहा—"तू खाती है इस कीड़ेको ? तेरी जबानमें लार टपकती है ?"

मेरी जबानमें लार नहीं टपकी। जिस रसका आनंद मैं लूट रहा था, उसका उस बेचारी छिपकलीको क्या पता ? वह रामायणका रस नहीं चख सकी थी। इस छिपकलीकी तरह हमारी दशा है। हम नाना रसोंमें मस्त हैं। परंतु यदि सच्चा रस मिल जाय तो क्या बहार हो ? भगवान् भक्तिरूपी एक साधन दिखा रहे हैं, जिससे हम उस असली रसको पा व चख सकें।

(३४)

भगवान्‌ने भक्तिके तीन प्रकार बतलाये हैं—(१) सकाम भक्ति करनेवाला, (२) निष्काम परंतु एकांगी भक्ति करनेवाला, (३) ज्ञानी अर्थात् संपूर्ण भक्ति करनेवाला। निष्काम परंतु एकांगी भक्ति करनेवालोंके तीन प्रकार हैं—(१) आर्त, (२) जिज्ञासु, (३) अर्थार्थी। भक्ति-वृक्षकी ये शाखा-प्रशाखाएं हैं।

तो सकाम भक्तिका अर्थ क्या ? कुछ इच्छा मनमें रखकर भगवान्‌के पास जानेवाला। मैं उसकी यह कहकर निंदा न करूंगा कि यह भक्ति निकृष्ट प्रकारकी है। कई लोग सार्वजनिक सेवा-क्षेत्रमें इसीलिए कूदते हैं कि मान-सम्मान मिले। इसमें नुकसान क्या है ? आप उन्हें मान दीजिए। उनका खूब सम्मान कीजिए। इस सम्मानसे कुछ बिगाड़ न होगा। ऐसा मान मिलते रहनेसे, फिर आगे चलकर सार्वजनिक सेवामें वे सुस्थिर हो जायंगे। फिर उसी काममें उन्हें आनंद मालूम होने लगेगा। मान पानेकी इच्छा जो होती है, उसका भी अर्थ आखिर क्या है ? यही कि उस सम्मानसे हमें यह निश्चय, विश्वास हो जाता है कि जो काम हम करते हैं, वह उत्तम है। मेरी सेवा अच्छी या बुरी, यह समझनेके लिए जिसके पास कोई आंतरिक साधन नहीं है, वह इस बाह्य साधनका अवलंबन लेता है। मांने बच्चेकी पीठ ठोंककर कहा 'शाबाश' तो उसकी तबियत होती है कि मांका और काम भी करें। यही बात सकाम भक्तिकी है। सकाम भक्त परमेश्वरके पास जाकर कहेगा—'दो'। सबकुछ परमेश्वरसे मांगनेकी प्रवृत्ति होना कोई मामूली बात नहीं। यह असाधारण बात है। ज्ञानदेवने नामदेवसे पूछा—"तीर्थयात्राको चलोगे न ?" नामदेवने पूछा—"किसलिए ?" ज्ञानदेवने जवाब दिया—"साधुसंतोंका समागम होगा।" नामदेवने

कहा—"तो भगवान्‌से पूछ आता हूं।" नामदेव मंदिरमें जाकर भगवान्‌के सामने खड़े हो गये। उनकी आंखोंसे आंसू बहने लगे। भगवान्‌के उन समचरणोंकी ओर ही वह देखते रहे। अंतको रोते-रोते उन्होंने पूछा—"प्रभो, क्या मैं जाऊं ?" ज्ञानदेव पास ही थे। इस नामदेवको क्या आप पागल कहेंगे ? ऐसे लोग कम नहीं हैं जो स्त्री घरम न होनेसे रोते हैं। परंतु परमेश्वरके पास जाकर रोनेवाला भक्त भले सकाम ही क्यों न हो, असाधारण है। अब यह उसका अज्ञान समझना चाहिए कि जो वस्तु सचमुच मांगने योग्य है, उसे वह नहीं मांगता; परंतु इतनेके लिए उसकी सकाम भक्ति त्याज्य नहीं मानी जा सकती।

स्त्रियां सुबह उठकर नाना प्रकारके व्रत आदि करती हैं, काकड़ा[1], आरती करती हैं, तुलसीकी प्रदक्षिणा करती हैं। किसलिए ? मरनेके बाद परमेश्वरका अनुग्रह प्राप्त हो। उनके मनकी ऐसी भोली धारणा हो सकती है। परंतु उसके लिए वे व्रत, जप, उपवास आदि अनुष्ठान करती हैं। ऐसे व्रत-शील परिवारमें महापुरुषोंका जन्म होता है। तुलसीदासके कुलमें रामतीर्थ उत्पन्न हुए। रामतीर्थ फारसी भाषाके ज्ञाता थे। किसीने कह दिया—"तुलसीदासके कुलमें जन्मे हो और तुम संस्कृत नहीं जानते हो ?" रामतीर्थको यह बात चुभ गई। कुल-स्मृतिका यह कितना सामर्थ्य ! इससे प्रेरित होकर वे संस्कृतके प्रगाढ़ अध्ययनमें जुट पड़े। स्त्रियां जो भक्तिभाव रखती हैं, उसकी दिल्लगी न उड़ानी चाहिए। जहां भक्तिका ऐसा एक-एक क्षण संचित होता है, वहां तेजस्वी संतति उत्पन्न होती है। इसीलिए भगवान् कहते हैं—"मेरा भक्त सकाम होगा तो भी उसकी भक्तिको दृढ़ करूंगा। उसके मनमें गोलमाल नहीं होने दूंगा। यदि वह मुझसे सच्चे हृदयसे प्रार्थना करेगा कि मेरा रोग दूर कर दो तो मैं उसके आरोग्यकी भावनाको पुष्ट करके उसका रोग दूर कर दूंगा। किसी भी निमित्तसे क्यों न हो, वह मेरे पास आवेगा तो मैं उसकी पीठपर हाथ फेरकर उसकी कद्र ही करूंगा।" ध्रुव का ही उदाहरण लीजिए। पिताजीकी गोदीमें बैठने न पाया तो उसकी मांने कहा, "ईश्वरसे स्थान मांग।"

---

१ सुबह की जानेवाली विशिष्ट आरती, बड़ी बातीवाली।

वह उपासनामें जुट पड़ा। भगवान्ने उसे अचल स्थान दे दिया। मन यदि निष्काम न हो तो भी क्या हुआ ? असल बात यह है कि मनुष्य जाता किसके पास है, मांगता किससे है ? संसारके सामने हाथ न पसारकर ईश्वरको मनानेकी वृत्तिका महत्त्व कम न आंकना चाहिए।

निमित्त कुछ भी हो, तुम भक्ति-मंदिरमें जाओ तो। शुरूमें यदि कामना लेकर भी आये होगे तो भी आगे चलकर निष्काम हो जाओगे। प्रर्दशिनियां की जाती हैं। उनके संचालक कहते हैं—"अजी, आप आकर तो देखिए, कैसी बढ़िया, रंगीन, महीन खादी बनने लगी है। जरा नमूने तो देखिए।" गाहक आता है व प्रभावित होता है। यही बात भक्तिकी है। भक्ति-मंदिरमें एक बार प्रवेश तो करो, फिर वहांका सौंदर्य व सामर्थ्य अपने-आप मालूम हो जायगा। स्वर्ग जाते हुए धर्म-राजके साथ अंतको एक कुत्ता ही रह गया। भीम, अर्जुन, सब रास्तेमें गल गए। स्वर्ग-द्वारके पास धर्मसे कहा गया—"तुम आ सकते हो, परंतु यह कुत्ता नहीं जा सकता।" धर्मने कहा—"अगर मेरा कुत्ता नहीं जा सकता तो मैं भी नहीं आ सकता।" अनन्य सेवा करनेवाला कुत्ता भी क्यों न हो, परंतु दूसरे 'मैं-मैं' करनेवालोंसे तो वह श्रेष्ठ ही है। और वह कुत्ता भीम-अर्जुनसे भी श्रेष्ठ साबित हुआ। परमेश्वरकी ओर जानेवाला भले ही एक कीड़ा ही क्यों न हो, वह परमेश्वरकी ओर न जानेवाले बड़े-से-बड़े व्यक्तिसे श्रेष्ठ व महान् है। मंदिरमें कछुए व नंदीकी मूर्तियां होती हैं, परंतु उस नंदी—बैलको सब नमस्कार करते हैं; क्योंकि वह साधारण बैल नहीं है। वह भगवान्के सामने रहता है। बैल होनेपर भी यह नहीं भूल सकते कि वह परमेश्वरका है। बड़े-बड़े बुद्धिमानोंकी अपेक्षा वह श्रेष्ठ है। एक बावला जीव भी क्यों न हो, वह यदि भगवान्का स्मरण करता है तो विश्व-वंद्य हो जाता है।

एक बार मैं रेलमें जा रहा था। यमुनाके पुलपर गाड़ी आई। पासमें एक आदमीने बड़े पुलकित हृदयसे उसमें एक धेला डाल दिया। पड़ोसमें एक आलोचक महाशय बैठे थे। कहने लगे—"देश पहले ही कंगाल है और ये लोग यों व्यर्थ पैसा फेंकते हैं।" मैंने कहा—"आपने उसके हेतुको पहचाना नहीं। जिस भावनासे उसने धेला-पैसा फेंका, उसकी कीमत दो-चार पैसे भी हो सकती है या नहीं ? यदि दूसरे

सत्कार्यके लिए पैसे दिये होते तो यह दान और भी अच्छा होता। किंतु इस बातका विचार पीछे करेंगे। परंतु उस भावनाशील मनुष्यने तो इसी भावनासे प्रेरित होकर यह त्याग किया है कि यह नदी क्या, ईश्वरकी करुणा ही बह रही है। इस भावनाके लिए आपके अर्थ-शास्त्रमें कोई स्थान है क्या ? देशकी एक नदीको देखकर उसका अंतःकरण द्रवित हो उठा। यदि इस भावनाकी आप कद्र कर सकें तो मैं आपकी देश-भक्तिको परखूंगा।" देश-भक्तिका अर्थ क्या रोटी है ? देशकी एक महान् नदीको देखकर यदि यह भावना मनमें जगती है कि अपनी सारी संपत्ति इसमें डुबो दूं, उसके चरणोंमें अर्पण करदूं, तो यह कितनी बड़ी देश-भक्ति है ? वह सारी धन-दौलत, वे सब हरे-पीले पत्थर, कीड़ोंकी विष्ठासे बने मोती व कोयलेसे बने हीरे—इन सबकी कीमत पानीमें डुबो देने लायक ही है। परमेश्वरके चरणोंके आगे ये सब धूल, तुच्छ समझो। आप कहेंगे कि नदीका व परमेश्वरके चरणोंका क्या संबंध? आपकी सृष्टि में परमात्माका कुछ सम्बन्ध है भी ? नदी है, आक्सिजन व हाइड्रोजन। सूर्य है, गैस की बत्तीका एक बड़ा-सा नमूना। उसे नमस्कार क्या करें ? नमस्कार करना होगा सिर्फ आपकी रोटीको। फिर उस रोटी में भी भला क्या है ? वह भी तो आखिर एक सफेद मिट्टी ही है। उसके लिए क्यों इतनी राल टपकाते हो ? इतना बड़ा यह सूर्य उगा है, ऐसी यह सुंदर नदी बह रही है—इनमें यदि परमेश्वरका अनुभव न होगा तो फिर होगा कहां ? अंग्रेज कवि वर्डस्वर्थ बड़े दुःखसे कहता है—"पहले जब मैं इंद्र-धनुष देखता था, तो मैं नाच उठता था। हृदय हिलोरें मारने लगता था। पर आज मैं क्यों नहीं नाच उठता ? पहलेकी जीवन-माधुरी खोकर कहीं मैं पत्थर तो नहीं हो गया ?"

मतलब यह कि सकाम भक्ति अथवा गंवार मनुष्यकी भावनाका भी बड़ा महत्त्व है। अंतमें इससे महान् सामर्थ्य पैदा होता है। जीवधारी कोई भी व कैसा ही हो, वह जब एक बार परमेश्वरके दरबारमें आ जाता है तो फिर मान्य हो जाता है। आगमें किसीभी लड़कीको डालिये, वह जल ही उठेगी। परमेश्वरकी भक्ति एक अपूर्व साधना है। परमेश्वर सकाम भक्तिकी भी कद्र करेगा। आगे जाकर वह भक्ति निष्कामता व पूर्णताकी ओर चली जायगी।

(३५)

सकाम भक्त, यह एक प्रकार हुआ। अब निष्काम भक्ति करनेवालोंसे मिलें। इसमें भी और दो प्रकार—एकांगी और पूर्ण। एकांगीके तीन प्रकार। उनमें पहला प्रकार आर्त्त भक्तोंका। आर्त्त होता है दयाप्रार्थी, भगवान्‌के लिए रोने-चिल्लाने व छटपटानेवाला, जैसे नामदेव। वह इस बातके लिए उत्सुक, व्याकुल, अधीर, आतुर रहता है कि कब भगवान्‌के प्रेम-रसका पान करूँगा, कब उससे गले लिपटकर जीवनको कृतार्थ करूँगा, कब उसके चरणोंमें अपनेको डालकर धन्य होऊँगा! प्रत्येक कार्यमें वह यह देखेगा कि सच्चाई, हार्दिकता, व्याकुलता, प्रेम उसमें है या नहीं? दूसरा प्रकार है, जिज्ञासुओंका। फिलहाल अपने देशमें इस श्रेणीके भक्त बहुत नहीं हैं। इस कोटिके भक्त कोई गौरीशंकरपर बार-बार चढ़ेंगे व मरेंगे, कोई उत्तर ध्रुव की खोजमें निकलेंगे और अपनी खोजके फल कागज़पर लिखकर उन्हें बोतलमें बंद करके पानीमें छोड़कर मर जायंगे, कोई ज्वालामुखीके उदरमें उतरेंगे। अभी तो हिन्दुस्तानियोंक लिए मौत एक हौआ हो बैठी है। कुटुंब और परिवारके भरण-पोषणसे बढ़कर कोई पुरुषार्थ ही नहीं रहा है। जिज्ञासु भक्तके पास अदम्य जिज्ञासा होती है। वह प्रत्येक वस्तुके गुण-धर्मकी खोज करता है। मनुष्य जैसे नदी-मुखके द्वारा अन्तमें समुद्रको पा जाता है, उसी तरह यह जिज्ञासु भी अन्तको परमेश्वर तक पहुँच जायगा। तीसरा वर्ग है, अर्थार्थियोंका। अर्थार्थीका अर्थ है प्रत्येक बातमें अर्थ देखनेवाला। 'अर्थ' का यहाँ रुपये-पैसोंसे मतलब नहीं, बल्कि हित-कल्याणसे है। किसी भी बात की जाँच करते समय वह उसे इस कसौटीपर कसेगा कि इसके द्वारा समाजका क्या कल्याण हो। वह देखेगा कि मैं जो कुछ कहता, लिखता, करता हूँ, उससे संसारका मंगल होगा या नहीं? निरुपयोगी अहितकर क्रिया उसे मंजूर न होगी। संसार के हितकी चिंता करनेवाला कितना बड़ा महात्मा है! जगत्‌का कल्याण ही उसका आनन्द है। जो प्रेमकी दृष्टिसे समस्त क्रियाओंको देखता है वह आर्त्त, ज्ञानकी दृष्टिसे देखता है वह जिज्ञासु व सबके कल्याणकी दृष्टिसे देखता है वह अर्थार्थी।

ये तीनों भक्त हैं तो निष्काम, परन्तु एकांगी हैं। एक कर्मके

द्वारा, दूसरा हृदयके द्वारा, तीसरा बुद्धिके द्वारा, ईश्वर के पास पहुँचता हैं। अब रहा बाकी पूर्ण भक्तका प्रकार। इसीको ज्ञानी भी कह सकते हैं। इस भक्तको जो कुछ दीखता है, सो सब परमेश्वरका ही रूप। कुरूप-सुरूप, राव-रंक, स्त्री-पुरुष, पशु-पक्षी सर्वत्र परमात्माके ही पावन दर्शन।

नर नारी बच्चे सब ही नारायण ।
ऐसा मेरा मन बनाओ प्रभु ॥

संत तुकारामकी ऐसी प्रार्थना है। हिन्दू-धर्ममें जैसे नाग-पूजा, हाथीकी सूंड रखनेवाले देवताकी पूजा, पेड़ोंकी पूजा आदि पागलपनके नमूने हैं, उनसे भी अधिक पागलपनकी कमाल ज्ञानी भक्तों के यहाँ हुई दीखती हैं। उनसे कोई भी क्यों न मिले, उन्हें चींटीसे लेकर चंद्र-सूर्यतक सर्वत्र एक ही परमात्मा दीखता है और उनका हृदय आनंदसे हिलोरें मारने लगता है।

फिर वह सुख अनंत-अपार ।
आनंद से सागर हिलोरता ॥

ऐसा जो वह दिव्य व भव्य दर्शन है, उसे भले ही आप भ्रम कहें। परंतु यह भ्रम सौख्यकी राशि है, आनंदका स्थान-निधि है। गंभीर सागरमें उसे परमेश्वरका विलास दिखाई देता है, गो-मातामें उसे ईश्वरका वात्सल्य नजर आता है, पृथ्वीमें उसकी क्षमता दीख पड़ती है, निरभ्र आकाशमें उसकी निर्मलता, रवि-चंद्र-तारोंमें उसका तेज व भव्यता दीखती है। फूलमें उसकी कोमलता, दुर्जनों में अपनी परीक्षा करनेवाला परमेश्वर दीखता है। इस तरह 'एक ही परमात्मा सर्वत्र रम रहा है'—यह देखनेका अभ्यास ज्ञानी भक्त किया करते हैं। ऐसा करते हुए वह—ज्ञानी भक्त—एक दिन ईश्वरमें ही मिल जाता है।

रविवार, ३-४-३२

आठवाँ अध्याय

(३६)

मनुष्यका जीवन अनेक संस्कारोंसे युक्त होता है। हमसे असंख्य क्रियाएँ होती रहती हैं। यदि हम उनका हिसाब लगाने लगें तो उसका अंत ही नहीं आ सकता। यदि मोटे तौरपर हम चौबीस घंटोंकी ही क्रियाओंको देखने लगें तो उनकी गिनती कितनी बढ़ जायगी। खाना, पीना, बैठना, सोना, चलना, फिरना, काम करना, लिखना, बोलना, पढ़ना—इनके अलावा नाना प्रकारके स्वप्न, राग-द्वेष, मानापमान, सुख-दु:ख आदि अनंत प्रकार दिखाई देंगे। इन सबके संस्कार हमारे मनपर होते रहते हैं। अत: अगर कोई मुझसे पूछे कि जीवन किसे कहते हैं तो मैं उसकी व्याख्या करूँगा—संस्कार-संचय।

संस्कार दोनों प्रकारके होते हैं—अच्छे भी और बुरे भी। दोनोंका प्रभाव मनुष्यके जीवनपर पड़ता रहता है। बचपनकी क्रियाओंकी तो हमें याद भी नहीं रहती। सारा बालपन इस तरह मिट जाता है, जैसे स्लेटपर लिखकर पोंछ दिया हो। पूर्व-जन्मके संस्कार तो बिलकुल ही साफ पोंछ दिये-जैसे हो जाते हैं—यहाँतक कि इस बातकी भी शंका उठ सकती है कि पूर्व-जन्म था भी या नहीं। जब इस जन्मका ही बचपन याद नहीं आता तो फिर पूर्व-जन्मकी तो बात ही क्या ? पूर्व-जन्म को जाने दीजिए, हम इसी जन्मका विचार करें। जितनी क्रियाएँ हमें याद रहती हैं, उतनी ही होती हैं—सो बात नहीं। क्रियाएं अनेक होती हैं और ज्ञान भी अनेक; परंतु ये क्रियाएँ व ज्ञान मिटकर अंतमें कुछ संस्कार ही शेष रह जाते हैं। रातको सोते समय दिनकी सब क्रियाओंको यदि हम याद करने लगें तो भी याद नहीं आतीं। याद कौन-सी क्रियाएँ आती हैं ? वे ही क्रियाएँ हमारी आँखोंके सामने आ जाती हैं, जो बहुत स्पष्ट व प्रभावकारी होती हैं। यदि हमारा बहुत लड़ाई-झगड़ा किसीसे हुआ हो, तो वह याद रहता है क्योंकि उस दिनकी वही मुख्य कमाई

होती है। मुख्य व स्पष्ट क्रियाओंके संस्कार मनपर बड़े गहरे हो जाते हैं। मुख्य क्रिया याद रहती है, शेष सब फीकी पड़ जाती हैं। यदि हम रोजनामचा लिखने बैठें तो दो ही चार महत्त्वकी बातें लिख लेते हैं। यदि प्रतिदिनके ऐसे संस्कारको लेकर एक हफ्तेका हिसाब लगाने लग तो और भी कई बातें इसमेंसे निकल जायंगी व सप्ताहकी मुख्य घटनाएँ ही कायम रह जायेंगी। फिर महीनेभर बाद हम अपने पिछले कामोंका हिसाब लगाने बैठें तो उतनी ही बातें हमारे सामने आती रहेंगी, जो उस मासमें बहुत मुख्य-मुख्य रही होंगी। इसी तरह फिर छः महीना, साल, पाँच सालका हिसाब लगावें तो बहुत ही थोड़ी महत्त्वपूर्ण बातें याद रहेंगी और उन्हींके संस्कार बनेंगे। असंख्य क्रियाओं व अनंत ज्ञानोंके हो जानेपर भी अंतको मनके पास बहुत थोड़ी बचत रहती है। वे विभिन्न कर्मव ज्ञान आये और अपना काम करके मर गये। उन सब कर्मोंके पांच-दस दृढ़ संस्कार ही शेष रह जाते हैं। ये संस्कार ही हमारी पूँजी हैं। हम जीवनरूपी व्यापार करके सिर्फ संस्काररूपी संपत्ति जोड़ते हैं। जैसे व्यापारी रोजका, महीनेका व सालभरका जमा-खर्च करके अंतमें नफे या टोटेका एक ही आँकड़ा निकालता है, उसी प्रकार जीवनका हाल होता है। अनेक संस्कारोंका जमा-नामे होते-होते अंतको एक अत्यंत ठोस, सीमित निचोड़ जैसी चीज़ बाकी बच जाती है। जब जीवनकी अंतिम घड़ी आती है तब जीवनकी आखिरी रोकड़ बाकी आत्मा याद करने लगता है। जन्मभरमें क्या-क्या किया—इसकी जब वह याद करता है तो सारी कमाईके रूपमें दो-चार बातें ही नजर आती हैं। इसका यह अर्थ नहीं कि वे सब कर्म व ज्ञान व्यर्थ चले गये। उनका काम पूरा हो गया है। हजारों उखाड़-पखाड़के बाद अखीरमें कुल पाँच हजारका घाटा-नफा या दस हजारका नफा, इतना ही सार व्यापारीके हाथ लगता है। नुकसान हुआ तो छाती बैठ जाती है, फायदा रहा तो दिल उछलने लगता है।

हमारे जीवनकी भी ऐसी बात है। मरनेके समय यदि खानेकी वासना हुई तो सारी जिंदगीभर भोजनकी रुचि लेनेका ही अभ्यास करते रहे, यह सिद्ध होगा। भोजन या स्वादकी वासना, यही जिंदगी-भरकी कमाई। किसी माताको मरते समय यदि बेटेकी याद हो आई

तो उसका पुत्र-संबंधी संस्कार ही बलवान मानना चाहिए। बाकी जो असंख्य कर्म किये, वे गौण सिद्ध हो गये। अंकगणितमें अपूर्णांकके सवाल होते हैं। कितनी बड़ी-बड़ी संख्याएं, परंतु संक्षेप बनाते-बनाते अंतको एक अथवा शून्य ऐसा उत्तर आता है। इसी तरह जीवनमें संस्कारोंकी अनेक संख्याएं चली जाकर अंतमें एक बलवान् संस्कार ही साररूपमें रह जाता है। जीवनरूपी सवालका वह उत्तर होता है। अंतकालीन स्मरण ही सारे जीवनका फलित होता है।

जीवनका यह अंतिम सार मधुर निकले, अंतकी यह घड़ी मधुर हो, इसी दृष्टिसे सारे जीवनके उद्योग होने चाहिए। जिसका अंत मधुर, वह सब मधुर। उस अंतिम उत्तरपर ध्यान रखकर सारे जीवनका सवाल हल करना चाहिए। इस ध्येयको दृष्टिके सामने रखकर सारे जीवनकी योजना बनाओ। जब कोई सवाल हल करते हो तो जो खास प्रश्न पूछा गया है, उसीको सामने रखकर उत्तर लाते हैं। उसी तरहकी रीतिसे काम लेना पड़ता है। अतः मरनेके समय जो संस्कार दृढ़ रहें, या उठें—ऐसी इच्छा होगी, उसके अनुसार ही सारे जीवनका प्रवाह मोड़ना चाहिए। दिन-रात उसीकी तरफ झुकाव रहना चाहिए।

(३७)

इस आठव अध्यायमें यह सिद्धांत बताया गया है कि जो विचार मरते समय प्रबल रहता है वही अगले जन्ममें बलवत्तर साबित होता है। इस पाथेयको साथ लेकर जीव आगे यात्राके लिए निकलता है। आज दिनकी कमाई लेकर, नींदके बाद हम कलका दिन शुरू करते हैं। उसी तरह इस जन्मकी जमा-पूंजी लेकर मरणरूपी नींदके बाद फिर हमारी यात्रा शुरू होती है। इस जन्मका जो अंत है वही अगले जन्मकी शुरुआत होती है। अतः सदैव मरणका स्मरण रखकर चलो।

मरणका स्मरण रखनेकी जरूरत और भी इसलिए है कि मृत्युकी भयानकताका मुकाबला किया जा सके, उसका रास्ता निकाला जा सके। एकनाथ महाराजकी एक बात है। एक सज्जनने उनसे पूछा—"महाराज, आपका जीवन कितना सीधा-सादा, कितना निष्पाप ! हमारा जीवन ऐसा क्यों नहीं ? आप कभी किसीपर गुस्सा नहीं होते, किसीसे लड़ाई-झगड़ा नहीं, टंटा-बखेड़ा नहीं। कितना शांत, कितना प्रेमपूर्ण, कितना

पवित्र है आपका स्वभाव !" एकनाथने कहा—"फिलहाल मेरी बात रहने दो। तुम्हारे संबंधमें मुझे एक बात मालूम हुई है। आजसे सातव दिन तुम्हारी मौत आ जायेगी।" अब एकनाथकी कही बातको झूठ कौन मानता? सात दिनमें मृत्यु। सिर्फ १६८ ही घंटे बाकी रहे। हे भगवन्, यह क्या अनर्थ! वह मनुष्य जल्दी-जल्दी घर दौड़ गया। कुछ सूझ नहीं पड़ता था। आखिरी समयकी, सबकुछ समेट लेनेकी बातें कर रहा था। अब बीमार हो गया। बिस्तरपर पड़ गया। छः दिन बीत गये—सातवें दिन एकनाथ उससे मिलने आये। उसने नमस्कार किया। एकनाथने पूछा—"क्या हाल है?" उसने कहा—"बस, अब चला।" नाथजीने पूछा—"इन छः दिनोंमें कितना पाप किया? पापके कितने विचार मनमें आये?" वह आसन्न-मरण व्यक्ति बोला—"नाथजी, पापका विचार करनेकी तो बिलकुल फुरसत ही नहीं मिली। मौत एक-सी आंखोंके सामने खड़ी थी।" नाथजीने कहा—"हमारा जीवन इतना निष्पाप क्यों है—इसका उत्तर अब मिल गया न? मरणरूपी शेर सदैव सामने खड़ा रहे तो फिर पाप सूझेगा किसे? पाप करनेके लिए भी निश्चितता चाहिए। मरणका सदैव स्मरण रखना पापसे मुक्त होनेका उपाय ह। यदि मौत सामने दीखती रहे तो फिर मनष्य किस बलपर पाप करेगा?"

परंतु मनुष्य मरणका स्मरण टालता है। पास्कल नामक एक फ्रेंच दार्शनिक हो गया है। उसकी एक पुस्तक है—'पांसे'। 'पांसे' का अर्थ है 'विचार'। उसने इस पुस्तकमें भिन्न-भिन्न स्फुट विचार दिये ह। उसमें वह एक जगह कहता है—"मौत सदा पीछे खड़ी ह; परंतु मनुष्य का यह प्रयत्न सतत चल रहा है कि उसे भूलें कैसे? किंतु वह यह बात अपने सामने नहीं रखता कि मृत्युको याद रखकर कैसे चलें?" मनुष्य-को 'मरण' शब्दतक बरदाश्त नहीं होता। खाते समय यदि मौत का नाम किसीने ले लिया तो कहते हैं—"क्या अशुभ बात मुंहसे निकालते हो?" परंतु इतना होते हुए भी हमारा एक-एक कदम मौतकी तरफ जा ही रहा है। बंबईका टिकट कटाकर जब एक बार हम रेलमें बैठ गये तो हम भले ही बैठे रहें, परंतु गाड़ी हमें बंबई लेजाकर छोड़ देगी। जन्म होते ही हमने मौतका टिकट कटा रखा है। अब आप बैठे रहिये या

दौड़ते रहिये। बैठे रहेंगे तो भी मौत आवेगी, दौड़ते रहेंगे तो भी आवेगी। आप मौतका विचार करें या न करें, वह आये बिना न रहेगी। मरण निश्चित है, और बातें भले ही अनिश्चित हों। सूर्य अस्ताचलकी ओर गया कि हमारी आयुका एक अंश वह खा जाता है। जीवनके भाग यों कटते जा रहे हैं, जीवन छीज रहा है, एक-एक बूंद घट रहा है, तो भी मनुष्यको उसका कुछ सोच नहीं होता। ज्ञानेश्वर कहते हैं—"आश्चर्य दीखता है।" ज्ञानदेवको आश्चर्य होता है कि मनुष्य क्योंकर इतनी निश्चिंतता अनुभव करता है। मनुष्यको मरणका इतना भय मालूम होता है कि उसे मरणका विचारतक सहन नहीं होता। वह सदा उसके विचार व ख्यालतकसे बचना चाहता है। आंखोंपर पर्दा डालकर बैठ जाता है। लड़ाई में जानेवाले सैनिक, मरणका खयाल न आने पावे इसलिए खेलते हैं, नाचते-गाते हैं, सिगरेट पीते हैं। पास्कल कहता है कि "मरण सर्वत्र प्रत्यक्ष दीखते हुए भी यह टामी, यह सिपाही उसे भूलनेके लिए खाने-पीनेमें व गान-तानम मस्त हो रहेगा।"

हम सब इस टामीकी तरह हैं। चेहरेको गोल हँसमुख बनाने का प्रयत्न करना, सूखा हो तो तेल, पाउडर लगाना, बाल सफेद हो गये हों तो खिजाब लगाना—आदि प्रयत्न मनुष्य करता है। छातीपर मौत नाच रही है—फिर भी हम टामीकी तरह उसे भूलनेका अक्षय प्रयत्न कर रहे हैं। और चाहे कुछ भी बातें करेंगे, पर 'मौतकी बात मत निकालो' कहेंगे। मैट्रिक पास लड़केसे पूछो कि "अब आगे क्या इरादा है ?" तो कहता है—"अभी मत पूछो, अभी तो फर्स्ट इयरमें हूं।" दूसरे साल फिर पूछोगे तो कहेगा—"पहले इंटर तो हो जाने दो, फिर देखेंगे।" यही सिलसिला चलता है। जो आगे होनेवाला है, उसका पहलेसे विचार क्या नहीं करना चाहिए ? अगले कदमके बारेमें पहलेसे सोच लेना चाहिए, नहीं तो वह खड्डेमें गिरा सकता है, परंतु विद्यार्थी इसको टालता है। बेचारेकी शिक्षा ही इतनी अंधकारमय होती है कि उससे उस पारका भविष्य दिखाई ही नहीं देता। अतः आगे क्या करना है, यह सवाल ही वह सामने नहीं आने देता, क्योंकि उसे चारों ओर अंधकार ही दिखाई देता है। परंतु भविष्य टाला नहीं जा सकता। वह तो सिरपर आकर सवार होता ही है।

कालेजमें प्रोफेसर तर्क-शास्त्र पढ़ाता है—"मनुष्य मर्त्य है। सुकरात मनुष्य है, अतः सुकरात मरेगा।" यह अनुमान वह सिखाता है। वह सुकरातका उदाहरण देता है, खुद अपना क्यों नहीं देता ? प्रोफेसर भी मर्त्य है। वह यों नहीं सिखावेगा कि "सब मनुष्य मर्त्य हैं, अतः मैं प्रोफेसर भी मर्त्य हूं और तुम शिष्य भी मर्त्य हो।" वह उस मरणको सुकरातपर ढकेल देता है, क्योंकि सुकरात तो मर चुका है। वह शिकायत करनेके लिए हाजिर नहीं है। शिष्य व गुरु, दोनों सुकरातको मरण सौंपकर अपने लिए 'तेरी भी चुप,' 'मेरी भी चुप,' वाली गति करते हैं। मानो वे यह समझे बैठे हैं कि हम तो बहुत सुरक्षित हैं।

इस तरह मृत्युको भूलनेका यह प्रयत्न सर्वत्र जान-बूझकर हो रहा है। परंतु इससे मृत्यु कहीं टल सकती है ? कल मां मर गई तो मौत सामने आ गई। मनुष्य निर्भयतापूर्वक मरणका विचार करके यह हिम्मत ही नहीं करता कि उसमेंसे रास्ता कैसे निकाला जाय। किसी हिरनका पीछा एक शेर कर रहा हो। चपल होनेसे हिरन खूब चौकड़ी भरता है, परंतु उसकी शक्ति कम पड़ती जाती है व अखीरमें वह थकता है। पीछेसे वह शेर-मृत्यु दौड़ा आ ही रहा है। उस समय उस हिरनकी क्या दशा होती है ? वह उस शेरकी ओर देख भी नहीं सकता। वह मिट्टीमें सींग व मुंह घुसेड़कर खड़ा हो जाता है, मानो निराधार होकर कहता है—"ले, अब आ व मुझे हड़प जा।" हम मरणको अपने सामने नहीं देख सकते। उससे बचनेके लिए हम हजारों तरकीब निकालेंगे तो भी उस मृत्युका जोर इतना होता है कि अंतमें वह हमारी गर्दन धर दबाता ही है।

और फिर जब मौत आती है तब मनुष्य अपने जीवनकी रोकड़-बाकी देखता है। परीक्षामें बैठा हुआ आलसी—मंद विद्यार्थी दवातमें कलम डुबोता है, बाहर निकालता है, परंतु सफेद पर काला करनेकी हिम्मत नहीं होती। अरे भाई, कुछ लिखोगे भी या नहीं ? सरस्वती आकर थोड़े ही जवाब लिख जायगी ? तीन घंटे खतम हो जाते हैं—वह कोरा कागज दे देता है या अखीरमें कुछ-न-कुछ घिस-घिसाकर दे जाता है। सवालको हल करना है, जवाब लिखना है, यह सूझता ही नहीं !

इधर देखता है, उधर देखता है। ऐसा ही हमारा हाल है। अतः हमें चाहिए कि हम इस बातको याद रखकर, कि जीवनका सिरा मौतकी ओर गया हुआ है, अंतिम क्षणको पुण्यमय, अत्यंत पावन व मधुर बनानेका अभ्यास जीवनभर करते रहें। आजसे ही इस बातका विचार करते रहना चाहिए कि मनपर ऊंचे-से-ऊंचे सुंदर-से-सुंदर संस्कार कैसे पड़ें। परंतु अच्छे संस्कारोंके अभ्यासकी पड़ी किसे है? इससे उलटा, बुरी बातोंका अभ्यास अलबत्ते दिन-रात होता रहता है। जीभ, आंख व कानको हम चटोरापन सिखा रहे हैं। चित्तको इससे भिन्न अभ्यासमें लगाना चाहिए। अच्छी बातोंकी ओर चित्त लगाना चाहिए। उसमें उसे रंग जाना चाहिए। जिस क्षण अपनी भूल प्रतीत हो जाय, उसी क्षणसे उसे सुधारनेमें व्यस्त हो जाना चाहिए। भूल मालूम हो जानेपर भी क्या उसे वैसी ही करते रहेंगे? जिस क्षण हमें अपनी भूल मालूम हुई, उसी क्षण हमारा पुनर्जन्म हुआ। उसे अपना नवीन बचपन, अपने जीवनका नवीन प्रभात, समझो। अब तुम सचमुचमें जगे हो। अब दिन-रात जीवनकी जांच-पड़ताल करते रहो व सावधान रहो। ऐसा न करोगे तो फिर फिसलोगे, फिर बुरी बातका अभ्यास शुरू हो जायगा।

बहुत साल पहले मैं अपनी दादी से मिलने गया था। बहुत बूढ़ी हो गई थी। मुझसे कहती—"विन्या, अब इधर मुझे याद नहीं रहता। घीकी दोहनी लेने जाती हूं, और वैसे ही लौट आती हूं।" परंतु पचास साल पहलेकी गहनोंकी एक बात मुझसे कहा करती। पांच मिनट पहलकी बात याद नहीं रहती, मगर पचास साल पहलेके बलवान् संस्कार अखीरतक सतेज थे। इसका कारण क्या? वह गहनेवाली बात उसने हरेकसे कही होगी। उस बातका सतत उच्चार होता रहा। अतः वह जीवनसे चिपककर बैठ गई। जीवनके साथ एक-रूप हो गई। मैंने मनमें कहा—"भगवान् करे, दादीको मरते समय उन गहनोंकी याद न आये तो भर पाये।"

(३८)

जिस बातका हम रात-दिन अभ्यास करते हैं, वह हमसे क्यों चिपकी न रहेगी? उस अजामिलकी कथा पढ़कर भ्रममें न पड़ जाना। वह ऊपरसे पापी था; परंतु उसके जीवनके भीतरसे पुण्यकी धारा बह

रही थी। वह पुण्य अंतिम क्षणमें जाग उठा। सदा-सर्वदा पाप करके अंतमें राम-नाम अचूक याद आ जायगा—इस धोखेमें मत रह जाना। बचपनसे ही मन लगाकर अभ्यास करो। ऐसी चिंता रखो कि हमेशा अच्छे ही संस्कार संगृहीत हों। ऐसा न कहो कि इससे क्या होगा, व उससे क्या होगा ? चार बजे ही क्यों उठें ? सात बजे उठें तो उससे क्या बिगड़ा ? ऐसा कहनेसे काम नहीं चलेगा। यदि मनको बराबर ऐसी आजादी देते चले गये तो अखीरमें फंस जाओगे। फिर सच्चे संस्कार अंकित नहीं होने पावेंगे। एक-एक कण बीनकर लक्ष्मी—संपत्ति जुटानी पड़ती है। एक-एक क्षणको व्यर्थ न जाने देते हुए विद्या-र्जनमें लगाना पड़ता है। इस बातका ध्यान रक्खो कि प्रत्येक क्षण संस्कार अच्छा ही पड़ रहा है न ? खराब बात कही तो पड़ गया उसी समय बुरा संस्कार। हमारी प्रत्येक कृति छैनी बनकर हमारे जीवनरूपी पत्थरको आकार देती है। दिन अच्छी तरह बीत गया तो भी सपनेमें बुरे खयाल आ जाते हैं। दस-पांच दिनके ही विचार सपनेमें आते हों, सो बात नहीं। कितने ही बुरे संस्कार गफलतमें पड़ जाते हैं। नहीं कह सकते कि वे कब जग पड़ेंगे। इसलिए छोटी-से-छोटी बातोंमें भी सजग रहना चाहिए। डूबतेको तिनकेका भी सहारा लग जाता है। हम संसार-सागरमें डूब रहे हैं। यदि हम थोड़ा भी अच्छा बोलें तो वह भी हमारे लिए आधार बन जाता है। भला किया व्यर्थ नहीं जाता। वह तुमको तार देगा। लेशमात्र भी बुरे संस्कार न होने चाहिए। सर्वदा ऐसा ही उद्योग करो, जिससे आंखें पवित्र रहें, कान निंदा न सुनें, अच्छा बोलें। यदि ऐसी सावधानी रखोगे तो आखिरी समयपर हुक्मी पासा पड़ेगा। हम अपने जीवन-मरणके स्वामी ही रहेंगे।

पवित्र संस्कार डालनेके लिए उदात्त विचार मनमें दौड़ाते रखने चाहिए। हाथ पवित्र कर्म करनेमें लगे रहें। भीतरसे ईश्वरका स्मरण व बाहरसे स्वधर्माचरण। हाथोंसे सेवारूपी कर्म, मनमें विकर्म। ऐसा नित्य करते रहना चाहिए। गांधीजी को देखो, रोज चरखा चलाते हैं। वे रोज कातनेपर जोर देते हैं। रोज क्यों कातें ? कपड़ेके लिए कभी-कभी कात लिया करें तो क्या काम नहीं चलेगा ? परंतु यह तो हुआ व्यवहार। रोज कातनेमें आध्यात्मिकता है। देशके लिए मुझे कुछ-

न-कुछ करना है, इस बातका वह चिन्तन है। वह सूत हमें नित्य दरिद्र-नारायणसे जोड़ता है। वह संस्कार दृढ़ होता है।

डाक्टरने रोज दवा पीनेके लिए कहा, पर हम सारी दवा एक ही रोज पी लें तो ? तो वह बेतुकी बात हो जायगी। औषधिका उद्देश्य उससे सफल न होगा। दवाका संस्कार रोज-ब-रोज पड़कर प्रकृतिकी विकृति दूर करनी चाहिए। ऐसी ही बात जीवनकी है। शंकरपर धीरे-धीरे ही अभिषेक करना पड़ता है। मेरा यह प्रिय दृष्टांत है। बचपनमें मैं नित्य इस क्रियाको देखता था। चौबीस घंटे मिलाकर बहुत हुआ तो वह पानी दो बालटी होता होगा। फिर एक साथ दो बालटी शिवजीपर एकदम क्यों न उंडेल दी जायं ? इसका उत्तर बचपनमें ही मुझे मिल गया। पानी एकदम उंडेल देनेसे वह कर्म सफल नहीं हो सकता। एक-एक बूंद-धारा पड़ना ही उपासना है। समान संस्कारोंकी सतत धारा लगनी ही चाहिए। जो संस्कार सुबह, वही दोपहरको, वही शामको, वही दिन में, वही रातमें, वही कल, वही आज, व जो आज वही कल, जो इस साल वही अगले साल, जो इस जन्ममें, वही अगले जन्ममें, जो जीवनमें, वही अंतकालमें---ऐसी एक-एक सत्संस्कारकी दिव्यधारा सारे जीवनमें सतत बहती रहनी चाहिए। ऐसा प्रवाह अखंड चालू रहेगा तो ही हम अंतमें जीत सकेंगे। तभी हम जाकर मुकामपर अपना झंडा गाड़ सकेंगे। संस्कारोंका प्रवाह एक ही दिशा में बहना चाहिए, नहीं तो वह पहाड़पर गिरा पानी यदि बारह दिशामें बह निकला तो फिर उससे नदी नहीं बन सकती। इसके विपरीत अगर सारा पानी एक ही दिशामें बहेगा तो वह सोतेसे धारा, धारासे प्रवाह, प्रवाहसे नदी, नदीसे गंगा बनकर ठेठ समुद्र-तक जा पहुँचेगी। जो पानी एक ही दिशामें बहा, वह जाकर समुद्रमें मिल गया, परंतु जो चारों दिशाओंमें बहा, वह कहीं आगे जाकर खतम हो गया। यही बात संस्कारोंकी है। संस्कार यदि आते गये व जाते गये तो क्या फायदा ? यदि जीवनमें संस्कारोंका पवित्र प्रवाह सतत बहता रहा तो ही अंतमें मरण महाआनंदका विधान मालूम पड़ेगा। जो यात्री रास्तेमें ज्यादा न ठहरते हुए रास्तेके मोह व प्रलो-भनसे बचते हुए कठिन चढ़ाई कदम जमा-जमाकर चढ़ता हुआ शिखर-

तक पहुंच गया, व ऊपर पहुंचकर छातीपरके सारे बोझ व बंधन हटाकर वहांकी खुली हवाका अनुभव करने लगा, उसके आनंदका अंदाज क्या दूसरे लोग लगा सकेंगे ? पर जो मुसाफिर रास्तेमें ही अटक गया, उसके लिए सूर्य कहीं रुकता है ?

(३९)

सार यह है कि बाहरसे सतत स्वधर्माचरण व भीतरसे हरि-स्मरण-रूपी चित्त-शुद्धिकी क्रिया, इस तरह जब ये अंतर्बाह्य कर्म-विकर्मके प्रवाह काम करेंगे, तब मरण आनंददायी मालूम होगा । इसलिए भगवान् कहते हैं—

तस्मात् सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च

मेरा अखंड स्मरण करो व लड़ते रहो । "उसीमें रंग रहा सदा ।" सदा ईश्वरमें लीन रहो । ईश्वरी प्रेमसे जब अंतर्बाह्य रंग जाओगे, जब वह रंग सारे जीवनमें फैल जायगा, तभी पवित्र बातोंमें सदैव आनंद मालूम होने लगेगा । तब बुरी वृत्तियां सामने आकर खड़ी ही न रहेंगी । सुंदर, बढ़िया मनोरथोंके अंकुर मनमें उगने लगेंगे । अच्छे कर्म अपने आप होने लगेंगे ।

यह तो ठीक है कि ईश्वर-स्मरणसे अच्छे कर्म सहज भावसे होने लगेंगे; परंतु भगवान्की यह भी आज्ञा है—सतत लड़ते रहो । तुकाराम महाराज कहते हैं—

"दिन रात हमें युद्धकी ही धुन ।
अंतर्बाह्य जग और मन ।।"

भीतर व बाहर अनंत सृष्टि व्याप्त है । इस सृष्टिसे मनका सतत झगड़ा जारी रहता है । इस झगड़ेमें हर बार जय ही होगी, यह नहीं कह सकते । जो अंतको पा लेगा, वह सच्चा विजयी । अंतमें जो फैसला हो वही सही । कई बार यश मिलेगा तो कई बार अपयश । अपयश—असफलता मिली तो निराश होने का कोई कारण नहीं है । पत्थरपर उन्नीस बार चोट लगनेसे वह नहीं फूटा । बीसवीं बारकी चोटसे जरूर फूट गया समझो, तो फिर क्या वे उन्नीस चोटें फिजूल ही गईं ? उस बीसवीं चोटकी सफलताकी तैयारी वे उन्नीस चोटें कर रही थीं ।

निराश होनेका अर्थ है नास्तिक होना। विश्वास रखो कि परमेश्वर हमारा रक्षक है। बच्चेकी हिम्मत बढ़ाने के लिए मां उसे इधर-उधर जाने देती है; परंतु वह उसे गिरने नहीं देती। जहां गिरने लगा कि झट आकर धीरेसे सहारा लगा देती है। ईश्वर भी तुमपर सतत निगाह रखता है। तुम्हारे जीवनरूपी पतंगकी डोरी उसके हाथमें है। कभी वह डोर खींच लेता है, कभी ढीली छोड़ देता है; परंतु यह विश्वास रखो कि डोर है उसके हाथमें। गंगाके घाटपर तैरना सिखाते हैं। घाटपरके वृक्षमें संकल या डोरी बंधी हुई होती है। वह कमरसे बांधकर पानीमें आदमीको फेंक देते हैं। परंतु सिखानेवाले उस्ताद भी पानीमें रहते ही हैं। वह नौसिखिया पहले तो दो-चार बार डूबता-उतराता है, परंतु अंतमें वह तैरनेकी कला सीख जाता है। इसी तरह परमेश्वर हमें जीवनकी कला सिखा रहा है।

(४०)

अतः परमेश्वरपर श्रद्धा रखकर यदि 'काया-वाचा-मनसा' दिन-रात लड़ते रहोगे तो अंतकी घड़ी अतिशय उत्तम हो जायगी। उस समय सब देवता अनुकूल हो जायंगे, यही बात इस अध्यायके अंतमें एक रूपकके द्वारा बताई गई है। इस रूपकको आप लोग समझ लीजिए। जिसके मरणके समय आग जल रही है, सूर्य चमक रहा है, शुक्ल पक्षका चंद्र बढ़ रहा है, उत्तरायणमें निरभ्र व सुंदर आकाश फैला हुआ है, वह ब्रह्ममें विलीन होता है और जिसकी मृत्युके समय धुआं फैल रहा हो, भीतर-बाहर अंधेरा हो रहा हो, कृष्ण पक्षका चंद्रमा क्षीण हो रहा हो, दक्षिणायनमें मलिन व अभ्राच्छादित आकाश फैल रहा हो तो वह फिरसे जन्म-मरणके फेरमें पड़ेगा।

बहुतसे लोग इस रूपकको पढ़कर चक्करमें पड़ जाते हैं। यदि यह चाहते हो कि पुण्य मरण हो तो अग्नि, सूर्य, चंद्र, आकाश इन देवताओंकी कृपा रहनी चाहिए। अग्नि कर्मका चिह्न है, यज्ञका चिह्न है। अंत समयमें भी यज्ञकी ज्वाला जलती रहनी चाहिए। न्यायमूर्ति रानडे कहते थे—"सतत कर्तव्यका पालन करते हुए यदि मौत आ जाय तो वह धन्य है। कुछ-न-कुछ पढ़ रहे हैं, लिख रहे हैं, कोई काम कर रहे हैं—ऐसी हालतमें मैं मरूं तो भर पाया।" 'आग जल रही है' इसका

अर्थ यह है। मरण समयमें भी कर्म करते रहें—यह अग्निकी कृपा है। सूर्यकी कृपाका अर्थ यह है कि बुद्धिकी प्रभा अंततक चमकती रहनी चाहिए। चंद्रकी कृपाका मतलब यह है कि मौतके समय पवित्र भावना सतत बढ़ती रहनी चाहिए। चंद्र मनका—भावनाका—देवता है। शुक्ल पक्षके चंद्रकी तरह मनकी प्रेम, भक्ति, उत्साह, परोपकार, दया इत्यादि शुद्ध भावनाओंका पूर्ण विकास होना चाहिए। आकाशकी कृपासे अभिप्राय है कि हृदयाकाशमें आसक्तिरूपी बादल बिलकुल न रहने चाहिए। एक बार गांधीजी ने कहा—"मैं दिन-रात चरखा-चरखा चिल्ला रहा हूं। चरखेको बड़ी पवित्र वस्तु मानता हूं। परंतु अंत समयमें उसकी भी वासना न रहनी चाहिए। जिसने मुझे चरखेकी प्रेरणाकी है, वह खुद चरखेकी चिंता करनेमें पूर्ण समर्थ है। चरखा अब दूसरे भले-भले लोगोंके हाथमें चला गया है। चरखेकी चिंता छोड़कर मुझे परमात्मासे मिलनेकी तैयारी करनी चाहिए।" मतलब यह कि उत्तरायणका अर्थ है, हृदयमें आसक्तिरूपी बादल न रहना।

आखिरी सांसतक हाथसे कोई-न-कोई सेवाकार्य हो रहा है, भावना-की पूर्णिमा चमक रही है, हृदयाकाशमें जरा भी आसक्ति नहीं है, बुद्धि सतेज है—इस तरह जिसकी मृत्यु होगी वह परमात्मामें जा मिला। ऐसा परम मंगलमय अंत लानेके लिए रात-दिन सावधान व दक्ष रहकर लड़ते रहना चाहिए। एक क्षणके लिए भी मनपर अशुभ संस्कार न पड़ने दीजिए। और ऐसा बल मिलता रहे, इसके लिए परमात्मासे सतत प्रार्थना करते रहना चाहिए। नाम-स्मरण, तत्त्व-स्मरण पुनः-पुनः करते रहना चाहिए।

रविवार, १०-४-३२

नवां अध्याय

(४१)

आज मेरे गलेमें दर्द है। मुझे संदेह है कि मेरी आवाज आपतक पहुंच सकेगी या नहीं ? इस समय साधुचरित बड़े माधवराव पेशवाके अंत समयकी बात याद आ रही है। वह महापुरुष मरण-शय्यापर पड़ा हुआ था। कफ बहुत बढ़ गया था। कफका अतिसारमें पर्यवसान किया जा सकता है। अतः माधवरावने वैद्यसे कहा—"कोई ऐसी तजवीज कीजिए, जिससे मेरा कफ हट जाय और उसकी जगह अतिसार हो जाय। इससे मुंह खुल जायगा व मैं राम-नाम ले सकूंगा।" मैं भी आज परमेश्वरसे प्रार्थना कर रहा था। भगवान्‌ने कहा—"जैसा गला हो, वैसा ही बोलता रह।" मैं जो यहां गीता सुना रहा हूं, वह किसीको उपदेश देनेके लिए नहीं। जो उससे लाभ उठाना चाहते हैं, उन्हें अवश्य उससे लाभ होगा; परंतु मैं तो गीता राम-नाम समझकर सुना रहा हूं। गीताका प्रवचन करते हुए मेरी भावना 'हरि-नाम' की रहती है।

मैं जो यह कह रहा हूं उसका आजके नवें अध्यायसे संबंध है। इस अध्यायमें हरि-नामकी अपूर्व महिमा बताई गई है। यह अध्याय गीताके मध्य-भागमें खड़ा है। सारे महाभारतके मध्यमें गीता, व गीताके मध्यमें यह नवां अध्याय है। अनेक कारणोंसे इस अध्यायको पावनता प्राप्त हो गई है। कहते हैं कि ज्ञानदेवने जब अंतिम समाधि ली तो उन्होंने इस अध्यायका जप करते हुए प्राण छोड़ा था। इस अध्यायके स्मरणमात्रसे मेरी आंखें छलछलाने लगती हैं व दिल भर आता है। व्यासदेवका यह कितना बड़ा उपकार है! केवल भारतवर्षपर ही नहीं, सारी मनुष्यजातिपर उनका यह उपकार है। जो अपूर्व बात भगवान्‌ने अर्जुनको बताई, वह शब्दोंद्वारा प्रकट करने योग्य न थी। परन्तु दयाभावसे प्रेरित होकर व्यासजीने इसे संस्कृत-भाषाद्वारा

प्रकट किया। गुप्त वस्तुको वाणीका रूप दिया। इस अध्यायके शुरूमें भगवान् कहते हैं—

"राजा-विद्या महागुह्य उत्तमोत्तम पावन।"

यह जो राज-विद्या है, यह जो अपूर्व वस्तु है, वह प्रत्यक्ष अनुभव करनेकी है। भगवान् उसे 'प्रत्यक्षावगम' कहते हैं। शब्दोंमें न समानेवाली परंतु प्रत्यक्ष अनुभवकी कसौटीपर कसी हुई यह बात इस अध्यायमें बताई गई है। इससे यह बहुत मधुर हो गया है। तुलसीदासजीने कहा है—

को जाने को जैहे जम-पूर को सुर-पुर पर-धामको।
तुलसिहि बहुत भलो लागत जग जीवन रामगुलाम को।।

मरनेके बाद मिलनेवाले स्वर्ग व उसकी कथाओंसे यहां क्या काम चलेगा? कौन यह कह सकता है कि स्वर्गमें कौन जाता है व यमपुरको कौन जाता है? यदि संसारमें चार दिन रहना है तो रामका गुलाम बनकर रहनेमें ही मुझे आनंद है, ऐसा तुलसीदासजी कहते हैं। रामका गुलाम होकर रहनेका मजा इस अध्यायमें है। प्रत्यक्ष इसी देहमें इन्हीं आंखोंसे अनुभूत होनेवाला फल, जीते-जी अनुभव की जानेवाली बातें इस अध्यायमें बताई गई हैं। जब गुड़ खाते हैं तो उसकी मिठास प्रत्यक्ष मालूम होती है। उसी तरहका रामका गुलाम होकर रहनेका मजा यहां है। ऐसी इस मृत्यु-लोकके जीवनका मजा प्रत्यक्ष दिखानेवाली राज-विद्या इस अध्यायमें कही गई है। वह वैसे गूढ़ है, परंतु भगवान् उसे सबके लिए सुलभ व खोलकर रख रहे हैं।

(४२)

गीता जिस धर्मका सार है उसे वैदिक धर्म कहते हैं। वैदिक धर्मका अर्थ है, वेदोंसे निकला हुआ धर्म। इस जगतीतलपर जितने अति प्राचीन लेख हैं, उनमें वेद सबसे पहले लेख माने जाते हैं। इसी कारण भावुक लोग उन्हें अनादि मानते हैं। इसीसे वेद पूज्यताको प्राप्त हुए और यदि इतिहासकी दृष्टिसे देखा जाय तो भी वह हमारे समाजकी प्राचीन भावनाओंके प्राचीनतम चिह्न हैं। ताम्रपट, शिला-लेख, सिक्के, बरतन, प्राणियोंके अवशेष—इत्यादिसे भी यह लिखित साधन

बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। संसारमें पहला ऐतिहासिक प्रमाण अगर कोई है तो वह वेद है। इन वेदोंमें जो धर्म बीजरूपमें था, वह वृक्ष होते-होते अंतमें उसे गीतारूपी दिव्य मधुर फल लगा। फलके सिवा पेड़का हम खावें भी क्या ? जब वृक्ष में फल लगते हैं, तभी हमारे खानेकी चीज उसमें हमें मिल सकती है। वेद-धर्मके सारका भी सार यह गीता है।

यह जो वेद-धर्म प्राचीन कालसे रूढ़ था, उसमें नाना यज्ञ-याग, क्रिया-कलाप, विविध तपश्चर्या, अनेक साधनाएं बतलाई गईं। यह जो सारा कर्मकांड है यद्यपि वह निरुपयोगी नहीं है, तो भी उसके लिए अधिकार चाहिए। वह कर्मकांड सबके लिए सुलभ न था। ऊंचे नारियलके पेड़पर चढ़कर फल कौन तोड़े, कौन छीले व कौन फोड़े ? मैं चाहे कितना ही भूखा होऊं, पर ऊंचे पेड़का वह नारियल मुझे मिले कैसे ? मैं नीचेसे उसकी ओर देखता हूं, ऊपर से नारियल मुझे देखता है। परंतु इससे पेटकी ज्वाला कैसे बुझेगी ? जबतक यह नारियल मेरे हाथमें न पड़े, तबतक सब फिजूल। वेदोंकी इन नाना क्रियाओंमें फिर बड़े बारीक विचार रहते थे। जन-साधारणको उनका ज्ञान कैसे हो ? वेद-मार्ग के सिवा मोक्ष नहीं, परंतु वेदोंका तो अधिकार नहीं। तब दूसरोंका काम कैसे चले ? अतः कृपासागर संत लोग आगे बढ़े और कहा—"आओ, हम इन वेदोंका रस निकाल लें। वेदोंका सार थोड़ेमें निकालकर संसारको दें।" इसलिए तुकाराम महाराज कहते हैं—

'वेद कहा है अनंत—पर अर्थ इतना ही है चित्य !'

वह अर्थ क्या है ? तो हरिनाम। हरिनाम वेदोंका सार है। राम-नामसे मोक्ष निश्चित हुआ। स्त्रियां, बच्चे, शूद्र, वैश्य, गंवार, दीन, दुर्बल, रोगी, पंगु, सबके लिए मोक्ष सुलभ हो गया। वेदोंकी अलमारीमें बंद मोक्षको भगवान्‌ने चौराहेपर लाकर रख दिया। मोक्षकी यह कितनी सीधी-सादी, सरल तरकीब ! जिसका जैसा सीधा-सादा जीवन है, जो कुछ स्वधर्म-कर्म है, सेवाकर्म है, उसीको यज्ञरूप क्यों न बना दें ! फिर दूसरे यज्ञ-यागकी जरूरत ही क्या है ?

तुम्हारा नित्यका जो सीधा-सादा सेवा-कर्म है, उसीको यज्ञ समझकर करो। यही राज-मार्ग है।

यानास्थाय नरो राजन् प्रमाद्येत कर्हिचित्।
धावन्निमील्य वा नेत्रे न स्खलेन्न पतेदिह ।।

इस मार्गसे यदि आंखें मूंदकर दौड़ते चले जाओ तो भी गिरने या ठोकर खानेका भय नहीं। दूसरा मार्ग है—'क्षुरस्य धारा निशिता दुरत्यया'; तलवारकी धार भी शायद थोड़ी मोथरी। यह वैदिक मार्ग इतना विकट है। इसकी अपेक्षा रामका गुलाम होकर रहनेका मार्ग अधिक सुलभ है। एक इंजीनियर रास्तेकी ऊंचाई धीरे-धीरे बढ़ाता हुआ ऊपर ले जाता है और हमको ऊंचे शिखरपर ला बिठाता है। हमको सहसा पता भी नहीं लगता कि इतने ऊंचे चढ़ रहे हैं। इंजीनियरकी इस खूबीकी तरह ही इस राज-मार्गकी खूबी है। मनुष्य जिस जगह कर्म करते हुए खड़ा है, वहीं, उस सादे कर्मद्वारा, वह परमात्मा को प्राप्त कर सकता है। ऐसा यह मार्ग है।

परमेश्वर क्या कहीं छिपकर बैठा है? किसी खोहमें, किसी गलीमें, किसी नदीमें, या किसी स्वर्गमें वह लुककर बैठ गया है? लाल, नीलम, चांदी-सोना पृथ्वीके पेटमें छिपा रहता है। मोती-मूंगा रत्नाकर समुद्रमें छिपे रहते हैं। वैसा वह परमेश्वररूपी 'लाल रतन' क्या कहीं छिपा हुआ है? भगवान्को कहींसे खोदकर थोड़े ही बाहर निकालना है? वह तो हमेशा हम सबके सामने और सर्वत्र खड़ा ही है। ये जितने लोग हैं सब परमात्माकी ही तो मूर्तियां हैं। भगवान् कहते हैं—"इस मानव-रूपमें प्रकटित हरि-मूर्तिका अपमान मत करो भाई।" ईश्वर ही सब चराचररूपमें प्रकट हो रहा है। उसको खोजनेके लिए कृत्रिम उपायोंकी क्या जरूरत? उपाय तो सीधा सरल है। तुम जो कुछ सेवा-कार्य करो, उन सबका संबंध भगवान्से जोड़ दो, बस काम बन गया। तुम रामके गुलाम हो जाओ। वह कठिन वेद-मार्ग, वह यज्ञ, वे स्वाहा, वे स्वधा, वे श्राद्ध, वह तर्पण, सब हमें मोक्षकी ओर ले जायंगे। परंतु इसमें अधिकारी और अनधिकारीके भेदका टंटा खड़ा होता है। हमें उसकी जरूरत ही नहीं।

सिर्फ इतना ही करो कि जो कुछ करते हो, वह ईश्वरके अर्पण कर दो। अपनी प्रत्येक कृतिका संबंध ईश्वरसे जोड़ दो। इस नवें अध्यायकी यह शिक्षा है। इसलिए वह भक्तोंको बहुत प्रिय है।

(४३)

कृष्णके सारे जीवनमें उसका बचपन बहुत ही मधुर है। बालकृष्ण-की ही विशेष उपासना की जाती है। वह ग्वाल-बालोंके साथ गायें चराने जाता, उनके साथ खाता-पीता और हँसता-बोलता। इंद्रकी पूजा करनेके लिए जब ग्वाल-बाल निकले तो उसने उनसे कहा—"इंद्रको किसने देखा है? उसने हमपर उपकार ही ऐसा क्या किया है? लेकिन यह गोवर्धन पर्वत हमें प्रत्यक्ष दिखाई देता है। यहां गायें चरती हैं। इसमें पानीके सोते निकलते हैं। अतः तुम इसीकी पूजा करो। ऐसी बातें वह उन्हें सिखाया करता। जिन गोपालकोंमें खेला, जिन गोपियोंसे हँसा-बोला, जिन गाय-बछड़ोंमें रम गया, उन सबके लिए उसने मोक्षका द्वार खुला कर दिया। कृष्ण परमात्माने अपने अनुभवसे यह सरल मार्ग बताया है। बचपनमें उसका काम गाय-बछड़ों से पड़ा। बड़े होने पर घोड़ों से। मुरलीकी ध्वनि सुनते ही गाये गद्‌गद्‌ हो जातीं और कृष्णके हाथ फेरते ही घोड़े फुरफुराने लगते। वे गाय-बछड़े और वे रथके घोड़े कृष्णमय हो जाते थे। पाप-योनि माने गये उन पशुओंको भी मानो मोक्ष मिल जाता था। मोक्षपर केवल मनुष्यका ही अधिकार नहीं, बल्कि पशु-पक्षीका भी है—यह बात श्रीकृष्णने साफ कर दी है। अपने जीवनमें उन्होंने इस बातका अनुभव किया था।

जो अनुभव भगवान्‌को हुआ, वही व्यासजीको भी। कृष्ण और व्यास, दोनों एक रूप हैं ही। दोनोंके जीवनका सार भी एक ही। मोक्ष न विद्वत्तापर अवलंबित है, न कर्म-कलापपर। उसके लिए तो सीधी-सादी भक्ति ही काफी है। मैं-मैं कहनेवाले ज्ञानी पीछे ही रखे रहे व भोली-भावुक स्त्रियां उनसे आगे बढ़ गईं। यदि मन पवित्र हो और सीधा-भोला पवित्र भाव हो तो फिर मोक्ष कठिन नहीं है। महाभारतमें 'जनक-सुलभा-संवाद' नामक एक प्रकरण है। उसमें

व्यासने एक ऐसे प्रसंगकी रचना की है, जिसमें जनक राजा ज्ञान-प्राप्तके लिए एक स्त्रीके पास गये हैं। आप लोग भले ही बहस करते रहें कि स्त्रियोंको वेदोंका अधिकार है या नहीं; परंतु सुलभा तो यहां प्रत्यक्ष जनक राजाको ब्रह्मविद्या सिखा रही है। वह एक मामूली स्त्री। जनक कितना बड़ा सम्राट्! कितनी विद्याओंसे सम्पन्न! पर उस महाज्ञानी जनकके हाथ मोक्ष नहीं था। इसलिए व्यासदेवने उसे सुलभाके चरणोंमें गिरनेके लिए भेजा है। ऐसी ही बात उस तुलाधार वैश्य की है। जाजलि ब्राह्मण उसके पास ज्ञान पानेके लिए जाता है। तुलाधार कहता है, तराजूकी डंडी सीधी रखनेमें ही मेरा सारा ज्ञान समाया हुआ है! वैसी ही कथा व्याधकी है। व्याध तो कसाई। पशुओंको मारकर वह समाजकी सेवा करता था। एक अहं-कारी तपस्वी ब्राह्मणको उसके गुरुने उस व्याधके पास जानेके लिए कहा। ब्राह्मणको आश्चर्य हुआ कि यह कसाई मुझे क्या सिखायेगा? ब्राह्मण व्याधके यहां गया। व्याध क्या कर रहा था? मांस काट रहा था, धो रहा था और साफ करके उसे बिक्रीके लिए रख रहा था। उसने ब्राह्मणसे कहा, "देखो, मेरा यह कर्म जितना धर्म-मय किया जा सकता है, उतना मैं करता हूं। अपनी आत्मा जितनी इस कर्ममें उंडेली जा सकती है, उतनी उंडेलकर मैं यह कर्म करता हूं और अपने मां-बापकी सेवा करता हूं। ऐसे इस व्याधके रूपमें व्यासदेव ने आदर्श मूर्ति खड़ी की है।

महाभारत में ये जो स्त्री, वैश्य, शूद्र आदिकी कथाएं आई हैं, उनका उद्देश्य यह है कि सबको यह साफ-साफ दीख जाय कि मोक्षका द्वार सबके लिए खुला हुआ है। उन कथाओंका तत्व इस नवें अध्यायमें बतलाया गया है। उन कथाओंपर इस अध्यायमें मुहर लगाई गई है। रामका गुलाम होकर रहनेमें जो मजा है, वही व्याधके जीवनमें है। संत तुकाराम अहिंसक थे, परन्तु उन्होंने बड़े चावसे यह वर्णन किया है कि सजन कसाइने कसाईका काम करके मोक्ष प्राप्त कर लिया। तुकारामने एक जगह पूछा है "भगवन्, पशुओंका वध करनेवालोंकी क्या गति होगी?" परन्तु 'सजन कसाईके साथ बेचता है मांस' यह चरण लिखकर उन्होंने कहा है कि भगवान् सजन कसाईकी मदद करते

हैं । नरसी मेहताकी हुंडी सिकारनेवाला, एकनाथके यहां कांवर भरके लानेवाला, दामाजीके लिए महार[1] होनेवाला, महाराष्ट्रकी प्रिय जनाबाई को कूटने-पीसनेमें मदद करनेवाला भगवान् कसाईकी भी उतने ही प्रेमसे मदद करता था, ऐसा तुकाराम कहते हैं । सारांश यह कि अपने कृत्योंका संबंध परमेश्वरसे जोड़ना चाहिए । कर्म यदि शुद्ध भावनासे पूर्ण और सेवामय हो तो वह यज्ञ-रूप ही है ।

(४४)

नवें अध्यायमें यही विशेष बात कही गई है । इसमें कर्म-योग और भक्ति-योगका मधुर मिलाप है । कर्म-योगका अर्थ है, कर्म तो करना, परन्तु फलका त्याग कर देना । कर्म ऐसी खूबीसे करो की फलकी वासना चित्तको न छुए । यह अखरोटके पेड़ लगाने-जैसा है । अखरोटके वृक्षमें पच्चीस वर्षमें जाकर फल लगते हैं । उसे लगानेवालेको अपने जीवनमें शायद ही उसके फल चखनेको मिलें । फिर भी पेड़ लगाना है और उसे बहुत प्रेमसे पानी पिलाना है । कर्मयोगका अर्थ पेड़ लगाना, परन्तु फलकी इच्छा न रखना । और भक्ति-योग किसे कहते हैं ? भावपूर्वक ईश्वरके साथ जुड़ जानेका अर्थ है भक्ति-योग । राज-योगमें कर्म-योग और भक्ति-योग, दोनों एकत्रित हो जाते हैं । राज-योगकी कई लोगोंने व्याख्याएं की हैं, परन्तु राजयोग यानी संक्षेपमें कर्म-योग व भक्ति-योगका मधुर मिश्रण, ऐसी मैं व्याख्या करता हूं ।

हम कर्म तो करें, परन्तु फल फेंकें नहीं, बल्कि उसे परमात्माके अर्पण कर दें । जब यह कहते हैं कि फल फेंक दो तो उसका अर्थ हो जाता है फलका निषेध, किंतु अर्पणमें ऐसा नहीं होता । कितनी सुंदर व्यवस्था है यह ! बहुत माधुरी है इसमें । फल छोड़नेका यह अर्थ नहीं कि फल कोई लेगा ही नहीं । कोई-न-कोई उसे अवश्य ग्रहण करेगा । किसी-न-किसीको तो वह मिलेगा ही । फिर ऐसे तर्क खड़े हो सकते हैं कि जो इस फलको पायगा, वह इसका अधिकारी भी है या नहीं । कोई भिखारी घर आ जाता है तो हम झट कहते हैं— "तू मोटा-ताजा है । भीख मांगना तुझे शोभा नहीं देता । चला जा ।"

१. महाराष्ट्रकी एक हरिजन-जाति

हम इस बातका विचार करते हैं कि उसका भीख मांगना उचित था या नहीं। भिखारी बेचारा शर्मिन्दा होकर चला जाता है। हमारे दिलमें उसके लिए सहानूभूतिका पूर्ण अभाव है। फिर भीख मांगनेवालेकी योग्यता हम कैसे ठहरायेंगे ? मैंने बचपनमें एक बार अपनी मांसे भिखारियोंके बारेमें ऐसी ही शंका की थी। उसने जो उत्तर दिया वह अभीतक मेरे कानों में गूंज रहा है। मैंने उससे पूछा––"यह भिखारी तो हट्टा-कट्टा दीखता है। इसको भिक्षा देनेसे तो व्यसन और आलस्य ही बढ़ेंगे।" गीताका 'देशे काले च पात्रे च' यह श्लोक भी मैंने उसे सुनाया। उसने जवाब दिया ––"जो भिखारी आया, वह परमेश्वर ही था। अब करो पात्रापात्रका विचार। भगवान्को क्या अपात्र कहोगे ? पात्रापात्रके विचार करनेका तुम्हें व मुझे क्या अधिकार है ? ज्यादा विचार करनेकी मुझे जरूरत ही नहीं मालूम होती। मेरे लिए वह भगवान् ही है।" मांके इस जवाबका कोई माकूल जवाब मुझे अभी-तक नहीं सूझा है।

दूसरोंको भोजन कराते समय मैं उसकी पात्रापात्रताका विचार करता हूं; परन्तु अपने पेटमें रोटी डालते समय मुझे यह खयालतक नहीं होता कि मुझे भी इसका कोई अधिकार है या नहीं ? जो हमारे दर-वाजे आ जाता है, उसे अभद्र भिखारी ही क्यों समझा जाय ? जिसे हम देते हैं वह भगवान् ही है––ऐसा हम क्यों न समझें ? राजयोग कहता है ––"तुम्हारे कर्मका फल किसी-न-किसीको तो मिलेगा ही न ? तो उसे भगवान्को ही दे डालो। उसीके अर्पण कर दो।" राज-योग अपने अर्पणका उचित स्थान तुम्हें बता देता है। यहां फल-त्यागरूपी निषेधात्मक कर्म भी नहीं है, और क्योंकि सबकुछ भगवान्-के ही अर्पण करना है, इसलिए पात्रापात्रका भी सवाल हल हो जाता है। भगवानको जो दान दिया गया है, वह सर्वदा शुद्ध ही है। तुम्हारे कर्ममें यदि दोष भी रहा हो तो उसके हाथोंमें पड़ते ही वह पवित्र हो जायगा। हम दोष दूर करनेका कितना ही उपाय करें तो भी दोष बाकी रहता ही है। फिर भी जितना शुद्ध होकर हम कर्म कर सकें, उतना करना चाहिए। बुद्धि ईश्वरकी देन है। उसको जितना शुद्ध-रूपमें हो सके, काममें लेना हमारा कर्त्तव्य ही है। ऐसा न करना

अपराध होगा। अतः पात्रापात्र-विवेक भी करना ही चाहिए; किन्तु भगवद्-भाव रखनेसे वह सुलभ हो जाता है।

फलका विनियोग चित्त-शुद्धिके लिए करना चाहिए। जो काम जैसा हो जाय, वैसा ही उसे भगवानके अर्पण कर दो। प्रत्यक्ष क्रिया जैसे-जैसे होती जाय, वैसे-ही-वैसे उसे भगवान्के अर्पण करके मनःतुष्टि प्राप्त करते रहना चाहिए। फलको छोड़ना नहीं है, उसे भगवान्के अर्पण कर देना है। यह तो क्या, मनमें उत्पन्न होनेवाली वासनाएं और काम-क्रोधादि विकार भी परमेश्वरके अर्पण करके छुट्टी पाना है।

"काम-क्रोध मेरे, अर्पण प्रभुके।"

यहां न तो संयमाग्निमें जलना है, न झुलसना। चट अर्पण किया और छूटे। न किसीको दबाना, न मारना।

"जो गुड़ दीन्हें ते मरें, माहुर काहे देय।"

इंद्रिया भी साधन हैं। उन्हें ईश्वरार्पण कर दो। कहते हैं—कान हमारी नहीं सुनते। तो फिर क्या सुनना ही बंद कर दें? नहीं, सुनो जरूर, पर हरि-कथा सुनो। न सुनना बड़ा कठिन है। परन्तु हरि-कथा-रूपी श्रवणका विषय देकर कानका उपयोग करना अधिक रुचिकर व हितकर है। अपने कान तुम रामको दे दो। मुखसे राम-नाम लेते रहो। इंद्रियां शत्रु नहीं हैं। वे हैं भी अच्छी। उनके सामर्थ्यका ठिकाना नहीं। अतः ईश्वरार्पण-बुद्धिसे प्रत्येक इंद्रिय से काम लेना—यही राज-मार्ग है। इसीको राजयोग कहते हैं।

(४५)

यह बात नहीं कि हम कोई खास क्रिया ही भगवान्के अर्पण करें। कर्ममात्र उसे सौंप दो। शबरीके वे बेर। रामने उन्हें कितने स्वादसे चखा। परमेश्वरकी पूजा करनेके लिए गुफामें जाकर बैठने की जरूरत नहीं है। तुम जहां जो भी कर्म करो, वह परमेश्वरके अर्पण करो। मां बच्चेको संभालती है—मानो भगवान्को ही संभालती है। बच्चेको नहलाती क्या है, परमेश्वरपर रुद्राभिषेक ही करती है। बालक परमे-श्वरी कृपाकी देन है, ऐसा मानकर मांको चाहिए कि वह परमेश्वर-भावनासे बच्चेका लालन-पालन करे। कौशल्या रामकी व यशोदा

कृष्णकी चिंता कितने दुलारसे करती थीं ? उसका वर्णन करते हुए शुक, वाल्मीकि, तुलसीदासने अपनेको धन्य माना। उस क्रियामें उन्हें अपार कौतुक मालूम होता है। माताकी वह सेवा-संगोपन-क्रिया बहुत उच्च है। वह बालक, परमेश्वरकी वह मूर्ति, उस मूर्तिकी सेवासे बढ़कर सद्भाग्य क्या हो सकता है ? यदि एक-दूसरेकी सेवा करते समय हम ऐसी ही भावनाको स्थान दें तो हमारे कर्मोंमें कितना परिवर्तन हो जाय। जिसको जो सेवा मिल गई, वह ईश्वरकी ही सेवा है, ऐसी भावना करते रहना चाहिए।

किसान बैलकी सेवा करता है। उस बैलको क्या तुच्छ समझना चाहिए ? नहीं, वेदो में वामदेवने शक्तिरूपसे विश्वव्याप्त जिस बैलका वर्णन किया है वही उस किसानके बैलमें भी मौजूद है—

चत्वारि श्रृंगा त्रयो अस्य पादा
द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति
महो देवो मर्त्यां आविवेष।

जिसके चार सींग हैं, तीन पैर हैं, दो सिर हैं, सात हाथ हैं, जो तीन जगह बंधा हुआ है, जो महान् तेजस्वी होकर सब मर्त्य वस्तुओंमें व्याप्त है, उसी गर्जना करनेवाले विश्वव्यापी बैलकी पूजा किसान करता है। टीकाकारोंने इस एक ऋचाके पांच-सात भिन्न-भिन्न अर्थ दिये हैं। यह बैल है भी विचित्र ! आकाशमें गर्जना करके जो बैल पानी बरसाता है, वही मल-मूत्रकी वृष्टि करके खेतमें फसल पैदा करनेवाले इस किसानके बैलमें मौजूद है। यदि किसान इस उच्च भावनासे अपने बैलोंकी सेवा-चाकरी करेगा तो उसकी यह मामूली सेवा भी ईश्वरके अर्पण हो जायगी।

इसी तरह हमारे घरकी गृह-लक्ष्मी जो चौका लगाकर रसोई-घरको साफ-सुथरा रखती है, चूल्हा जलाती है, स्वच्छ और सात्त्विक भोजन बनाती है और यह इच्छा रखती है कि यह रसोई मेरे घरके सब लोगोंको पुष्टि-तुष्टिदायक हो तो उसका यह सारा कर्म यज्ञरूप ही है। चूल्हा क्या, मानो उस माताने एक छोटा-सा यज्ञ ही जगाया है। परमेश्वरको तप्त करनेकी भावना मनमें रखकर जो भोजन तैयार किया जायगा, वह

कितना स्वच्छ और पवित्र होगा, जरा इसकी कल्पना कीजिए। यदि उस गृहलक्ष्मी के मनमें ऐसी उच्च भावना हो तो इसे फिर भागवत की ऋषि-पत्नियोंके ही समतोल रखना होगा। ऐसी कितनी ही माताएं सेवा करके तर गई होंगी, और 'मैं-मैं' करनेवाले पंडित और ज्ञानी कोनेमें ही पड़े रहे होंगे !

(४६)

हमारा दैनिक क्षण-क्षणका जीवन, मामूली दिखाई देता हो तो भी वह वास्तवमें वैसा नहीं होता। वह महान् अर्थ रखता है। सारा जीवन एक महान् यज्ञ-कर्म ही है। तुम्हारी निद्रा क्या, एक समाधि है। सब प्रकारके भोगोंको यदि हम ईश्वरार्पण करके निद्रा लेंगे तो वह समाधि नहीं तो क्या होगी ? हम लोगोंमें स्नान करते समय पुरुषसूक्तके पाठ करनेकी रूढ़ि चली आ रही है। अब सोचो कि इस स्नानकी क्रियासे इस पुरुषसूक्तका क्या संबंध ? देखना चाहोगे तो जरूर दिखेगा। जिस विराट् पुरुषके हजार हाथ और हजार आंखें हैं उसका मेरे इस स्नानसे क्या संबंध ? संबंध यह कि तुम जो लोटा भर जल सिरपर डालते हो, उसमें हजारों बूंदें हैं। वे बूंदें तुम्हारा मस्तक धो रही हैं—तुम्हें निष्पाप बना रही हैं। मानो तुम्हारे मस्तकपर ईश्वरका आशीर्वाद बरस रहा है। परमेश्वरके सहस्र हाथोंसे सहस्र धारा ही मानो तुमपर बरस रही है। इन बूंदोंके रूपमें मानो परमेश्वर ही तुम्हारे सिरके अंदरका मैल धो रहे हैं। ऐसी दिव्य भावना उस स्नानमें उंडेलो तो वह स्नान कुछ और ही हो जायगा, उस स्नानमें अनंत शक्ति आ जायगी।

कोई भी कर्म जब इस भावनासे किया जाता है कि वह परमेश्वरका है तो मामूली होनेपर भी पवित्र हो जाता है। यह बात अनुभवसिद्ध है। मनमें जरा यह भावना करके देखो तो कि जो व्यक्ति हमारे घर आया है वह ईश्वररूप है। कोई मामूली बड़ा आदमी भी जब हमारे घर आता है तो हम कितनी सफाई रखते हैं और कैसा बढ़िया भोजन बनाते हैं। फिर यदि यह भावना करें कि परमेश्वर है तो भला बताओ, हमारी उस भावनामें कितना फर्क पड़ जायगा। कबीर कपड़े बुनता था। उसीमें निमग्न होकर वह गाता—

"झीनी झीनी बीनी चदरिया।"

यह गाता हुआ झूमता जाता, मानो परमेश्वरको ओढ़ानेके लिए वह चादर बुन रहा हो। ऋग्वेदका ऋषि कहता है—

"वस्त्रेव भद्रा सुकृता सुपाणी"

मैं अपना यह स्तोत्र सुंदर हाथोंसे बुने हुए वस्त्रकी तरह ईश्वरको ग्रहण कराता हूं। कवि स्तोत्र वनाता है ईश्वरके लिए। बुनकर जो वस्त्र बनाता है सो भी ईश्वरके लिए ही। कैसी हृदयंगम कल्पना! कितना चित्तको विशुद्ध बनानेवाला और हृदयको हिलोर देनेवाला विचार! यह भावना यदि जीवनमें एक बार आ जाय तो फिर जीवन कितना निर्मल हो जायगा! अंधेरे में जब बिजली चमकती है तो वह अंधेरा एक क्षणमें प्रकाश बन जाता है। वह अंधकार क्या धीरे-धीरे प्रकाश बनता है? नहीं, एक क्षणमें ही सारा भीतर-बाहर परिवर्तन हो जाता है। उसी तरह प्रत्येक क्रियाको ईश्वरसे जोड़ देते ही जीवनमें एकदम अद्‌भुत शक्ति आती है। प्रत्येक क्रिया विशुद्ध होने लगेगी। जीवनमें उत्साहका संचार होगा। आज हमारे जीवनमें उत्साह है कहां? हम जी रहे हैं, क्योंकि मरते नहीं। उत्साहका चारों ओर अकाल पड़ा हुआ है। कला-हीन रोता जीवन। परन्तु जरा यह भाव मनमें लाओ कि हमें अपनी सब क्रियाएं—ईश्वरके साथ जोड़नी हैं। फिर देखोगे कि तुम्हारा जीवन कितना रमणीय और नमनीय हो जायगा।

परमेश्वरके एक नाममात्रसे झट परिवर्त्तन हो जाता है। इसमें संदेह करनेकी जरूरत नहीं। यह मत कहो कि राम कहनेसे क्या होता है। जरा कहकर तो देखो। कल्पना करो कि संध्या समय किसान काम करके घर आ रहा है। रास्तेमें उसे कोई मुसाफिर मिल जाता है। वह उससे कहता है—

"भाई यात्री, ओ नारायण, जरा ठहरो। अब रात हो आई। भगवन्, मेरे घर चलो।" उस किसानके मुंहसे ऐसे शब्द निकलने तो दो, और फिर देखो, उस यात्रीका रूप बदलता है या नहीं। वह यात्री यदि डाकू और लुटेरा होगा तो भी पवित्र हो जायगा। यह फर्क भावनाके कारण होता है। भावनामें ही सबकुछ भरा हुआ है। जीवन भावनामय है। एक बीस सालका पराया लड़का हमारे घर आता है, पिता उसको

अपनी कन्या देता है। वह लड़का तो बीस सालका है, परन्तु पचास सालका वह लड़कीका पिता उसके पैर छूता है। यह क्या बात हुई ? कन्या-अर्पण करनेका वह कार्य ही कितना पवित्र है। वह जिसे दी जाती है वह परमेश्वर ही मालूम होता है। यह जो भावना दामादके प्रति रखी जाती है, उसीको और ऊपर ले जाओ, और आगे बढ़ाओ।

कोई कहेंगे कि आखिर ऐसी झूठी कल्पना करनेसे लाभ क्या ? मैं कहता हूं कि पहलेसे ही सच्चा-झूठा मत कहो। पहले अभ्यास करो, अनुभव लो, तब तुम्हें सच-झूठ मालूम हो जायगा। उस कन्या-दानमें कोरी शाब्दिक नहीं, किन्तु यह सच्ची भावना करो कि वह जमाई सचमुच ही परमात्मा है, तो फिर देख लोगे कि कितना फर्क पड़ जाता है। इस पवित्र भावनाके प्रभावसे वस्तुके पूर्व-रूप और उत्तर-रूपमें जमीन-आसमान का अन्तर पड़ जायगा। कुपात्र सुपात्र हो जायगा। जो दुष्ट है, वह सुष्ट हो जायगा। बाल्या भीलका कायापलट इसी तरह हुआ न ? वीणापर उंगलियां नाच रही हैं, मुखसे नारायण नामका जप चल रहा है, और मारनेके लिए दौड़ता है तब भी शांतिमें बाधा नहीं होती, बल्कि उसकी ओर प्रेमपूर्ण दृष्टिसे निहारता है——बाल्याने ऐसा दृश्य ही इससे पहले कभी नहीं देखा था। उसने उस क्षणतक दो ही प्रकार के प्राणी देखे थे : एक तो उसकी तीर-कमठी देखकर भाग जानेवाले, या उलटकर उसपर हमला करने वाले। परंतु नारद उसे देखकर न तो भागे, न हमला ही किया, बल्कि शांत भावसे खड़े रहे। बाल्याकी तीर-कमान रुक गई। नारदकी न भौं हिलीं, न आंखें मुंदीं——मधुर भजन ज्यों-का-त्यों जारी था। नारदने बाल्यासे पूछा——"तुम्हारा तीर क्यों रुक गया ?" बाल्याने कहा——"आपके शांत भावको देखकर।" नारदने बाल्याका रूपांतर कर दिया। वह रूपांतर झूठ था या सच ?

सचमुच, संसारमें कोई दुष्ट है भी या नहीं, इसका निर्णय आखिर कौन करे ? कोई असली दुष्ट सामने आ जाय तो भी ऐसी भावना करो कि यह परमात्मा है। वह दुष्ट होगा भी तो संत हो जायगा। तो क्या झूठ-मूठ यह भावना करें ? मैं कहता हूं, किसको पता है कि वह दुष्ट ही है ? बाज लोग कहते हैं कि सज्जन लोग खुद अच्छे होते हैं, इसलिए उन्हें सबकुछ अच्छा दिखाई पड़ता है, परन्तु वास्तवमें ऐसा नहीं होता। तो

फिर तुमको जैसा दिखाई देता है, वह भी सच कैसे मानें ? सृष्टिके सम्यक् ज्ञान होनेका साधन मानो अकेले दुष्टोंके ही पास है। यह क्यों न कहा जाय कि सृष्टि तो अच्छी है, पर तुम दुष्ट हो, इसलिए वह तुम्हें दुष्ट दिखाई देती है। देखो, सृष्टि क्या है, एक आइना है। तुम जैसे होओगे, वैसे ही सामने की सृष्टिमें तुम्हारा प्रतिबिंब दिखाई देगा। जैसी हमारी दृष्टि, वैसा ही सृष्टिका रूप। इसलिए ऐसी कल्पना करो कि यह सृष्टि अच्छी है, पवित्र है। अपनी मामूली क्रियामें भी ऐसी भावनाका संचार करो। फिर देखो कि क्या चमत्कार होता है। भगवान् यही बात समझा देना चाहते हैं ––

जो-जो खाओ करो होमो तथा जो तप आचरो ।
देओ जो दान इत्यादि करो सो मम अर्पण ॥

तुम, जो कुछ करो, सब ज्यों-का-त्यों भगवान्के अर्पण कर दो।

मेरी मां बचपनमें एक कहानी सुनाया करती थी। बात मजदार है, परन्तु उसका रहस्य बहुत मूल्यवान है। एक स्त्री थी। उसका यह निश्चय था कि जो कुछ करे, सब कृष्णार्पण कर दे। वह करती क्या कि चौका लीपनेके बाद बची हुई गोबर-मिट्टी का गोला बनाकर बाहर फेंकती और कह देती––'कृष्णार्पणमस्तु'। होता क्या, कि वह गोबरका गोला वहांसे उठता और मंदिरमें भगवान्की मूर्तिके मुंहपर जाकर चिपक जाता। पुजारी बिचारा मूर्तिको धो-धोकर थक गया, पर कुछ उपाय नहीं चलता था। अंतको मालूम हुआ कि यह करामात उस स्त्रीकी थी। जबतक वह स्त्री जीवित है, तबतक मूर्ति कभी साफ रह ही नहीं सकती। एक दिन वह स्त्री बीमार हो गई। मरणकी अन्तिम घड़ी नजदीक आ गई। उसने मरणको भी कृष्णार्पण कर दिया। उसी समय मंदिरकी मूर्तिके टुकड़े-टुकड़े हो गए। मूर्ति टूटकर गिर पड़ी। ऊपरसे विमान आया स्त्रीको लेनेके लिए। उसने विमानको भी कृष्णार्पण कर दिया। विमान जाकर मंदिरसे टकराया और वह भी टुकड़े-टुकड़े हो गया। स्वर्ग श्रीकृष्णके ध्यानके सामने बेकार है।

मतलब यह कि जो कुछ भला-बुरा कर्म हमसे हो, सबको ईश्वरार्पण कर देनेसे उनमें कुछ और ही सामर्थ्य उत्पन्न हो जाता है। ज्वारका दाना

यों कुछ पीलापन और लाली लिये हुए होता है। पर उसीको भूननेसे कितनी बढ़िया फूली बन जाती है। साफ सफेद, अठपहलू, व्यवस्थित व शानदार वह फूली, उस दानेके पास रखकर तो देखो कितना फर्क है? मगर वह फूली है, उस दानेकी है, इसमें संदेह नहीं। यह फरक महज एक आगके कारण हो गया। इसी तरह उस सख्त दानेको चक्कीमें डाल कर पीसो तो उसका मुलायम आटा बन जायगा। आगके संपर्कसे फूली बन गई, चक्कीमें डालनेसे मुलायम आटा बन गया। इसी तरह हमारी किसी छोटी-सी क्रियापर भी हरिस्मरणरूपी संस्कार करनेसे वह अपूर्व हो जायगी। भावनासे मोल बढ़ जाता है। वह गुड़ेलका मामूली-सा फूल, बेलकी पत्तियां, तुलसीकी मंजरी और दूबके तिनके, इन्हें तुच्छ मत मानो —

'तुका कहे स्वाद पाया—राम-मिश्रित जो हो गया'

प्रत्येक बातमें भगवान्‌को मिला दो और फिर अनुभव करो। इस रामरूपी मसालेके बराबर दूसरा कोई मसाला है क्या? इस दिव्य मसालेसे बढ़कर तुम दूसरा कौन-सा मसाला लाओगे? यही ईश्वररूपी मसाला अपनी प्रत्येक क्रियामें मिला दो, फिर सबकुछ सुंदर और रुचिकर हो जायगा।

रातको आठ बजे जब मन्दिरमें आरती हो रही हो, धूपकी सुगंध फैल रही हो, दीप जलाये जा रहे हों, आरती उतारी जा रही हो, ऐसे समय सचमुच यह भावना होती है कि हम परमात्माको देख रहे हैं। भगवान् दिन भर जागे, अब उनके सोनेका समय हुआ। भक्त गाते हैं—

'सुख निंदिया अब सोओ गोपाल।'

पर शंकाशील पूछता है—"चलो, भगवान् भी कहीं सोता है?"

अरे, भगवान् क्या नहीं करता? भले आदमी, अगर भगवान् सोता नहीं, जागता नहीं, तो क्या यह पत्थर सोयेगा, जागेगा? भाई, भगवान् ही सोता है, भगवान् ही जागता है, और भगवान् ही खाता-पीता है। तुलसीदासजी प्रातःकालके समय भगवान्‌को जगाते हैं, विनय करते हैं—

'जागिये रघुनाथ कुंवर पंछी बन बोले।'

अपने भाई-बहिनोंको, स्त्री-पुरुषोंको रामचन्द्रकी मूर्ति मानकर वे

कहते हैं—"मेरे रामचन्द्रो, अब उठो।" कितना सुंदर विचार है! नहीं तो किसी बोर्डिंगको लो। वहां लड़कोंको उठाते समय डांटकर कहते हैं—"अरे, उठते हो कि नहीं?" प्रातःकालकी मंगल-वेला! ऐसे समय कठोर वाणी अच्छी लगती है? विश्वामित्रके आश्रममें रामचंद्र सो रहे हैं। विश्वामित्र उन्हें उठा रहे हैं। वाल्मीकि-रामायणमें उसका इस प्रकार वर्णन है—

"रामेति मधुरां वाणीं विश्वामित्रोऽभ्यभाषत।
उत्तिष्ठ नरशार्दूल पूर्वा सन्ध्या प्रवर्तते॥"

"बेटा राम, उठो अब!" इस प्रकार मधुर स्वरसे विश्वामित्र उन्हें उठा रहे हैं। कितना मधुर है यह कर्म। और बोर्डिंगका वह जगाना कितना कर्कश है! बेचारे सोये हुए लड़केको ऐसा मालूम होता है, मानो कोई सात जन्मका बैरी ही जगाने आया है। पहले धीरे-धीरे पुकारो, फिर कुछ जोरसे पुकारो। परन्तु कर्कशता, कठोरता बिलकुल न होनी चाहिए। यदि न जगे तो फिर दस मिनटके बाद जाओ। आशा रखो कि, आज नहीं तो कल उठेगा। उसके उठानेके लिए मीठे-मीठे गाने, प्रभाती, स्तोत्र आदि सुनाओ। जगानेकी मामूली क्रिया है, परन्तु हम उसे कितना काव्यमय, सहृदय और सुंदर बना सकते हैं? मानो भगवान्को ही उठाना है। परमेश्वरकी मूर्तिको ही धीरेसे जगाना है। नींदसे कैसे जगाना, यह भी एक शास्त्र है।

अपने सब व्यवहारोंमें इस कल्पना का प्रवेश करो। शिक्षण-शास्त्रमें तो इस कल्पनाकी बहुत ही जरूरत है। लड़के क्या हैं, प्रभुकी मूर्तियां हैं। गुरुकी यह भावना होनी चाहिए कि मैं इन देवताओंकी ही सेवा कर रहा हूं। तब वह लड़कोंको ऐसे नहीं झिड़केगा—"चले जाओ अपने घर! खड़े रहो घंटे भर। हाथ लंबा करो। कैसे मैले कपड़े हैं? नाक-हाथ कितने गंदे हैं!" बल्कि हलके हाथसे नाक साफ कर देगा, मैले कपड़े धो देगा और फटे कपड़ों को सी देगा। यदि शिक्षक ऐसा करें तो इसका कितना अच्छा परिणाम होगा! मार-पीटकर कहीं नतीजा निकाला जा सकता है? लड़कोंको भी चाहिए कि वे इसी दिव्य भावनासे गुरुको देखें। गुरु यह समझें कि शिष्य हरि-मूर्ति है और लड़के भी गुरुको

हरि-मूर्ति ही मानें। ऐसी भावना परस्पर रखकर यदि दोनों व्यवहार करें तो विद्या कितनी तेजस्वी हो जायगी। लड़के भी भगवान् और गुरु भी भगवान्! यदि लड़कोंका यह खयाल हो गया कि यह गुरु नहीं, भगवान् शंकरकी मूर्ति है; हम उनसे बोधामृत पान कर रहे हैं; उनकी सेवा करके ज्ञान प्राप्त कर रहे हैं; तो फिर बतलाओ, लड़के उनके साथ कैसा व्यवहार करेंगे ?

(४७)

सब जगह प्रभु विराजमान है, ऐसी भावना चित्तमें बैठ जाय तो फिर एक-दूसरेके साथ हम कैसा व्यवहार करें, यह नीति-शास्त्र हमारे अन्त:करणमें अपने-आप स्फुरने लगेगा। शास्त्र पढ़नेकी जरूरत ही न रहेगी। तब सब दोष दूर हो जायंगे, पाप पलायन कर जायंगे, दुरितोंका तिमिर हट जायगा।

तुकारामने कहा है—

> हो लो स्वतंत्र उद्दाम, ले लो हरदम विट्ठल हरिनाम।
> नहीं होगा कोई पाप, नाम लेते आता पास ॥

अच्छा चलो, तुमको पाप करनेकी छुट्टी। मैं देखता हूं कि तुम पाप करनेसे थकते हो या हरिनाम पाप जलानेसे थकता है। ऐसा कौन-सा जबरदस्त और मगरूर पाप है जो हरिनामके सामने टिक सकता है? "करो जितने चाहे पाप।" करो, तुमसे जितने पाप हो सकें, करो। तुमको आम इजाजत है। होने दो हरिनामकी और तुम्हारे पापोंकी कुश्ती! अरे, इस हरिनाममें इस जन्मके ही नहीं, अनंत जन्मोंके पाप पलभरमें भस्म कर डालनेका सामर्थ्य है। गुफामें अनंत युगका अंधकार भरा हो तो भी एक दियासलाई जलाई कि वह भागा। उस अंधकारका प्रकाश हो जाता है। पाप जितने पुराने, उतने जल्दी ही वे नष्ट होते हैं, क्योंकि वे मरनेको ही होते हैं। पुरानी लकड़ियां उसी क्षण खाक हो जाती हैं।

राम-नामके नजदीक पाप ठहर ही नहीं सकता। बच्चे कहते हैं न, कि राम कहते ही भूत भागता है। हम बचपनमें रातको श्मशान हो आते थे। श्मशानमें जाकर मेख ठोककर आनेकी शर्त लगाया करते। रातको सांप भी रहते, कांटे भी होते, बाहर चारों ओर अंधकार। तो

भी कुछ नहीं मालूम होता। भूत कभी दिखाई ही नहीं दिया। कल्पनाके ही तो भूत, फिर दिखने क्यों लगे ? एक दस वर्षके बच्चेमें रातको श्मशान में जाकर आनेका सामर्थ्य कहांसे आ गया? राम-नामसे । वह सामर्थ्य सत्यरूप परमात्माका था। यदि यह भावना हो कि परमात्मा मेरे पास है तो सारी दुनियाके उलटे पड़ने पर भी हरिका दास भयभीत न होगा। उसे कौन-सा राक्षस खा सकता है ? राक्षस उसके तन-बदनको खा भी डालें और पचा भी डालें, परंतु उसे सत्य नहीं पच सकेगा। सत्यको पचा डालनेकी शक्ति संसारमें कहीं नहीं। ईश्वर नामके सामने पाप जरा भी नहीं ठहर सकता। इसलिए ईश्वरसे जी लगाओ। उसकी कृपा प्राप्त कर लो। सब कर्म उसे अर्पण कर दो। उसीके हो जाओ। अपने सब कर्मोंका नैवेद्य प्रभुको अर्पण करना है, इस भावनाको उत्तरोत्तर अधिक उत्कट बनाते चले जाओगे तो क्षुद्र जीवन दिव्य हो जायगा, मलिन जीवन सुंदर हो जायगा।

(४८)

'पत्रं पुष्पं फलं तोयम्' कुछ भी हो, उसके साथ भक्ति-भाव हो तो काफी है। कितना दिया, कितना चढ़ाया, यह भी मुद्दा नहीं, किस भावना से दिया, यही मुद्दा है। एक बार एक प्रोफेसरके साथ मेरी चर्चा चल रही थी। वह शिक्षण-शास्त्र-संबंधी थी। हम दोनोंके विचार मिलते नहीं थे। अंतको प्रोफेसरने कहा--"भाई, मैं अठारह सालसे काम कर रहा हूं।" प्रोफेसरको चाहिए था कि वे मुझे कायल करते; परंतु ऐसा न करते हुए जब उन्होंने मुझसे कहा कि मैं इतने सालसे शिक्षाका कार्य कर रहा हूं, तो मैंने उनसे मजाकमें कहा—"अठारह सालतक बैल यदि यंत्रके साथ घूमता रहे तो क्या वह यंत्र-शास्त्रज्ञ हो जायगा?" यंत्र-शास्त्रज्ञ और चीज है और आंख मूंदकर चक्कर काटनेवाला बैल और चीज है। शिक्षा-शास्त्रज्ञ और चीज है और शिक्षाका बोझा ढोनेवाला और चीज। जो शास्त्रज्ञ होगा,वह छः महीनेमें ही ऐसा अनुभव प्राप्त कर लेगा कि जो अठारह साल तक बोझा ढोनेवाले मजदूरकी अक्लमें भी नहीं आ सकेगा। मतलब यह कि उस प्रोफेसरने मुझे अपनी दाढ़ी दिखाई कि मैंने इतने साल काम किया है, किंतु दाढ़ीसे सत्य सिद्ध नहीं हो सकता। इसी तरह परमेश्वरके

सामने कितना ढेर लगा दिया, इसका महत्त्व नहीं है। मुद्दा नामका, आकारका, कीमतका नहीं है; मुद्दा भावनाका है। कितना क्या अर्पण किया, इससे मतलब नहीं, बल्कि कैसे किया, यह मुद्दा है। गीतामें कुल सात सौ ही श्लोक हैं। पर ऐसे भी ग्रंथ हैं, जिनमें दस-दस हजार श्लोक हैं। लेकिन वस्तुका आकार बड़ा होनेसे उसका उपयोग भी बड़ा या ज्यादा होगा, ऐसा नहीं कह सकते। देखनेकी बात यह है कि वस्तुमें तेज कितना है, सामर्थ्य कितना है? जीवनमें क्रिया कितनी है, इसका महत्त्व नहीं। ईश्वरार्पण-बुद्धिसे यदि एक भी क्रिया की हो तो वही हमें काफी पूरा लाभ या अनुभव करा देगी। कभी-कभी किसी एक ही पवित्र क्षणमें हमें इतना अनुभव होता है, जितना बारह-बारह सालोंमें भी नहीं हो सकता।

आशय यह कि जीवनके सारे कर्मोंको और सारी क्रियाओंको परमेश्वरके अर्पण कर दो, तो इससे जीवनमें सामर्थ्य आ जायगा। मोक्ष हाथ लग जायगा। कर्म करके भी उसका फल न छोड़कर उसे ईश्वरके अर्पण करना, यह राज-योग हुआ। यह कर्म-योगसे भी एक कदम आगे जाता है। कर्म-योग कहता है कि "कर्म करो,फल छोड़ो। फलकी आशा मत रखो।" यहां कर्म-योग खतम हो गया। राज-योग कहता है, "कर्मके फलोंको छोड़ो मत,बल्कि सब कर्म ईश्वरके अर्पण कर दो। वे फूल हैं, तुम्हें आगे ले जानेवाले साधन हैं,उन्हें उस मूर्ति पर चढ़ा दो।" एक ओरसे कर्म और दूसरी ओरसे भक्तिका मेल मिलाकर जीवनको सुंदर बनाते जाओ। त्यागो मत फलोंको। फलों को फेंकना नहीं, बल्कि भगवान्से जोड़ देना है। कर्म-योगमें छोड़ा फल राज-योगमें जोड़ दिया जाता है। बोने और फेंक देनेमें फर्क है। बोया हुआ थोड़ा भी अनंतगुना होकर मिलता है। फेंका हुआ योंही नष्ट हो जाता है। जो कर्म ईश्वरके अर्पण किया गया है, वह बोया गया है। उससे जीवनमें अनंत आनंद भर जायगा, अपार पवित्रता छा जायगी।

रविवार, १७-४-३२

दसवाँ अध्याय

(४९)

मित्रो, गीताका पूर्वार्द्ध खतम हो गया। उत्तरार्द्धमें प्रवेश करनेके पहले जो भाग हम खतम कर चुके, उसका थोड़ेमें सार देख लें तो अच्छा रहेगा। पहले अध्यायमें यह बताया गया कि गीता मोह-नाशके लिए व स्वधर्ममें प्रवृत्त करानेके लिए है। दूसरे अध्यायमें जीवनके सिद्धांत, कर्म-योग और स्थितप्रज्ञका दर्शन हमें हुआ। तीसरे, चौथे और पांचवें अध्यायमें कर्म, विकर्म और अकर्मकी समस्या हल की गई। कर्मका अर्थ है—स्वधर्माचरण करना। विकर्म का अर्थ है, वह मानसिक कर्म, जो स्वधर्माचरणका कर्म बाहरसे करते हुए उसकी मददके लिए किया जाता है। कर्म और विकर्म दोनों एकरूप होकर जब चित्तकी शुद्धि हो जाती है, सब प्रकार के मैल धुल जाते हैं, वासना क्षीण हो जाती है, विकार शांत हो जाते हैं, भेद-भाव मिट जाता है, तब अकर्म दशा प्राप्त होती है। यह अकर्म दशा फिर दो प्रकारकी बताई गई है। इसका एक प्रकार तो यह कि दिन-रात कर्म करते हुए भी मानो लेशमात्र कर्म न कर रहे हों, ऐसा अनुभव होना। इसके विपरीत दूसरा प्रकार यह कि कुछ भी न करते हुए सतत कर्म करते रहना। इस प्रकार अकर्म दशा दो प्रकारोंसे परिणत हो जाती है। ये दो प्रकार यों दिखाई अलग-अलग देते हैं, तथापि हैं पूर्ण-रूपसे एक ही। उनके नाम यद्यपि कर्म-योग और संन्यास इस तरह अलग-अलग बताये गए हैं, फिर भी भीतरकी सार-वस्तु दोनोंमें एक ही है। अकर्म-दशा अंतिम साध्य,आखिरी मंजिल है। इस स्थितिको मोक्ष संज्ञा दी गई है। अतः गीताके पहले पांच अध्यायोंमें जीवनका सारा शास्त्रार्थ समाप्त हो गया।

उसके बाद छठे अध्यायसे अकर्मरूपी साध्य प्राप्त करनेके लिए विकर्मके जो अनेक मार्ग हैं,मनको भीतरसे शुद्ध करनेके जो अनेक साधन हैं, उनमेंसे कुछ मुख्य साधन बतानेकी शुरुआत की गई है। छठे अध्यायमें

चित्तकी एकाग्रताके लिए ध्यान-योग बताकर अभ्यास व वैराग्यका सहारा उसे दिया गया है। सातवें अध्यायमें विशाल भक्तिरूपी उच्च साधन बताया गया। तुम ईश्वरकी ओर चाहे प्रेम-भावसे जाओ,जिज्ञासु बुद्धिसे जाओ, विश्व-कल्याणकी व्याकुलतासे जाओ, या व्यक्तिगत कामनासे जाओ---किसी तरीकेसे जाओ,परंतु एक बार उसके दरबारमें पहुंच जरूर जाओ। इस अध्यायके इस विषयका नाम मैंने "प्रपत्ति-योग" अर्थात् ईश्वरकी शरणमें जानेकी प्रेरणा करनेवाला योग दिया है। सातवेंमें प्रपत्ति-योग बताकर आठवेंमें 'सातत्य-योग' बताया है। मैं जो ये नाम बता रहा हूं, वे तुम्हें पुस्तकमें नहीं मिलेंगे। अपने लिए जो उपयोगी नाम मालूम हुए, वही मैंने रख दिए। सातत्य-योगका अर्थ है---अपनी साधनाको अंतकालतक सतत चालू रखना। जिस रास्तेपर एक बार चल पड़े उसीपर सतत कदम बढ़ाते जाना चाहिए। कुछ दिन किया, कुछ दिन छोड़ दिया, इस तरह करनेसे मंजिलपर पहुंचनेकी कभी आशा नहीं हो सकती। ऊबकर निराशासे कभी यह खयाल न करना चाहिए कि अब कहांतक साधना करते रहें। जबतक फल न प्रकट हो तबतक साधना जारी रखना चाहिए।

इस सातत्य-योगका परिचय देकर नवें अध्यायमें बहुत मामूली, परंतु जीवनका सारा रंग ही बदल देनेवाली एक बात भगवानने बताई है, और वह है राज-योग। नवां अध्याय कहता है कि जो कुछ भी कर्म हर घड़ी होते हैं, वे सब कृष्णार्पण कर दो। इस एक ही बातसे सारे शास्त्रसाधन, सब कर्म-विकर्म डूब गये। सब कर्म-साधना इस समर्पण योगमें विलीन हो गई। समर्पण-योगको ही राज-योग कहते हैं। यहां सब साधन समाप्त हो गये। यह व्यापक और समर्थ ईश्वरार्पणरूपी साधन यों बहुत सादा और मामूली दिखता है, परंतु हो बैठा है कठिन। यह साधना सरल इसलिए है कि बिलकुल अपने घरमें बैठकर एक गंवारसे लेकर विद्वान् तक सब बिना विशेष श्रमके इसे साध सकते हैं। हालांकि यह इतना सरल है, फिर भी इसे साधनेके लिए बड़े भारी पुण्य की जरूरत है।

'अनेक सुकृतोंका योग---इसीसे विट्ठलमें प्रेम।'

अनंत जन्मोंका पुण्य संचित हो जाता है, तभी ईश्वरमें रुचि

उत्पन्न होती है। जरा कुछ हो तो आंखोंसे आंसू बहने लगते हैं; परंतु भगवान्का नाम लेते ही आंखोंमें दो बूंद आंसू कभी नहीं आते। इसका उपाय क्या ? संतोंके कथनानुसार एक तरहसे यह साधना बहुत ही सरल है। परंतु दूसरे पहलूसे वह कठिन भी है और वर्तमान समयमें तो और भी कठिन हो गई है।

आज तो जड़-वादका पटल हमारी आंखोंपर पड़ा हुआ है। आज तो शुरूआत यहांसे होती है कि ईश्वर कहीं है भी ? वह कहीं भी किसी को प्रतीत ही नहीं होता। सारा जीवन विकारमय, विषयलोलुप और विषमतासे परिपूर्ण हो रहा है। इस समय तो जो ऊंचे-से-ऊंचे तत्त्व-ज्ञानी हैं, उनके भी विचार इस बातसे आगे जा ही नहीं सकते कि सबको पेटभर रोटी कैसे मिलेगी। इसमें उनका दोष नहीं है; क्योंकि आज हालत ऐसी है कि कइयोंको खानेको भी नहीं मिलता। आजकी बड़ी समस्या है रोटीकी। इस समस्या को हल करनेमें आज सारी बुद्धि उलझ रही है। सायणाचार्यने रुद्रकी व्याख्या की है—

"बुभुक्षमाणः रुद्ररूपेण अवतिष्ठते"

भूखे लोग ही रुद्रके अवतार हैं। उनकी क्षुधा-शांतिके लिए अनेक तत्त्व-ज्ञान और विभिन्न राज-कारण बन गये हैं। भिन्न-भिन्न 'वाद' इसी रोटीके लिए खड़े हुए हैं। इन समस्याओंमेंसे सिर ऊपर उठानेके लिए आज फुरसत ही नहीं मिलती। आज हमारे सारे भगीरथ प्रयत्न इसी दिशामें हो रहे हैं कि परस्पर न लड़ते हुए सुख-शांतिसे व प्रसन्न मनसे रोटी कैसे खा लें। ऐसी विचित्र समाज-रचना जिस युगमें हो रही है, वहां ईश्वरार्पणता—जैसी सीधी-सादी और सरल बात भी बहुत कठिन हो बैठे तो क्या आश्चर्य ! परंतु इसका उपाय क्या है ? दसवें अध्यायमें आज हम यही देखनेवाले हैं कि ईश्वरार्पण-योग कैसे साधा जाय, कैसे सरल बनाया जाय।

(५०)

छोटे बच्चोंको पढ़ानेके लिए जो तदबीर हम करते हैं, वैसी ही तरकीब, परमात्माका दर्शन सर्वत्र हो, इसलिए, इस अध्यायम की गई है। बच्चोंको वर्णमाला दो तरहसे सिखाई जाती है। एक तरकीब पहल

बड़े-बड़े अक्षर लिखकर बतानेकी। फिर इन्हीं अक्षरोंको छोटा लिख-लिखकर बताया जाता है। वही 'क' और वही 'ग', परंतु पहले ये बड़े थे, अब छोटे हो गये। यह एक विधि हुई। दूसरी विधि यह कि पहले सीधे-सादे सरल अक्षर सिखाये जायं और बादमें जटिल संयुक्ताक्षर। ठीक इसी तरह परमेश्वरको देखना सीखना चाहिए। पहले स्थूल, स्पष्ट परमेश्वरको देखें। समुद्र, पर्वत आदि महान् विभूतियोंमें प्रकटित परमेश्वर तुरंत आंखोंमें समा जाता है। यह स्थूल परमात्मा समझमें आ गया तो एक जल-बिंदुमें, मिट्टीके एक कणमें वही परमात्मा भरा हुआ है, यह भी आगे समझ में आ जायगा। बड़े 'क' व छोटे 'क' में कोई फर्क नहीं। जो स्थूलमें, वही सूक्ष्ममें। यह एक पद्धति हुई। अब दूसरी पद्धति है, सीधे-सादे सरल परमात्माको पहले देख लें, फिर उसके जटिल रूपको। जिस व्यक्तिमें शुद्ध परमेश्वरी आविर्भाव सहज रूपसे प्रकट हुआ है, वह बहुत जल्दी ग्रहण कर लिया जा सकता है, जैसे राममें प्रकटित परमेश्वरी आविर्भाव तुरंत मनपर अंकित हो जाता है। राम सरल अक्षर है। यह बिना झंझटका परमेश्वर है। परंतु रावण? वह संयुक्ताक्षर है। इसमें कुछ-न-कुछ मिश्रण है। रावण की तपस्या, कर्म-शक्ति महान् है। परंतु उसमें क्रूरता मिली हुई है। पहले रामरूपी सरल अक्षरको सीख लो। जिसमें दया है, वत्सलता है, प्रेम-भाव है, ऐसा राम सरल परमेश्वर है, वह तुरंत पकड़में आ जायगा। रावणमें रहनेवाले परमेश्वरको समझनेमें जरा देर लगेगी। पहले सरल, फिर संयुक्ताक्षर। सज्जनोंमें पहले परमात्माको देखकर अंतको दुर्जनोंमें भी उसे देखने का अभ्यास करना चाहिए। समुद्र-स्थित विशाल परमेश्वर ही पानीकी उस बूंदमें है। रामचंद्रके अंदरका परमेश्वर ही रावणमें है। जो स्थूलमें है, वही सूक्ष्ममें भी। जो सरलमें है, वही कठिनमें भी। इन दो विधियोंसे हमें यह संसाररूपी ग्रंथ पढ़ना सीखना है।

यह अपार सृष्टि मानो ईश्वरकी पुस्तक है। आंखोंपर गहरा पर्दा पड़नेसे यह पुस्तक हमें बन्द हुई-सी जान पड़ती है। इस सृष्टिरूपी पुस्तकमें सुंदर वर्णोंमें परमेश्वर सर्वत्र लिखा हुआ है। परंतु वह हमें दिखाई नहीं देता। ईश्वरका दर्शन होनेमें एक बड़ा विघ्न है। वह यह कि मामूली सरल नजदीकका ईश्वर-स्वरूप मनुष्यकी समझमें नहीं आता

और दूरका प्रखर रूप उसे हजम नहीं होता। यदि उससे कहें कि अपनी मातामें ईश्वरको देखो, तो वह कहेगा—क्या ईश्वर इतना सीधा और सरल है ? पर यदि प्रखर परमात्मा प्रकट हुआ तो उसका तेज तुम सह सकोगे ? कुंतीके मन में हुआ—वह दूरवाला सूर्य मुझे प्रत्यक्ष आकर मिले; परंतु उसके नजदीक आते ही वह जलने लगी। उसका तेज उससे सहन न हुआ। ईश्वर यदि अपने सारे सामर्थ्यके साथ सामने आकर खड़ा हो जाय तो हमें पच नहीं सकता। यदि माताके सौम्य रूपमें आकर खड़ा हो जाय तो वह जंचता नहीं। पेड़ा-बर्फी पचता नहीं, और मामूली दूध रुचता नहीं। ये लक्षण हैं—फूटी किस्मतके, मरणके। ऐसी यह रुग्ण मनःस्थिति परमेश्वरके दर्शनमें बड़ा भारी विघ्न है। इस मनःस्थिति को हटाने की बड़ी भारी जरूरत है। पहले हम अपने पासके स्थूल और सरल परमात्मा को पढ़ लें और फिर सूक्ष्म और जटिल परमात्माको पढ़ें।

(५१)

बिलकुल पहली परमेश्वरकी मूर्ति जो हमारे पास है, वह है खुद हमारी मां। श्रुति कहती है—"मातृदेवो भव।" पैदा होते ही बच्चेको मांके सिवाय और कौन दिखाई देता है ? वत्सलताके रूपमें वह परमेश्वर-की मूर्ति ही वहां उपस्थित दिखाई देती है। उस माताकी ही व्याप्तिको हम बढ़ा लें और 'वन्दे मातरम्' कहकर राष्ट्र-माताकी और फिर अखिल भू-माता पृथ्वी की पूजा करें। परंतु प्रारंभमें सबसे ऊंची परमेश्वरकी पहली प्रतिमा, जो बच्चेके सामने आती है, वह माताके रूपमें। माताकी पूजासे मोक्ष मिलना असंभव नहीं है। माताकी पूजा क्या है, मानो वत्सलतासे खड़े परमेश्वर की ही पूजा है। मां तो एक निमित्तमात्र है। परमेश्वर उसमें अपनी वत्सलता उंडेलकर उसे नचाता है। उस बिचारी को मालूम भी नहीं होता कि यह इतनी माया-ममता भीतरसे क्यों मालूम होती है ? क्या वह यह हिसाब लगाकर बच्चेका लालन-पालन करती है कि बुढ़ापे में काम आयेगा ? नहीं-नहीं, उसने उस बालकको जन्म दिया है। उसे प्रसव-वेदना हुई है। उन वेदनाओंने उसे उस बच्चेके लिए पागल बना दिया है। वे वेदनाएं उसे वत्सल बना देती हैं। वह प्यार किये बिना रह ही नहीं सकती। वह मजबूर है। वह मां मानो निस्सीम

सेवाकी मूर्ति है। परमेश्वरकी यदि कोई सबसे उत्कृष्ट पूजा है तो वह है मातृ-पूजा। ईश्वरको मांके ही नामसे पुकारो। मांसे बढ़कर और ऊंचा शब्द है कहां ? मां यह पहला स्थूल अक्षर है। उसमें ईश्वर देखना सीखो। फिर पिता, गुरु इनमें भी देखो। गुरु शिक्षा देते हैं। वह हमें पशुसे मनुष्य बनाते हैं। कितने हैं उनके उपकार ! पहले माता, फिर पिता, फिर गुरु, फिर दयालु संत। अत्यन्त स्थूल रूपमें खड़े इस परमेश्वर-रूपको पहले देखो। अगर परमेश्वर यहां नहीं दिखाई दिया तो फिर दीखेगा कहां ?

माता, पिता, गुरु, संत—इनमें परमात्मा को देखो। उसी तरह यदि छोटे बालकोंमें भी हम परमात्मा को देख सकें तो कितना मजा आये ? ध्रुव, प्रह्लाद, नचिकेता, सनक, सनंदन, सनत्कुमार—ये सब छोटे बालक ही तो थे। परन्तु पुराणकारोंको, व्यासादिकको उनसे इतना प्रेम हो गया कि अब उन्हें कहां रखें, कहा न रखें ? शुकदेव, शंकराचार्य बचपनसे ही विरक्त थे। ज्ञानदेव का भी यही हाल था। सब-के-सब बालक। परन्तु उनमें परमेश्वर जितने शुद्ध रूपमें प्रकट हुआ है, उतना कहीं अन्यत्र नहीं। ईसामसीह बच्चोंको बहुत प्यार करते थे। एक बार उनके शिष्य ने उनसे पूछा—"आप हमेशा ईश्वरीय राज्यका जिक्र करते हैं, तो इस ईश्वरके राज्यमें आखिर जा कौन सकेगा ?" पास ही एक बच्चा बैठा था। ईसा ने उसे मेज पर खड़ा करके कहा—"जो इस बच्चे की तरह होंगे, वे ही वहां पहुंच सकेंगे।" ईसाका कहना बिलकुल सच था। रामदास स्वामी एक बार बच्चे के साथ खेल रहे थे। बच्चे के साथ समर्थ खेल रहे थे, यह देखकर कुछ बड़े-बूढ़ों को आश्चर्य हुआ। एक ने उनसे पूछा—"आज आप यह क्या कर रहे हैं ?" समर्थने जवाब दिया—

हुए श्रेष्ठ वे, जो रहे हों कनिष्ठ।
रहे ज्येष्ठ जो, हो रहे चोर श्रेष्ठ॥

ज्यों-ज्यों उम्र बढ़ती है, त्यों-त्यों मनुष्यके मनमें सींग फूटते हैं—वासनाएं बढ़ती जाती हैं। फिर परमेश्वरका स्मरण कहां ? छोटे बच्चोंके मनपर कोई लेप नहीं रहता। उनकी बुद्धि निर्मल रहती है।

बच्चेको हम सिखाते हैं—"झूठ मत बोलो।" वह पूछता है—"झूठ किसे कहते हैं ?" तब उसे सिद्धांत बताते हैं—"बात जैसी हो वैसी ही कहना चाहिए।" लड़का उलझनमें पड़ता है कि क्या जैसा हो वैसा कहनेके अलावा भी कहनेका कोई दूसरा तरीका है ? जैसा नहीं हो, वैसा कहें कैसे ? चौकोरको चौकोर कहो, गोल मत कहो—ऐसा ही कहने जैसा है। बच्चेको आश्चर्य होता है। बच्चे क्या हैं, विशुद्ध परमात्मा की मूर्ति हैं। बड़े लोग उन्हें गलत शिक्षा देते हैं। जो हो, मां, बाप, गुरु, संत, बच्चे—इनमें यदि हम परमात्माको न देख सकें तो फिर किस रूपमें देखेंगे ? इससे उत्कृष्ट रूप परमेश्वरका दूसरा नहीं है। परमेश्वर-के इन सादे सौम्य रूपोंको पहले जानो। इनमें परमेश्वर स्पष्ट व मोटे अक्षरों में लिखा हुआ है।

(५२)

पहले हम मानवकी सौम्यतम व पावन मूर्तियोंमें परमात्माका दर्शन करना सीखें। उसी तरह इस सृष्टिमें भी जो-जो विशाल व मनोहर रूप हैं, उनमें उसके दर्शन पहले करें। उषाको ही लो। सूर्योदयके पहलेकी वह दिव्य प्रभा। इस उषा-देवताके गान गाते हुए मस्त होकर ऋषि नाचने लगते हैं, "उषे, तू परमेश्वरका संदेश लानेवाली दिव्य दूतिका है, तू हिमकणोंसे नहाकर आई है। तू अमृतत्व की पताका है।" ऐसे भव्य हृदयंगम वर्णन ऋषियोंने उषाके किये हैं। वैदिक ऋषि कहते हैं—"तेरा दर्शन करके, जो कि परमेश्वरकी संदेश-वाहिका है, यदि परमेश्वरका रूप न दिखाई दे, न समझमें आये तो फिर मुझे परमेश्वरका परिचय कौन करायेगा।" इतनी सुन्दरतासे सज-धजकर यह उषा सामने खड़ी है, परंतु हमारी निगाह वहांतक जाय तब न ?

उसी तरह उस सूर्यको देखो। उसके दर्शन मानो परमात्माके ही दर्शन हैं। वह नाना प्रकारके रंग-बिरंगे चित्र आकाशमें खींचता है। चित्रकार महीनों कूंची इधर-उधर घुमाकर सूर्योदयके चित्र बनाते और उनमें रंग भरते हैं। परन्तु तुम सुबह उठकर परमेश्वरकी कलाको देखो तो ! उस दिव्य कलाके लिए—उस अनन्त सौन्दर्यके लिए भला क्या उपमा दी जा सकेगी ? परन्तु देखता कौन है ? उधर सुंदर भगवान् खड़ा है और इधर यह मुंहपर और भी रजाई ओढ़कर नींदमें खुर्राटे

भरता है। सूर्य कहता है—"अरे आलसी, तू तो पड़ा ही रहना चाहता है, किंतु मैं तुझे उठाऊंगा।" और ऐसा कहकर वह अपने जीवन-किरण खिड़कियोंमेंसे भेजकर उस आलसीको जगा देता है।

"सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च"

सूर्य समस्त स्थावर-जंगम का आत्मा है। चराचर का आधार है। ऋषि ने उसे 'मित्र' नाम दिया है —

"मित्रो जनान् यातयति ब्रुवाणो,
मित्रो दाधार पृथिवीमुत द्याम्।"

"यह मित्र लोगोंको पुकारता है, उनको काम-धाममें लगाता है। वह स्वर्ग और पृथ्वी को धारण किये है।" सचमुच ही वह सूर्य जीवनका आधार है। उसमें परमात्माके दर्शन करो।

और वह पावन गंगा! जब मैं काशीमें था तो गंगाके किनारे जाकर बैठ जाया करता। रातमें, एकान्त समयमें जाता था। कितना सुन्दर और प्रसन्न उसका प्रवाह था। उसका वह भव्य गंभीर प्रवाह और उसके उदरमें संचित वे आकाशके अनंत तारे! मैं मूक बन जाता। शंकरके जटाजूटसे अर्थात् उस हिमालयसे बहकर आनेवाली वह गंगा, जिसके तीरपर राजपाटको तृणवत् फेंककर राजा लोग तप करने जाते थे, उस गंगाका दर्शन करके मुझे असीम शांति अनुभव होती है। उस शांतिका वर्णन मैं कैसे करूं? वाणीकी वहां सीमा आ जाती है। यह समझमें आने लगा कि हिन्दू यह क्यों चाहता है कि मरने पर कम-से-कम मेरी अस्थि तो गंगामें पड़ जाय? आप हँसिये। आपके हँसनेसे कुछ बिगड़ता नहीं; परन्तु मुझे ये भावनाएं बहुत पवित्र और संग्रहणीय मालूम होती हैं। मरते समय गंगाजलके दो बूंद मुंहमें डालते हैं। वे दो बूंद क्या हैं? मानो परमेश्वर ही मुंहमें उतर आता है। उस गंगाको परमात्मा ही समझो। वह परमेश्वरकी करुणा बह रही है। तुम्हारा सारा भीतरी-बाहरी कूड़ा-कर्कट वह माता धो रही है, बहा ले जा रही है। गंगामातामें यदि परमेश्वर प्रकटित न दिखाई दे तो कहां दिखाई देगा? सूर्य, नदियां, धू-धू करके हिलोरें मारनेवाला वह विशाल सागर, ये सब परमेश्वर की ही मूर्तियां हैं।

और वह हवा ! कहांसे आती है, कहां जाती है, कुछ पता नहीं। यह भगवान्‌का दूत ही है। हिंदुस्तानमें कुछ हवा स्थिर हिमालयपरसे आती है, कुछ गंभीर सागरपरसे। यह पवित्र हवा हमारे हृदयको छूती है, हमें जाग्रत करती है, हमारे कानोंमें गुनगुनाती है; परन्तु इस हवाका संदेश सुनता कौन है? जेलरने यदि हमारा चार सतरोंका खत न दिया तो हमारा दिल खट्टा हो जाता है। अरे मंदभागी, क्या रखा है उस चिट्ठीमें? परमेश्वरका यह प्रेम-संदेश, हवाके साथ हर घड़ी आ रहा है, उसे तू सुन !

और हमारे घरके नित्य काम-काजमें आनेवाले इन पशुओंको देखो ! वह गो-माता कितनी वत्सल, कितनी ममता व प्रेमसे परिपूर्ण है ! दो-दो तीन-तीन मीलसे, जंगल-झाड़ियोंसे अपने बछड़ोंके लिए कैसी दौड़कर आती हैं ! वैदिक ऋषियोंको पहाड़ों-पर्वतोंसे स्वच्छ जलको लेकर कल-कल करती हुई आनेवाली नदियां देखकर अपने बछड़ोंके लिए दूध-भरे स्तनोंको लेकर रंभाती हुई आनेवाली वत्सल गायोंकी याद हो जाती है। वह ऋषि नदीसे कहता है—"हे देवि, दूधकी तरह पवित्र, पावन, मधुर जल लानेवाली तू धेनु जैसी है। जैसे गाय जंगलमें ही नहीं रह सकती, वैसे ही तुम नदियोंसे भी पर्वतोंमें नहीं रहा जा सकता। तुम सरपट दौड़ती हुई प्यासे बालकोंसे मिलनेके लिए आती हो।"

"वाश्रा इव धेनवः स्यन्दमानाः"

वत्सल गायके रूपमें भगवान् ही दरवाजेपर खड़ा है।

और उस घोड़ेको देखो ! कितना ईमानदार, कितना वफादार। अरब लोग अपने घोड़ोंसे कितना प्यार करते हैं। उस अरबकी कहानी तुम्हें मालूम है न? एक विपत्तिग्रस्त अरब एक सौदागरको घोड़ा बेचनेके लिए तैयार हो जाता है। हाथमें मुहरोंकी थैली लेकर वह तबेलेमें जाता है, परन्तु घोड़ेकी उन गंभीर और प्रेमपूर्ण आंखोंपर उसकी निगाह पड़ती है तो वह थैली फेंक देता है और कहता है कि "मेरी जान चली जाय, पर मैं घोड़ा नहीं बेचूंगा। मेरा जो कुछ होगा हो जायगा। खाना न मिले तो पर्वाह नहीं, परन्तु घोड़ा नहीं बेचूंगा। ख़ुदा मेरी मदद करेगा।" पीठ थपथपाते ही कैसे वह प्रेमसे फुरफुराता

है, कैसी बढ़िया उसकी अयाल ! सचमुच घोड़ेमें अनमोल गुण हैं। इस साइकिलमें क्या रखा है ? घोड़ेको खुर्रा करो, वह तुम्हारे लिए जान दे देगा। तुम्हारा साथी होकर रहेगा। मेरा एक मित्र घोड़ेपर बैठना सीख रहा था। घोड़ा उसे गिरा देता। वह मुझसे कहने लगा—घोड़ा तो बैठने ही नहीं देता। मैंने उससे कहा—"तुम सिर्फ घोड़ेपर बैठनेके ही लिए जाते हो, मगर उसकी खिदमत भी करते हो या नहीं ? खिदमत तो करे दूसरा और उसकी पीठपर सवारी करो तुम, यह कैसा ? तुम खुद उसे दाना-पानी दो, खुर्रा करो और फिर सवारी करो !" उसने वैसा ही किया। कुछ दिनों बाद मुझसे आकर कहा—अब घोड़ा गिराता नहीं है। घोड़ा तो परमेश्वर है। वह भक्तोंको क्यों गिरायेगा ! उसकी भक्ति देखकर घोड़ा नरम हो गया। घोड़ा जानना चाहता है कि यह भक्त है या और कोई। भगवान् श्रीकृष्ण खुद खुर्रा करते थे और अपने पीताम्बरमें दाना लाकर उसे खिलाते थे। टेकरी आ गई हो, नाला आ गया हो, कीचड़ आ गया हो, साइकिल रुक जाती है, मगर घोड़ा फांदता चला ही जाता है। यह सुन्दर प्रेममय घोड़ा मानो परमेश्वरकी मूर्ति ही है।

और उस सिंहको लो ! बड़ौदेमें मैं रहता था। सुबह-ही-सुबह उसकी गर्जनाकी गंभीर ध्वनि कानोंमें पड़ती। उसकी आवाज इतनी गंभीर और उम्दा होती थी कि हृदय डोलने लगता। मंदिरोंके गर्भ-गृहोंमें जैसी आवाज गूंजती है, वैसी ही गंभीर उसके हृदय-गर्भकी वह ध्वनि थी। और सिंहकी वह धीरोदात्त, भव्य, निर्भय मुद्रा, उसका वह शाही ढंग व शाही वैभव ! यह भव्य सुन्दर अयाल, मानो चंवर ही उस वनराज पर ढल रहे हों। बड़ौदेके एक बागमें यह सिंह था। वहां वह आजाद नहीं था, पिंजड़ोंमें चक्कर काटता था। उसकी आंखोंमें जरा भी क्रूरता नहीं मालूम होती थी। उसकी मुद्रा व दृष्टि में करुणा भरी हुई थी। मानो संसारकी उसे कुछ परवाह नहीं थी। अपने ही ध्यानमें वह मग्न दिखाई देता था। सचमुच ही ऐसा मालूम होता है मानो सिंह परमेश्वरकी एक पावन विभूति है। बचपनमें मैंने एण्ड्रोक्लीज़ और सिंहकी कहानी पढ़ी थी। कितनी बढ़िया कहानी है वह ! वह भूखा-प्यासा सिंह एण्ड्रोक्लीज़के पहलेके अहसानको स्मरण

करके उसका दोस्त हो जाता है और उसके पैर चाटने लगता है। इसका क्या मर्म है ? एण्ड्रोक्लीज़ने सिंहमें रहनेवाले परमेश्वरका दर्शन कर लिया था। भगवान् शंकरके पास सदैव सिंह रहता है। सिंह भगवान्‌की दिव्य विभूति है।

और शेरकी भी क्या कम मौज है ? उसमें बहुतेरा ईश्वरीय तेज व्यक्त हुआ है। उससे मित्रता रखना असंभव नहीं। भगवान् पाणिनि अरण्यमें बैठे शिष्योंको पाठ पढ़ा रहे थे। इतनेमें शेर आ गया। लड़के डरसे चिल्लाने लगे—"व्याघ्रः, व्याघ्रः।" पाणिनि ने कहा—"अच्छा, व्याघ्रका मतलब क्या है ? 'व्याजिघ्रतीति व्याघ्रः' अर्थात् जिसकी घ्राणेंद्रिय तीव्र है, वह व्याघ्र है।" बालकोंको उससे कुछ डर लगा हो; पर भगवान् पाणिनिके लिए तो वह व्याघ्र एक निरुपद्रवी, आनंदमय शब्दमात्र हो गया था। बाघको देखकर वे उस शब्दकी व्युत्पत्ति बताने लगे। बाघ पाणिनिको खा गया, परन्तु बाघके खा जानेसे क्या हुआ ? पाणिनिके शरीरकी मीठी गंध उसे लगी, उसका मन चल गया व उसने फाड़ खाया। परन्तु पाणिनि वहांसे भाग नहीं छूटे; क्योंकि वे तो शब्दब्रह्मके उपासक थे। उनके लिए सबकुछ अद्वैतमय हो गया था। व्याघ्रमें भी वे शब्द-ब्रह्मका अनुभव कर रहे थे। पाणिनिकी इस महानताके कारण ही भाष्योंमें जहां कहीं उनका नाम आया, वहां-वहां 'भगवान् पाणिनि' इस तरह पूज्य-भावसे उनका उल्लेख किया गया है। वे पाणिनिका अत्यंत उपकार मानते हैं।

अज्ञानान्धस्य लोकस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै पाणिनये नमः॥

ऐसे भगवान् पाणिनि व्याघ्रमें परमात्माका दर्शन कर रहे हैं। ज्ञानदेवने कहा है—

घर आवे क्यों न स्वर्ग, या आ चढ़े व्याघ्र,
तो भी आत्म-बुद्धिमें भंग, न हो कभी।

ऐसी महर्षि पाणिनिकी स्थिति हो गई थी। वे इस बातको समझ गए थे कि बाघ एक दैवी विभूति है।

वैसे ही सांपको भी समझो। सांपसे लोग बहुत डरते हैं। परंतु

सांप मानो कठोर शुद्धि-प्रिय ब्राह्मण ही है। कितना स्वच्छ ! कितना सुंदर ! जरा भी गंदगी उसे बर्दाश्त नहीं। गंदे ब्राह्मण कितने ही दिखाई देते हैं। परंतु गंदा सांप कभी किसीने देखा ? मानो एकांतवासी ऋषि ही हो। निर्मल, सतेज, मनोहर हार जैसा वह सांप। उससे डरनकी क्या जरूरत ? हमारे पूर्वजोंने तो उसकी पूजाका विधान किया है। भले ही आप कहिए कि हिंदू-धर्ममें न जाने क्या-क्या वहम फैले हुए हैं; परंतु नाग-पूजाका विधान उसमें जरूर है। बचपनमें मैं अपनी मांके लिए उबटनसे नागका चित्र बना दिया करता था। मैं मांसे कहता—"बाजारमें तो अच्छा चित्र मिल जाता है, मां !" वह कहती—"वह रद्दी होता है, मुझे नहीं चाहिए। अपने बच्चेका बनाया चित्र अच्छा होता है।" फिर उस नागकी पूजा की जाती। यह क्या पागलपन है ? परंतु जरा विचार कीजिए। वह सर्प श्रावण मास में अतिथि बनकर हमारे घर आता है। बरसात हो जानेसे उस बेचारेके सारे घरमें पानी भर जाता है। तब वह क्या करेगा ? दूर एकांतमें रहनेवाला वह ऋषि आपको फिजूल तकलीफ न हो, इस खयालसे किसी छप्परके नीचे कहीं लकड़ियोंमें पड़ा रहता है। कम-से-कम जगह वह घेरता है। परंतु हम डंडा लेकर जा पहुंचते हैं। संकटग्रस्त अतिथि यदि हमारे घर आ जाय तो क्या उसे मारना उचित है ? संत फ्रांसिसके लिए कहा जाता है कि जब जंगलमें सांप दिखाई देता दो वह उससे बड़े प्रेम-भावसे कहता—"आ, भाई आ !" सांप उसकी गोदमें खेलते, उसके शरीरपर इधर-उधर चढ़ जाते। इसे झूठ मत समझिये। प्रेममें अवश्य ऐसी शक्ति रहती है। सांपको कहते हैं कि वह विषैला है; परंतु मनुष्य क्या कम विषाक्त है ? सांप तो कभी-कभी काटता है। खुद होकर नहीं काटता। सौमें नब्बे तो निर्विष ही होते हैं। तुम्हारी खेतीकी वह रक्षा करता है। खेतीका नाश करनेवाले असंख्य कीड़ों और जंतुओंको खाकर रहता है। ऐसा यह उपकारी, शुद्ध, तेजस्वी, एकांत-प्रिय सर्प भगवान्‌का रूप है। हमारे तमाम देवताओंमें कहीं-न-कहीं सांप जरूर आता है। गणेशजी-की कमरमें सांपका कमर-पट्टा बंधा हुआ है। शंकरके गलेमें सांप लिपटे रहते हैं और भगवान विष्णु तो नाग-शय्यापर ही सोये हुए हैं। इसका मर्म, इसका माधुर्य जरा समझो। इन सबका भावार्थ यह कि

नागके द्वारा यह ईश्वरीय मूर्त्ति ही व्यक्त हुई है। सर्पस्थ इस परमेश्वरका परिचय प्राप्त कर लो।

(५३)

ऐसे कितने उदाहरण दूं? मैं तो सिर्फ खयाल दे रहा हूं। रामायणका सारा सार इस प्रकारकी रमणीय कल्पनामें ही है। रामायणमें पिता-पुत्रका प्रेम, मां-बेटोंका प्रेम, भाई-भाईका प्रेम, पति-पत्नीका प्रेम, यह सबकुछ है; परंतु मुझे रामायण इसके लिए प्रिय नहीं है। मुझे वह पसंद इसलिए है कि रामकी मित्रता वानरोंसे हुई। आजकल कहते हैं कि वे वानर तो नाग-जातिके थे। इतिहासज्ञोंका काम ही है, पुरानी बातोंकी छानवीन करना। उनके इस कार्यपर मैं आपत्ति नहीं उठाता, लेकिन रामने यदि असली वानरोंसे मित्रता की हो तो इसमें असंभव क्या है? रामका रामत्व, रमणीयत्व सचमुच इसी बातमें है कि राम और वानर मित्र हो गये। इसी तरह कृष्णका और गायोंका संबंध। सारी कृष्ण-पूजाका आधार यह कल्पना है। श्रीकृष्णके किसी चित्रको लीजिए तो आपको इर्द-गिर्द गायें खड़ी मिलेंगी। गोपाल कृष्ण, गोपाल कृष्ण! यदि कृष्णसे गायोंको अलग कर दो तो फिर कृष्णमें बाकी क्या रहा? रामसे यदि वानर हटा दिये तो फिर उस राममें भी क्या राम बाकी रहा? रामने वानरोंमें भी परमात्माके दर्शन किये व उनके साथ प्रेम और घनिष्ठताका संबंध स्थापित किया। यह है रामायणकी कुंजी! इस कुंजीको आप भूल जायंगे तो रामायणकी मधुरता खो देंगे। पिता-पुत्रका, मां-बेटेका प्रेम तो और जगह भी मिल जायगा, परंतु नर-वानरकी यह अनन्य मधुर मैत्री सिर्फ रामायणमें ही मिलेगी, और कहीं नहीं। वानरमें स्थित भगवान्‌को रामायणने आत्मसात् किया। वानरोंको देखकर ऋषियोंको बड़ा कौतुक होता। ठेठ रामटेकसे लेकर कृष्णा-तटतक जमीनपर पैर न रखते हुए वे वानर एक पेड़से दूसरे पेड़पर कूदते-फांदते और क्रीड़ा करते घूमते थे। ऐसे उस सघन वन को और उसमें क्रीड़ा करनेवाले वानरोंको देखकर उन सहृदय ऋषियोंके मनमें कवित्व जाग उठता, कौतुक होता। ब्रह्मकी आंखें कैसी होती हैं, यह बताते हुए उपनिषदोंने बंदरोंकी आंखोंकी उपमा दी है। बंदरकी आंखें बड़ी चंचल, चारों ओर उनकी निगाह।

ब्रह्म की आंखें ऐसी ही होनी चाहिए। ईश्वरका काम आंखें स्थिर रखनेसे न चलेगा। हम-आप ध्यानस्थ होकर बैठ सकते हैं, परंतु यदि ईश्वर ही ध्यानस्थ हो जाय तो फिर दुनियाका क्या हाल हो? अतः बंदरोंमें ऋषियोंको सबकी चिंता रखनेवाली ब्रह्म की आंखें दिखाई देती हैं। वानरोंमें परमात्माके दर्शन करना सीख लो।

और वह मोर—महाराष्ट्रमें मोर बहुत नहीं हैं, परंतु गुजरातमें उनकी विपुलता है। मैं गुजरातमें था। रोज दस-बारह मील घूमनेकी मेरी आदत थी। घूमते हुए मुझे मोर दिखाई देते थे। जब आकाशमें बादल छा रहे हों, मेह बरसनेकी तैयारी हो, आकाशका रंग गहरा श्याम हो गया हो तब मोर अपनी ध्वनि सुनाता है। हृदयसे खिंचकर निकलनेवाली उसकी वह तीव्र पुकार एक बार सुनो तो मालूम हो। हमारा सारा संगीत-शास्त्र मयूरकी इस ध्वनिपर ही रचा गया है। मयूरकी ध्वनि ही षड्ज—"षड्जं रौति।" यह पहला 'षड्ज' हमें मोरसे मिला। फिर घटा-बढ़ाकर दूसरे स्वर हमने बिठाये। मेघकी ओर गड़ी हुई उसकी वह दृष्टि, उसकी वह गंभीर ध्वनि और मेघ की गड़गड़ गर्जना सुनते ही फैलनेवाली उसकी वह पूंछकी छत्री! अहा हा! छत्रीके उस सौंदर्यके सामने मनुष्यकी सारी शान चूर हो जाती है। राजा-महाराजा भी सजते हैं, परंतु मोर-पुच्छकी छत्रीके सामने वे क्या सजेंगे? कैसा उसका भव्य दृश्य! वे हजारों आंखें, वे रंग-बिरंगी अनंत छटाएं, वह अद्भुत सुंदर, मृदु, रमणीय रचना, वह उम्दा बेल-बूटा! जरा देखिये तो उस छत्रीको और उसमें परमात्मा भी देखिए! यह सारी सृष्टि इसी तरह सजी हुई है। सर्वत्र परमात्मा दर्शन देता हुआ खड़ा है, परंतु उसे न देखनेवाले हम अभागे! तुकारामने कहा है—

'प्रभुका सर्वत्र सुकाल, अभागी को है अकाल।'

संतोंके लिए सर्वत्र सुकाल है। परंतु हम अभागोंके लिए सब जगह अकाल है।

वेदोंमें अग्निकी उपासना बताई गई है। अग्नि नारायण है। कैसी उसकी देदीप्यमान मूर्त्ति! दो लकड़ियोंको रगड़िए, वह प्रकट हो जाता है। क्या जाने पहले कहां छिप रहा था। कितना गरम, कितना

तेजस्वी ! वेदोंकी जो पहली ध्वनि निकली, वह अग्निकी उपासनाको लेकर ही—

"अग्निमीळे पुरोहितं यज्ञस्य देवमृत्विजम् ।
होतारं रत्नधातमम् ।"

जिस अग्निकी उपासनासे वेदोंका आरंभ हुआ, उसकी ओर तुम देखो तो। उसकी वे ज्वालाएं देखनेसे मुझे जीवात्माके उखाड़-पछाड़की याद आ जाती है। वे ज्वालाएं, वे लपटें चाहे घरके चूल्हेकी हों, चाहे जंगलकी दावाग्निकी हों—वैरागीके घरबार जैसा तो होता ही नहीं। वे ज्वालाएं जहां होंगी, वहां उनकी वह दौड़-धूप शुरू ही है। वे लगातार छटपटाती रहती हैं। वे ज्वालाएं और ऊपर जानेके लिए आतुर रहती हैं। आप—विज्ञान-वेत्ता—लोग कहेंगे कि ईथरके कारण ये ज्वालाएं हिलती हैं, हवाके दबावके कारण हिलती हैं। परंतु कम-से-कम मेरा अर्थ यह है। वह ऊपर जो परमात्मा है, वह तेज-समुद्र सूर्य-नारायण जो ऊपर है, उससे मिलनेके लिए वे निरंतर उछल रही हैं। जन्मसे लेकर मरनेतक उनकी दौड़-धूप जारी रहती है। सूर्य अंशी है और ये ज्वालाएं अंश हैं। अंश अंशीकी ओर जानेके लिए छटपटाता रहता है। वे लपटें बुझ जायंगी तभी वह दौड़-धूप बंद होगी, वरना नहीं। सूर्यसे हम बहुत दूरी पर हैं, यह विचार भी उनके मनमें नहीं आता। वे इतना ही जानती हैं कि अपनी शक्तिभर पृथ्वीसे ऊपर उछलती चली जायं। ऐसा यह अग्नि क्या, मानो उसके रूपमें जाज्वल्य वैराग्य ही प्रकट हो गया है। इसलिए वेदकी पहली ध्वनि हुई—'अग्निमीळे'।

और मैं उस कोयलको कैसे भुलाऊं ? किसे पुकारती है वह ? गर्मियोंमें नदी-नाले सूख गये, परंतु वृक्षोंमें नव-पल्लव छिटक रहे हैं। वह यह तो नहीं पूछ रही है कि किसने उसे यह वैभव प्रदान किया, कहां है वह वैभवदाता ? कैसी उत्कट मधुर कूक ! हिंदूधर्ममें कोयलके व्रतका तो विधान ही है। स्त्रियां व्रत लेती हैं कि कोयलकी आवाज सुने बिना वे भोजन नहीं करेंगी। कोयलके रूपमें प्रकट परमात्माका दर्शन करना सिखानेवाला यह व्रत है। वह कोयल कितनी सुंदर कूक लगाती है, मानो उपनिषद् ही गाती है। उसकी कुहू-कुहू तो कानोंको सुनाई देती है, परंतु वह दिखाई नहीं देती। वह अंग्रेजी कवि वर्ड्स्वर्थ

उसके पीछे पागल होकर जंगल-जंगल उसकी खोजमें भटकता है। इंगलैंडका महान् कवि कोयलको खोजता है, परंतु भारतमें तो घरोंकी सामान्य स्त्रियां कोयल न दिखाई दे तो खाना भी नहीं खातीं। इस कोकिला-व्रतकी बदौलत भारतीय स्त्रियों ने महान् कविकी पदवी प्राप्त कर ली है। जो कोयल परम आनंद की मधुर ध्वनि सुनाती है, उसके रूपमें सुंदर परमात्मा ही अभिव्यक्त हुआ है।

कोयल तो सुंदर और वह कौआ क्या भद्दा है? कौवेका भी गौरव करो। मुझे तो वह बहुत प्रिय है। उसका वह घना काला रंग, वह तीव्र आवाज! वह आवाज क्या बुरी है? नहीं, वह भी मीठी है। वह पंख फड़फड़ाता हुआ आता है तो कितना सुंदर लगता है। छोटे बच्चोंका चित्त खींच लेता है। नन्हा बच्चा बन्द घरमें खाना नहीं खाता। बाहर आंगनमें बैठकर उसे जिमाना पड़ता है और चिड़ियां, कौवे दिखाकर उसे कौर खिलाना पड़ता है। कौवेके प्रति स्नेह रखनेवाला वह बच्चा क्या पागल है? वह पागल नहीं, उसमें ज्ञान भरा हुआ है। कौवेके रूपमें व्यक्त परमेश्वरसे वह बच्चा फौरन एकरूप हो जाता है। माता चावलपर चाहे दही परोसे, दूध परोसे या शकर परोसे, उस बच्चेको उसमें कोई रस नहीं। उसे आनंद है, कौवेके पंख फड़फड़ानेमें, उसके मुंह बिचकाने में। सृष्टिके प्रति छोटे बच्चोंको इतना कौतुक मालूम होता है, उसीपर तो सारी 'ईसप-नीति' रची गई है। ईसपको सर्वत्र ईश्वर दिखाई देता था। अपनी प्रिय पुस्तककी सूची में मैं ईसप-नीतिका नाम सबसे पहला रखूंगा, भूलूंगा नहीं। ईसपके राज्यमें दो हाथोंवाला, दो पांवोंवाला वह मनुष्य प्राणी ही अकेला नहीं है। उसमें सियार, कुत्ते, कौवे, हिरन, खरगोश, कछुए, सांप, केंचुए सभी बातचीत करते हैं, हंसते हैं। एक प्रचण्ड सम्मेलन ही समझिए न! ईसपसे सारी चराचर सृष्टि बातचीत करती है। उसे दिव्य दर्शन प्राप्त हो गया है। रामायण भी इस तत्त्वपर, इसी दृष्टिपर रची है। तुलसीदासने रामकी बाल-लीलाका वर्णन किया है। राम आंगनमें खेल रहे हैं। एक कौवा पास आता है, राम उसे आहिस्तासे पकड़ना चाहते हैं। कौवा पीछे फुदक जाता है। अंतमें राम थक जाते हैं, परंतु उन्हें एक तरकीब सूझती है। मिठाईका एक टुकड़ा लेकर राम कौवेके पास जाते हैं। राम टुकड़ा जरा

आगे बढ़ाते हैं, कौवा कुछ नजदीक आता है। इस तरहके वर्णनमें तुलसी-दास कई पृष्ठ खर्च कर जाते हैं; क्योंकि वह कौवा परमेश्वर है। रामकी मूर्त्तिका अंश ही उस कौवेमें भी है। राम और कौवेकी वह पहचान मानो परमात्मासे परमात्माकी पहचान है।

(५४)

सारांश यह कि इस प्रकार इस सारी सृष्टिमें विविध रूपोंमें—पवित्र नदियोंके रूपमें, विशाल पर्वतोंके रूपमें, गंभीर सागरके रूपमें, वत्सल गोमाताके रूपमें, उम्दा घोड़के रूपमें, दिलेर सिंहके रूपमें, मधुर कोयलके रूपमें, सुंदर मोरके रूपमें, स्वच्छ व एकांतप्रिय सर्पके रूपमें, पंख फड़फड़ानेवाले कौवेके रूपमें, दौड़-धूप करनेवाली ज्वाला-ओंके रूपमें, प्रशान्त तारोंके रूपमें, सर्वत्र परमात्मा समाया हुआ है। आंखोंको उसे देखनेका अभ्यास कराना है। पहले मोटे और सरल अक्षर, फिर बारीक और संयुक्ताक्षर सीखने चाहिए। संयुक्ताक्षर न सीख लेंगे तबतक पढ़नेमें प्रगति नहीं हो सकती। संयुक्ताक्षर कदम-कदमपर आयंगे। दुर्जनोंमें स्थित परमात्माको देखना भी सीखना चाहिए। राम समझमें आता है, परंतु रावण भी समझमें आना चाहिए। प्रह्लाद जंचता है, परंतु हिरण्यकशिपु भी जंचना चाहिए। वेदमें कहा है—

"नमोनमः स्तेनानां पतये नमोनमः
नमः पुंजिष्ठेभ्यो नमो निषादेभ्यः"

"ब्रह्म दाशा ब्रह्म दासा
ब्रह्मैवेमे कितवाः।"

"उन डाकुओंके सरदारोंको नमस्कार! उन क्रूरोंको, उन हिंसकों-को नमस्कार। ये ठग, ये चोर, ये डाकू सब ब्रह्म ही हैं। इन सबको नमस्कार।"

इसका अर्थ क्या? इसका अर्थ यह कि सरल अक्षर तो सीख गये, अब कठिन अक्षरोंको भी सीखो। कार्लाइलने 'विभूति-पूजा' नामक एक पुस्तक लिखी है। उसने उसमें नेपोलियनको भी एक विभूति कहा है। यहां शुद्ध परमात्मा नहीं है, मिश्रण है; परंतु इस परमात्माको भी पचा लेना चाहिए। इसीलिए तुलसीदासने रावणको रामका विरोधी

भक्त कहा है। हां, इस भक्तके रंग-ढंग जरा भिन्न हैं। आगसे जल जानेपर पांव सूज जाता है, परंतु सूजनपर सेंक करनेसे वह ठीक हो जाता है। दोनों जगह तेज एक ही; पर आविर्भाव भिन्न-भिन्न हैं। राम और रावणमें आविर्भाव भिन्न-भिन्न दिखाई दिया तो भी वह है एक ही परमेश्वरका।

स्थूल व सूक्ष्म, सरल और मिश्र, सरल अक्षर व संयुक्ताक्षर, सब सीखो और अंतमें यह अनुभव करो कि परमेश्वरके सिवाय एक भी स्थान नहीं है। अणु-रेणुमें भी वही है। चींटीसे लेकर सारे ब्रह्मांड-तक सर्वत्र परमात्मा ही व्याप्त है। सबकी एक-सी चिंता रखनेवाला कृपालु, ज्ञान-मूर्त्ति, वत्सल, समर्थ, पावन, सुंदर, परमात्मा हमारे चारों ओर सर्वत्र खड़ा है।

रविवार, २४-४-३२

ग्यारहवां अध्याय

(५५)

भाइयो, पिछली बार हमने इस बात का अभ्यास किया कि इस विश्वकी अनंत वस्तुओं में व्याप्त परमात्माको हम कैसे पहचानें और हमारी आंखोंको जो यह विराट प्रदर्शनी दिखाई देती है, उसे आत्मसात् कैसे करें ? पहले स्थूल, फिर सूक्ष्म, पहले सरल फिर मिश्र—इस प्रकार सब चीजोंमें भगवान्‌को देखें, उसका साक्षात्कार करें, अहर्निश अभ्यास करके सारे विश्वको आत्मरूप देखना सीखें—यह हमने पिछले अध्यायमें देख लिया।

अब, आज ग्यारहवें अध्यायपर नजर डालना है। इस अध्यायमें भगवान्‌ने अपना प्रत्यक्ष रूप दिखाकर अर्जुनपर अपनी परम कृपा दिखलाई है। अर्जुनने भगवान्‌से कहा—"प्रभो, मैं आपका वह संपूर्ण रूप देखना चाहता हूं, जिसमें आपका सारा महान् प्रभाव प्रकट हुआ हो, वह रूप मुझे आंखोंसे देखनेको मिले।" अर्जुनकी यह मांग विश्व-रूप दर्शन की थी।

हम 'विश्व', 'जग'—इन शब्दों का प्रयोग करते हैं। यह 'जग' विश्व का एक छोटा-सा भाग है। इस छोटेसे टुकड़ेको भी हम समझ नहीं पाते। सारे विश्व की दृष्टिसे देखें, तो यह जग, जो हमें इतना विशाल दिखाई देता है, अतिशय तुच्छ वस्तु है ऐसा मालूम होगा। रात के समय आकाश की ओर जरा दृष्टि डालें तो अनंत गोल दिखाई देते हैं। आकाशके आंगनकी वह रंगावलि, वे छोटे-छोटे सुंदर फूल, वे लुक-लुक करनेवाली लाखों तारिकाएं, इन सबका स्वरूप आप जानते हैं ? ये छोटी-छोटी-सी तारिकाएं, महान् प्रचंड हैं। उनके अंदर अनंत सूर्यों का समावेश हो जायगा। वे रसमय तेजोमय ज्वलंत धातु-ओंके गोल पिंड हैं। ऐसे इन अनंत पिंडों का हिसाब कौन लगावेगा ? न इनका अंत है, न पार। खाली आंखों से ही ये हजारों दीखते हैं।

दूरबीनसे देखें तो करोड़ों दिखाई देते हैं। उससे बड़ी दूरबीन हो तो परार्धों दीखने लगेंगे और यह समझमें आना कठिन हो जायगा कि आखिर इसका अंत कहां है, कैसा है ? यह जो अनंत सृष्टि ऊपर-नीचे सब जगह फैली हुई है, उसका एक छोटा-सा टुकड़ा 'जग' कहलाता है ? परंतु यह जग भी कितना विशालकाय दीख पड़ता है।

यह विशाल सृष्टि परमेश्वरके स्वरूपका एक पहलू हुआ। अब उसका दूसरा पहलू लो। वह काल है। यदि हम पिछले कालपर निगाह दौड़ावें तो इतिहासकी मर्यादामें बहुत हुआ तो दस हजार सालतक पीछे जा सकेंगे, आगेका काल तो ध्यानमें ही नहीं आता। इतिहास-काल दस हजार वर्षों का और खुद हमारा जीवनकाल तो मुश्किलसे सौ सालका है ! वास्तवमें कालका विस्तार अनादि व अनंत है। कितना काल बीता है इसका कोई हद-हिसाब नहीं। आगे कितना काल है, इसकी कोई कल्पना नहीं होती। हमारा 'जग' जैसे विश्वकी तुलनामें बिलकुल तुच्छ है, वैसे ही इतिहासके ये दस हजार साल अनंतकालकी तुलनामें कुछ भी नहीं है। भूतकाल अनादि है व भविष्यकाल अनंत है। यह छोटा-सा वर्तमान-काल बात करते-करते भूतकालमें चला जाता है। वर्तमान-काल सचमुच कहां है, यह बताने जाते हैं तबतक वह भूतकालमें विलीन हो जाता है। ऐसा यह अत्यंत चपल वर्तमान-काल मात्र हमारा है। मैं अभी बोल रहा हूं, परंतु मुंह से शब्द निकला नहीं कि वह भूतकालमें विलीन हुआ नहीं ! इस तरह यह महान् काल-नदी एकसी बह रही है। न उसके उद्गम का पता है, न अंत का। बीच का थोड़ा सा प्रवाहमात्र हमें दिखाई देता है।

इस प्रकार एक ओर स्थलका प्रचंड विस्तार और दूसरी ओर कालका जबरदस्त प्रवाह, इन दोनों दृष्टियोंसे सृष्टिकी ओर देखें तो समझ जायंगे कि कल्पना-शक्तिको चाहे जितना खींचनेपर भी इसका कोई अंत नहीं आ सकता। तीनों काल व तीनों स्थलमें, भूत-भविष्य-वर्तमानमें एवं ऊपर, नीचे तथा वहां सब जगह व्याप्त विराट् परमेश्वर एक साथ एकबारगी दिखाई दे, परमेश्वरका इस रूपमें दर्शन हो, ऐसी इच्छा अर्जुनके मनमें उत्पन्न हुई है। इस इच्छामेंसे ग्यारहवां अध्याय प्रकट हुआ है।

अर्जुन भगवान्‌को बहुत प्यारा था । कितना प्यारा था ? इतना कि दसवें अध्यायमें किन-किन स्वरूपोंमें मेरा चिंतन करो, यह बताते हुए भगवान् कहते हैं—"पांडवोंमें जो अर्जुन है उसके रूपमें मेरा चिंतन करो ।" श्रीकृष्ण कहते हैं—"पांडवोंमें धनंजय !" इससे अधिक प्रेमका पागलपन, प्रेमोन्मत्तता, कहां होगी ? यह इस बातका उदाहरण है कि प्रेम कितना पागल हो सकता है । अर्जुन पर भगवान्‌की अपार प्रीति थी । यह ग्यारहवां अध्याय उस प्रीतिका प्रसादरूप है । दिव्य रूप देखनेकी अर्जुनकी इच्छाको भगवान्‌ने उसे दिव्य दृष्टि देकर पूरा किया । अर्जुनको उन्होंने प्रेमका प्रसाद दिया ।

(५६)

उस दिव्य रूपका सुंदर वर्णन, भव्य वर्णन, इस अध्याय में है । यद्यपि यह बात सच है तो भी इस विश्व के विषयमें मैं खास लोभ नहीं दिखा सकता । मैं छोटेसे रूपपर ही संतुष्ट हूं । जो छोटा-सा सादा सुंदर रूप मुझे दीखता है, उसकी माधुरीका अनुभव करना मैं सीख गया हूं । परमेश्वर टुकड़ों में विभाजित नहीं है । मुझे ऐसा नहीं प्रतीत होता कि परमेश्वर का जो रूप हम देख पाते हैं, वह उसका एक टुकड़ा है और बाकी परमेश्वर बाहर बचा हुआ है; बल्कि मैं देखता हूं कि जो परमेश्वर इस विराट् विश्वमें व्याप्त है, वही संपूर्ण रूपमें जैसा-का-तैसा एक छोटी-सी मूर्तिमें, मिट्टीके एक कणमें भी व्याप्त है, कम किसी कदर भी नहीं । अमृत के सिंधुमें जो मिठास है, वही एक बिंदुमें भी होती है । मुझे लगता है, अमृतकी जो एक छोटी-सी बूंद मुझे मिल गई है, उसीकी मिठास मैं चखता रहूं । अमृत का दृष्टांत मैंने जानबूझकर लिया है । पानी या दूधका नहीं लिया है । एक प्याले दूधमें जो स्वाद होगा वही एक लोटे-भर दूधमें होगा ? परंतु स्वाद चाहे वही हो, पुष्टि उतनी ही नहीं हो सकती । एक बूंद दूधकी अपेक्षा एक प्याले दूधमें पुष्टि अधिक है ? परंतु अमृतके उदाहरणमें यह बात नहीं है । अमृतके समुद्रकी मिठास तो अमृतके एक बूंदमें हुई है, उसके अलावा पुष्टि भी उतनी ही है । बूंद-भर अमृत भी गले के नीचे उतर गया तो उससे अमृतत्व ही मिलेगा ।

उसी तरह जो दिव्यता, जो पवित्रता, परमेश्वर के विराट् स्वरूपमें

है, वही एक छोटी-सी मूर्तिमें भी है। यदि एक मुट्ठीभर गेहूं मुझे नमूनेको लाकर दिये, उसपरसे यदि मुझे गेहूंकी पहचान न हुई तो फिर बोरीभर गेहूं भी यदि मेरे सामने रख दिये तो वह कैसे होगी ? छोटे ईश्वरका जो नमूना मेरी आंखोंके सामने है, उससे यदि ईश्वरको मैंने नहीं पहचाना तो फिर विराट् परमेश्वरको देखकर भी मैं कैसे पहचानूंगा ? छोटे-बड़े इनमें क्या हैं ? छोटे रूपको पहचान लिया तो बड़ेकी पहचान हो ही गई। अतः मुझे यह आकांक्षा नहीं होती कि ईश्वर अपना बड़ा रूप मुझे दिखावें। अर्जुनकी तरह विश्वरूपदर्शनकी मांग करनेकी योग्यता भी मुझमें नहीं है। फिर जो कुछ मुझे दीखता है, वह विश्वरूपका कोई टुकड़ा है, ऐसी बात नहीं। किसी तस्वीरका कोई टुकड़ा ले आवे तो उससे सारे चित्रका ख्याल हमें नहीं हो सकता ? परंतु परमात्मा इस तरह टुकड़ोंसे बना हुआ नहीं है। परमात्मा न कटा हुआ है, न खंड-खंड किया हुआ है। एक छोटेसे स्वरूप-शक्लमें भी वह अनंत परमेश्वर सारा-का-सारा ही समाया हुआ है। छोटे फोटो व बड़े फोटोमें क्या फर्क है ? जो बातें बड़े फोटो में होती हैं, वही सब जैसी-की-तैसी छोटे फोटोमें भी होती हैं। छोटा फोटो बड़े फोटोका टुकड़ा नहीं है। छोटे टाइप के अक्षर हों तो भी वही अर्थ होगा व बड़े टाइपके अक्षर हों तो भी वही होगा। बड़े टाइपमें बड़ा अर्थ व छोटे में छोटा अर्थ होता हो, सो बात नहीं।

मूर्ति-पूजाका आधार यही विचार-पद्धति है। मूर्ति-पूजापर अबतक अनेक लोगोंने हमले किये हैं। बाहरके और यहांके भी कुछ विचारकोंने मूर्ति-पूजाको अनुचित बताया है। किंतु मैं ज्यों-ज्यों विचार करता हूं, त्यों-त्यों मूर्ति-पूजा की दिव्यता मेरे सामने स्पष्ट खड़ी हो जाती है। मूर्ति-पूजाका अर्थ क्या है ? एक छोटी-सी चीजमें सारे विश्वको अनुभव करनेकी विद्या मूर्ति-पूजा है। एक छोटेसे गांवमें सारे ब्रह्मांड को देखनेकी विद्या सीखना, यह बात क्या गलत है ? यह कल्पना नहीं, प्रत्यक्ष अनुभवकी बात है। विराट् स्वरूप में जो कुछ है, वही सब एक छोटी-सी मूर्तिमें है, वही एक मृत्कणमें है। उस मिट्टीके ढलेके नीचे आम, केले, गेहूं, सोना, तांबा, चांदी सभी कुछ है। सारी सृष्टि उस कणके अंदर है। जिस तरह किसी छोटी

नाटक-मंडलीमें वे ही पात्र बार-बार भिन्न-भिन्न रूप बनाकर रंगभूमि पर आते हैं, उसी तरह परमेश्वरको समझो। जैसे कोई एक नाटककार खुद ही नाटक लिखता है और खुद ही नाटकमें काम भी करता है, उसी तरह परमात्मा भी अनंत नाटक लिखता है व खुद अनंत पात्रोंके रूपमें सजकर रंग-भूमिपर अभिनय करता है। इस अनंत नाटकका एक पात्र पहचान लिया तो फिर सारे पात्रों को पहचान लिया जैसा होगा।

काव्यकी उपमा, दृष्टांत आदिके लिए जो आधार है, वही मूर्ति-पूजा के लिए भी है। किसी गोल वस्तु को हम देखते हैं तो हमें आनंद होता है; क्योंकि उसमें एक व्यवस्थितता होती है। व्यवस्थितता ईश्वरका स्वरूप है। ईश्वरकी सृष्टि सर्वांग सुंदर है। उसमें व्यवस्थितता है। वह गोल वस्तु याने व्यवस्थित ईश्वर की मूर्ति। परंतु जंगलमें उपजा टेढ़ा-तिरछा पेड़ भी ईश्वरकी ही मूर्ति है। उसमें ईश्वरकी स्वच्छंदता है। उस पेड़को कोई बंधन नहीं है। ईश्वरको कौन बंधनमें डालेगा? वह बंधनातीत परमेश्वर उस टेढ़े-मेढ़े पेड़में है। कोई सीधा-सरल खंभा देखते हैं तो उसमें ईश्वरकी समता दिखाई देती है। नक्काशीदार खंभा देखें तो उसमें आकाशमें नक्षत्रोंके बेल-बूटे काढ़नेवाला परमेश्वर दिखाई देता है। किसी कटे-छंटे व्यवस्थित बागमें ईश्वरका संयम रूप दिखाई देता है तो किसी विशाल वनमें ईश्वरकी भव्यता व स्वतंत्रताके दर्शन होते हैं। जंगलमें भी आनंद मिलता है व व्यवस्थित बागमें भी। तो फिर क्या हम पागल हैं? नहीं, आनंद दोनोंमें ही होता है, क्योंकि ईश्वरीय गुण प्रत्येकमें प्रकट हुआ है। चिकने शालग्रामकी बट्टीमें जो तेज है, वही एक ऊबड़-खाबड़ नर्मदाके 'शंकर' में है। अतः मुझे वह विराट् स्वरूप अलहदा न भी दिखाई दे तो हर्ज नहीं।

परमेश्वर सर्वत्र भिन्न-भिन्न वस्तुओंमें भिन्न-भिन्न गुणोंके द्वारा प्रकट हुआ है और इसीसे हमको आनंद होता है—उस वस्तुके विषयमें आत्मीयता प्रतीत होती है। जो आनंद होता है, वह अकारण नहीं। आनंद होता क्यों है? उससे कुछ-न-कुछ नाता होता है, इसीसे आनंद होता है। बच्चेको देखते ही मांका हिया उछलने लगता है; क्योंकि

वह नाता जानती है। इसी तरह प्रत्येक वस्तुसे परमात्माका नाता जोड़ो। मुझमें जो परमेश्वर है वही उस वस्तुमें है। इस प्रकार संबंध बढ़ाना ही आनंद बढ़ाना है। आनंदकी और कोई उपपत्ति नहीं है। आप प्रेम का संबंध सब जगह जोड़ने लगिये, फिर देखिये, क्या चमत्कार होता है। फिर अनंत सृष्टिमें व्याप्त परमात्मा अणु-रेणुमें भी दिखाई देगा। एक बार वह दृष्टि प्राप्त हुई है तो फिर क्या चाहिए ? परंतु इसके लिए इंद्रियोंको संस्कारकी, अभ्यास डालनेकी जरूरत है। हमारी भोग-वासना छूटकर जब हमें प्रेमकी पवित्र दृष्टि प्राप्त होगी तो फिर प्रत्येक वस्तुमें ईश्वर ही दिखाई देगा। उपनिषदोंमें इस बात का बड़ा सुंदर वर्णन है। आत्माका रंग कैसा होता है ? आत्माका रंग कौन-सा बताया जाय ? ऋषि प्रेमपूर्वक कहते हैं—

"यथा अयं इन्द्रगोपः"

यह जो लाल-लाल रेशम का मुलायम मृगका कीड़ा--बीरबहूटी है, उसकी तरह आत्माका रूप है। उस मृगके कीड़ेको देखते हैं तो कितना आनंद होता है। यह आनंद क्यों होता है ? मेरा अपने प्रति जो भाव है, वही उस इंद्रगोप में है। मुझसे उसका कुछ संबंध न होता तो आनंद होता ? मेरे अंदर जो सुंदर आत्मा है वहीं इंद्रगोपमें भी है। इसीलिए उसकी उपमा दी। उपमा क्यों देते हैं ? उससे आनंद क्यों होता है ? हम उपमा इसलिए देते हैं कि उन दो वस्तुओंमें साम्य होता है और इसीसे आनंद होता है। यदि उपमेय और उपमान बिलकुल भिन्न-भिन्न हों तो आनंद नहीं होगा। यदि कोई यह कहे कि नमक मिर्च की तरह है तो हम उसे पागल कहेंगे। पर यदि कोई यह कहे कि तारे फूलोंकी तरह हैं तो उनमें साम्य दिखाई देनेसे आनंद होगा। नमक मिर्चकी तरह है, ऐसा कहनेसे सादृश्य अनुभव नहीं होता; परंतु किसीकी दृष्टि यदि इतनी विशाल हो गई हो, जो परमात्मा नमकमें है, वही मिर्चमें है, ऐसा दर्शन जिसको हुआ हो, वह 'नमक कैसा ? तो मिर्च की तरह' है, इस कथनमें भी आनंद अनुभव करेगा। सारांश यह है कि ईश्वरीय रूप प्रत्येक वस्तुमें लबालब भरा हुआ है। उसके लिए विराट् दर्शनकी आवश्यकता नहीं।

(५७)

फिर वह विराट् दर्शन मुझे सहन भी कैसे होगा ? छोटे सगुण सुंदर रूपके प्रति मुझे जो प्रेम मालूम होता है, जो अपनापन लगता है, जो मधुरता मालूम होती है, उसका अनुभव विश्वरूप देखनेमें कदाचित् न हो। यही स्थिति अर्जुन की हो गई। वह थर-थर कांपते हुए अंतमें कहता है, "भगवन् ! अपना वही पहलेवाला मनोहर रूप दिखाओ।" अर्जुन स्वानुभवसे कहता है कि विराट् स्वरूप देखनेकी इच्छा न करो। ईश्वर, जो तीनों कालों और तीनों स्थलोंमें व्याप्त है, यही अच्छा है। वह तारा सिमिट कर यदि धधकता हुआ गोला बनकर मेरे सामने आकर खड़ा हो जाय तो मेरी क्या दशा होगी ? ये तारे कितने शांत दिखाई देते हैं। ऐसा प्रतीत होता है, मानो इतनी दूरसे वे मुझसे बातें कर रहे हों। परन्तु दृष्टिको शांत करनेवाली वही तारिका यदि नजदीक आ जाय तो ? वह धधकती हुई आग ही है। मैं खाक ही होकर रहूंगा। ईश्वरके ये अनंत ब्रह्मांड जहां हैं वहां वैसे ही रहने दीजिए। उन सबको एक ही कमरेमें इकट्ठा कर देनेमें क्या आनंद है ! बंबईके उस कबूतरखानेमें हजारों कबूतर रहते हैं, वहां उन्हें क्या आजादी है ? वह दृश्य बड़ा अटपटा मालूम होता है। मजा इसीमें है, जो यह सृष्टि ऊपर, नीचे, यहां इन तीनों स्थलोंमें विभाजित है। जो बात स्थलात्मक सृष्टिको लागू है, वही कालात्मक सृष्टिके लिए भी है। हमें भूतकालकी स्मृति नहीं रहती और भविष्यका ज्ञान नहीं होता, इसमें हमारा कल्याण ही है। कुरान शरीफ में पांच ऐसी वस्तुएं बताई गई हैं, जिनमें सिर्फ परमेश्वरकी ही सत्ता है, मनुष्यप्राणीकी सत्ता बिलकुल नहीं है। उनमें एक है—भविष्यकालका ज्ञान। हम अंदाज जरूर लगाते हैं, परंतु अंदाजका अर्थ ज्ञान नहीं है। भविष्यका जो ज्ञान हमें नहीं होता, इसीमें हमारा कल्याण है। वैसे ही भूतकालकी जो स्मृति हमें नहीं रहती, यह भी सचमुच बड़ी शुभ बात है। कोई दुर्जन यदि सज्जन बनकर भी मेरे सामने आवे तो भी उसके भूतकालकी स्मृति मुझे होकर उसके प्रति मनमें आदर नहीं होता। वह कितना ही कहे, उसके पिछले पापोंको मैं सहसा भूल नहीं सकता। संसार उसके पापोंको उसी अवस्था में भूल सकेगा, जब कि वह मनुष्य मरकर दूसरे रूपमें हमारे सामने आयेगा।

पूर्व स्मरणसे विकार बढ़ते हैं। यदि पहलेका यह सारा ज्ञान ही नष्ट हो गया तो फिर सब खतम। पाप-पुण्यको भूल जानेकी कोई युक्ति होनी चाहिए। वह तरकीब है मरण। जब हमें इसी जन्मकी वेदनाएं असह्य लगती हैं, तब फिर पिछले जन्मोंके कूड़े-करकटकी खोज क्यों करें? अपने इसी जन्मके कमरेमें क्या कम कूड़ा-करकट है? अपना बचपन भी हम बहुत-कुछ भूल जाते हैं। यह विस्मृति लाभदायी ही है। हिंदु-मुस्लिम ऐक्यके लिए भूतकाल का विस्मरण ही एकमात्र उपाय है। औरंगजेबने बड़ा जुल्म ढाया, इसको कितने दिनों तक रटते रहोगे? गुजरातीमें रतनबाईका एक गरबा-गीत है। उसे हम बहुत-बहुत बार यहां सुनते हैं। उसके अंतमें कहा है—"संसारमें सबकी कीर्ति ही अंतमें रह जायगी। पापको लोग भूल जायंगे।" यह काल छननी कर रहा है। इतिहास में जितना कुछ अच्छा हो उतना ले लेना चाहिए। जो कुछ पाप हो, उसे फेंक देना चाहिए। मनुष्य यदि बुराईको छोड़कर सिर्फ अच्छाईको ही याद करे तो क्या बहार हो? परंतु ऐसा नहीं होता। इसलिए विस्मृतिकी बहुत आवश्यकता है। इसके लिए भगवान्ने मृत्युका निर्माण किया है।

मतलब यह कि यह जग जैसा है वैसा ही मंगलरूप है। इस काल-स्थलात्मक जगको एक जगह एकत्र करनेकी जरूरत नहीं है। अति-परिचयमें मजा नहीं है। कुछ चीजोंसे घनिष्टता बढ़ानी होती है तो कुछ चीजोंसे दूर रहना होता है। गुरु होगा तो नम्रतापूर्वक दूर बैठेंगे। परंतु मांकी गोदमें जाकर बैठेंगे। जिस मूर्ति के साथ जैसा व्यवहार करनेकी जरूरत हो, वैसा ही करना चाहिए। फूलको हम नजदीक लें, परंतु आगसे बचकर रहें। तारे दूरसे ही सुंदर लगते हैं। यही हाल सृष्टिका है। अति दूरवाली वह सृष्टि अति निकट लाने से हमें अधिक आनंद होगा, सो बात नहीं। जो चीज जहां है, उसे वहीं रहने देनेमें मजा है। जो चीज दूरसे रम्य मालूम होती है, उसको नजदीक लानेसे वह सुखदायी ही होगी, ऐसा नहीं कह सकते। उसे वहीं दूर रखकर ही उसके रसको चखना चाहिए। ढीठ बनकर बहुत घनिष्ठता बढ़ाकर अति परिचय कर लेनेमें कुछ सार नहीं है।

सारांश यह कि तीनों काल हमारे सामने खड़े नहीं हैं, सो अच्छा ही

है। तीनों कालका ज्ञान होनेसे आनंद अथवा कल्याण होगा ही, ऐसा नहीं कह सकते। अर्जुनने प्रेमवश हो हठ पकड़ ली, प्रार्थना की, तो भगवान्‌ने उसको मंजूर कर लिया। उन्होंने उसे अपना वह विराट् रूप दिखलाया; परंतु मुझे तो भगवान्‌का छोटा-सा रूप ही काफी है। यह छोटा रूप परमेश्वरका टुकड़ा तो है नहीं और यदि टुकड़ा भी हो तो उस अपार व विशाल मूर्तिका एक पैर या एक पैरकी अंगुली ही मुझे दीख गई तो भी मैं कहूंगा—"धन्य है मेरा भाग्य!" अनुभव से मैंने यह ज्ञान पाया है। जमनालालजी ने जब वर्धामें लक्ष्मीनारायणका मंदिर हरिजनोंके लिए खोल दिया तो उस समय मैं दर्शनके लिए गया था। पंद्रह-बीस मिनट तक उस रूपको देखता रहा। समाधि लगने-जैसी स्थिति मेरी हो गई। भगवान्‌का वह मुख, वह छाती, वे हाथ-पांव देखते-देखते पांवोंतक पहुंचा, व अंतम चरणोंपर जाकर दृष्टि स्थिर हो गई। 'मधुर तेरी चरणसेवा' यही भावना अंतमें रह गई। यदि एक छोटे-से रूपमें वह महान् प्रभु न समा जाता हो तो फिर उस महापुरुष के चरणही दीख जाना काफी है। अर्जुनने ईश्वरसे प्रार्थना की। उसका अधिकार बड़ा था। उसकी कितनी घनिष्ठता, कितना प्रेम, कैसा सख्यभाव था! मेरी क्या योग्यता है? मुझे तो चरण ही बस है, मेरा अधिकार इतना ही है।

(५८)

उस परमेश्वरके दिव्य रूपका जो वर्णन है उसमें बुद्धि चलाने की मेरी इच्छा नहीं। उसमें बुद्धि चलाना पाप है। उस विश्व-रूप-वर्णनके उन पवित्र श्लोकोंको हम पढ़ते रहें व पवित्र हों। बुद्धि चलाकर परमेश्वरके उस रूपके टुकड़े किये जायं, यह मुझे नहीं भाता! वह अघोर उपासना हो जायगी। अघोरपंथी लोग श्मशानमें जाकर मुर्दे चीरते हैं व तंत्रोपासना करते हैं। ऐसी ही वह क्रिया हो जायगी। परमेश्वरका वह दिव्य रूप—

"विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो
विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात्॥"

ऐसा वह विशाल व अनंतरूप! उसके वर्णनात्मक श्लोकोंको गावें, गाकर अपना मन निष्पाप, पवित्र बनावें।

परमेश्वरके इस सारे वर्णनमें सिर्फ एक ही जगह बुद्धि विचार करने लगती है। परमेश्वर अर्जुनसे कहते हैं—"अर्जुन, ये सब मरने ही वाले हैं—तू तो निमित्तमात्र हो जा, करने-धरनेवाला तो सबकुछ मैं हूं।" यही ध्वनि मनमें गूंजती रहती है। जब यह विचार मनमें आता है कि हमें ईश्वरके हाथका एक हथियार बनना है तो बुद्धि विचार करने लगती है। ईश्वर के हाथ का औजार बनें कैसे? क्या उसके हाथकी मुरली बनूं? वह अपने ओठसे मुझे लगा लें व मधुर सुर निकालें, मुझे बजाने लगें, यह कैसे होगा? मुरली बनना यानी पोला बनना। पर मुझमें तो विकास व वासनाएं ठसाठस भरी हुई हैं ऐसी दशामें मुझमेंसे मधुर स्वर कैसे निकलेगा? मेरा सुर तो है मोटा। मैं घन वस्तु हूं। मुझमें अहंकार भरा हुआ है। मुझे निरहंकार होना चाहिए। जब मैं पूर्ण रूपसे मुक्त, पोला हो जाऊंगा तभी परमेश्वर मुझे बजावेगा; परंतु परमेश्वरके ओठोंकी मुरली बनना है बड़े साहसका काम। यदि उसके पैरोंकी जूतियां बनना चाहूं तो भी आसान नहीं है। वह ऐसी मुलायम जूती होनी चाहिए कि परमेश्वरके पांवमें जरा भी छाले न होने पावे। परमेश्वरके पांव व कांटे-कंकर, इनके बीचमें मुझे पड़ जाना है। मुझे अपने को कमाना होगा। अपनी खाल उतारकर उसे सतत कमाते रहना होगा—मुलायम बनना होगा। अतः परमेश्वरके पांवोंकी जूती बनना भी आसान नहीं है। परमेश्वरके हाथका औजार बनना हो तो मुझे दस सेर वजनका लोहेका गोला नहीं बनना चाहिए। तपश्चर्याकी सानपर अपनेको चढ़ाकर तेज धार बनानी होगी। ईश्वरके हाथमें मेरी जीवनरूपी तलवार चमकनी चाहिए। यह गुंजार मेरी बुद्धिमें होने लगता है। भगवान्के हाथका एक औजार बनना है—इसी विचारमें निमग्न हो जाता हूँ। अब वह कैसे हो, इसकी विधि खुद भगवान्ने अंतिम श्लोक में बता दी है। श्रीशंकराचार्यने अपने भाष्यमें इस श्लोकको सर्वार्थसार—सारी गीताका सार कहा है। वह श्लोक यह है:

"मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः संगवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव॥"

. . . . . .

मेरे अर्थ करे कर्म, मत्परायण भक्त जो।
जो अनासक्त निर्वैर सो आके मिलते मुझे ॥

जिसका संसारमें किसीसे बैर नहीं, जो तटस्थ रहकर संसारकी निरपेक्ष सेवा करता है, जो कुछ करता है सो सब मुझे अर्पित कर देता है, मेरी भक्तिसे सराबोर है; क्षमावान् निःसंग विरक्त, प्रेममय जो भक्त है, वह परमेश्वरके हाथका हथियार बनता है, ऐसा यह सार है।

रविवार, १-५-३२

बारहवां अध्याय

(५९)

गंगाका प्रवाह यों तो सभी जगह पावन व पवित्र है; परंतु हरद्वार, काशी, प्रयाग-जैसे स्थान अधिक पवित्र हैं। उन्होंने सारे संसार को पवित्र कर दिया है। भगवद्गीताका यही हाल है। भगवद्गीता शुरूसे आखीर-तक सभी जगह पवित्र है। परंतु बीचमें कुछ अध्याय ऐसे हैं, जो तीर्थ-क्षेत्र बन गये हैं। आज जिस अध्यायके संबंध में हमें कहना है वह बड़ा पवित्र तीर्थ-जैसा बन गया है। खुद भगवान् ही उसे 'अमृतधारा' कहते हैं—"ये तु धर्म्यामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।" यह छोटा-सा बीस श्लोकोंका अध्याय; परंतु अमृतकी धारा है। अमृतकी तरह मधुर है, संजीवन-सा है। इस अध्यायमें भगवान्के स्वमुखसे भक्ति-रसकी महिमाका तत्त्व गाया गया है।

यों तो वास्तवम छठे अध्यायसे भक्ति-तत्त्व प्रारंभ हो गया है। पांचवें अध्यायके अंततक जीवन-शास्त्रका प्रतिपादन हुआ। स्वधर्मा-चरणरूप कर्म, उसके लिए सहायक मानसिक साधनारूप विकर्म, इन दोनोंकी साधनासे संपूर्ण कर्मोंको भस्म करनेवाली अंतिम अकर्मकी भूमिका—इतनी बातोंका विचार पहले पांच अध्यायोंतक हुआ। यहांतक जीवन-शास्त्र समाप्त हो गया। अब छठे अध्यायसे एक तरहसे भक्ति-तत्त्वका ही विचार ग्यारहवें अध्यायके अंततक चला। एकाग्रतासे शुरूआत हुई। छठे अध्यायमें यह बताया गया कि चित्तकी एकाग्रता कैसे हो सकती है, उसके क्या-क्या साधन हैं व उसकी क्यों आवश्यकता है? ग्यारहवें अध्यायमें समग्रता बताई गई है। अब देखना यह है कि एका-ग्रतासे लेकर समग्रतातककी लंबी मंजिल हमने कैसे तय की?

चित्तकी एकाग्रतासे शुरूआत हुई। एकाग्रता सिद्ध होनेपर किसीभी विषयका विचार मनुष्य कर सकता है। चित्तकी एकाग्रताका उपयोग—मेरा प्रिय विषय लें तो—गणितके अध्ययनमें हो सकेगा। उससे

अवश्य फल-लाभ होगा; परंतु यह चित्तकी एकाग्रताका सर्वोत्तम साध्य नहीं है। गणितके अध्ययनसे एकाग्रताकी पूरी परीक्षा नहीं होती। गणितमें अथवा ऐसे ही किसी ज्ञान-प्रांतमें चित्तकी एकाग्रतासे सफलता तो मिलेगी; परंतु यह सच्ची परीक्षा नहीं है। इसलिए सातवें अध्यायमें यह बताया कि हमारी दृष्टि भगवान्‌के चरणोंकी ओर होनी चाहिए। आठवें अध्यायमें कहा गया कि भगवान्‌के चरणोंमें एकाग्रता सतत रहे—हमारी वाणी, कान, आंखें सतत उसीमें लगे रहें, इसलिए आमरण प्रयत्न करना चाहिए। हमारी तमाम इंद्रियोंको ऐसा अभ्यास हो जाना चाहिए। "सब इंद्रियोंको आदत पड़ गई—अब दूसरी भावना नहीं रही", ऐसा हो जाना चाहिए। सब इंद्रियोंको भगवान्‌की धुन लग जानी चाहिए। हमारे पास चाहे कोई विलाप कर रहा हो, या भजन गा रहा हो, कोई वासनाका जाल बुन रहा हो या विरत सज्जनोंका, संतोंका समागम हो रहा हो, सूर्य हो या अंधकार हो, मरण-कालमें परमेश्वर चित्तके सामने खड़ा रहेगा—इस तरह का अभ्यास जिंदगीभर सब इंद्रियोंसे कराना, यह सातत्यकी शिक्षा आठवें अध्यायमें दी गई है। छठे अध्यायमें एकाग्रता, सातवेंमें ईश्वराभिमुख एकाग्रता यानी 'प्रपत्ति', आठवें में सातत्ययोग, व नवेंमें समर्पणता दिखलाई है। दसवेंमें क्रमिकता बताई है। एक-एक कदम आगे चलकर ईश्वरका रूप कैसे हृदयंगम किया जाय, चींटीसे लेकर ब्रह्मदेवतकमें व्याप्त परमात्माको धीरे-धीरे कैसे आत्मसात् किया जाय, यह बताया गया। ग्यारहवें अध्यायमें समग्रता बताई गई। विश्व-रूप-दर्शनको ही मैं समग्रता-योग कहता हूं। विश्व-रूप दर्शनका अर्थ है—यह अनुभव करना कि मामूली रज-कण में भी सारा विश्व समाया हुआ है। यही विराट् दर्शन है। छठे अध्यायसे लेकर ग्यारहवेंतक भक्तिरसकी ऐसी यह भिन्न-भिन्न प्रकारसे छननी की गई है।

(६०)

अब बारहवें अध्यायमें भक्तितत्त्वकी समाप्ति करनी है। अर्जुनने समाप्ति-संबंधी प्रश्न पूछा। पांचवें अध्यायमें जीवन-संबंधी सर्व शास्त्रोंका विचार समाप्त होते समय जैसा प्रश्न अर्जुनने पूछा था, वैसा ही यहां भी पूछा है। अर्जुन पूछता है कि भगवन्, कुछ लोग सगुणका भजन करते हैं,

और कुछ निर्गुणकी उपासना करते हैं। तो अब बताओ कि इन दोमें आपको कौन प्रिय है ?

भगवान् इसका क्या उत्तर दें ? किसी मांके दो बच्चे हों व उससे उनक बारेमें प्रश्न पूछा जाय, वैसा ही यह ह। दोमें एक बच्चा छोटा हो, वह मांको बहुत प्यार करता हो, मांको देखते ही आनंदित होता हो और मांके जरा दूर जाते ही व्याकुल होता हो। वह मांसे दूर जा ही नहीं सकता, उसे छोड़ नहीं सकता, उसका वियोग वह सहन नहीं कर सकता। मां न हो तो उसे सारा संसार सूना। ऐसा यह छोटा बच्चा है। दूसरा बड़ा बेटा है। वह भी है तो उसी तरह प्रेम-भावसे सराबोर, पर समझदार हो गया है। मांसे दूर रह सकता है। पांच-छः मास भी मांसे मुलाकात न हो तो भी वह रह सकता है। वह मांकी सेवा करता है। सारा बोझ अपने सिरपर लेकर काम करता है। काम-काजमें लग जानेसे मांका बिछोह सह सकता है। लोगोंमें उसकी प्रतिष्ठा है और चारों ओर उसका नाम सुनकर मांको बड़ा सुख मिलता है। ऐसा यह दूसरा बेटा है। इस तरहके दो लड़कोंके बारेमें मांसे प्रश्न पूछिए—"हे माता, इन दो लड़कोंमेंसे सिर्फ एक ही लड़का आपको दिया जायगा। आप जो चाहें पसंद करें ?" तो वह क्या उत्तर देगी ? किस लड़केको वह पसंद करेगी ? क्या वह दोनों लड़कोंको तराजूम रखकर उनको तौलेगी ? माताकी भूमिकापर गौर कीजिए। उसका स्वाभाविक उत्तर क्या होगा ? वह निरुपाय होकर कहेगी—"यदि बिछोह ही होना है तो बड़े लड़केको ले जाओ। उसकी जुदाई मैं बर्दाश्त कर लूंगी।" छोटे लड़केको उसने छातीसे लगाया है। उसे वह अपनेसे दूर नहीं हटने देगी। छोटे लड़केके विशेष आकर्षणको देखकर शायद वह इस तरहका कोई जवाब देगी कि "बड़ा दूर गया तो हर्ज नहीं।" परंतु उसे अधिक प्रिय कौन है, इस प्रश्नका यह जवाब नहीं कहा जा सकता। कुछ-न-कुछ जवाब देना ही था, इसलिए कुछ शब्द उसक मुंहसे निकल गये; परंतु उन शब्दोंमें पेटमें घुसकर यदि उनका अर्थ निकालने लगग तो वह उचित न होगा।

इस प्रश्नका उत्तर देते हुए जैसे उस मांको दुविधा होगी ठीक वैसी ही स्थिति भगवान्के मनकी हो गई है। अर्जुन कहता है—"भगवन्, दो तरह के भक्त आपके हैं। एक आपके प्रति अत्यन्त प्रेम रखता है, आपका

सतत स्मरण करता है। उसकी आंखें आपकी प्यासी, कान आपका गान सुननेको उत्सुक, हाथ-पांव आपकी सेवा-पूजाके लिए उत्कंठित। दूसरा है स्वावलंबी, इंद्रियोंको सतत वशमें रखनेवाला, सर्वभूत-हितमें मग्न, रात-दिन समाजकी निष्काम सेवा में ऐसा रत कि मानो उसे परमेश्वरका स्मरण ही न होता हो। यह है आपका अद्वैतमय दूसरा भक्त। अब मुझे यह बताइये कि इन दोनों में आपका प्रिय भक्त कौन-सा है? अर्जुनका भगवान्‌से यह प्रश्न है। अब जिस तरह उस मांने जवाब दिया था, हूबहू उसी तरह भगवान्‌ने इसका उत्तर दिया है—"वह सगुण भक्त मुझे प्रिय है। वह दूसरा—अद्वैती—भक्त भी मेरा ही है।" इस तरह भगवान् दुविधामें पड़ गये हैं—कुछ-न-कुछ उत्तर देना था, इसलिए दे डाला।

और सचमुच बात भी ऐसी ही है। अक्षरशः दोनों भक्त एक-रूप हैं। दोनोंकी योग्यता एक-सी है। उसकी तुलना करना मर्यादाका अतिक्रमण करना है। पांचवें अध्यायमें कर्मके विषयमें जैसा प्रश्न अर्जुनने पूछा था, वैसा ही यहां भक्तिके संबंधमें पूछा है। पांचवें अध्यायमें कर्म व विकर्मकी सहायतासे मनुष्य अकर्म दशाको प्राप्त होता है। वह अकर्मावस्था दो रूपोंमें प्रकट होती है—एक तो यह कि रात-दिन कर्म करते रहते हुए भी लेशमात्र भी कर्म नहीं करता व दूसरा चौबीस घंटेमें एक भी कर्म न करते हुए मानो दुनियाभरकी उखाड़-पछाड़ करता है। इन दो रूपोंमें अकर्मदशा प्रकट होती है। अब इनकी तुलना कैसे की जाय? किसी वर्तुलके एक पहलूसे दूसरे पहलूकी तुलना कीजिए—एक ही वर्तुलके दो पहलू—इनकी तुलना करें कैसे? दोनों पहलू एक-सी योग्यता—गुण रखते हैं—एक ही रूप हैं। अकर्म भूमिकाका विवेचन करते हुए भगवान्‌ने एकको संन्यास व दूसरेको योग कहा है। शब्द भले ही दो हों, पर अर्थ एक ही है। संन्यास व योग, दोनों का हल आखिर सरलता, सुगमताके आधारपर ही किया है। सगुण-निर्गुणका प्रश्न भी ऐसा ही है। एक सगुण भक्त, इंद्रियोंके द्वारा परमेश्वरकी सेवा करता है। दूसरा, निर्गुण भक्त, मनसे विश्वके हितकी चिंता करता है। पहला बाह्य सेवामें मग्न दिखाई देता है, परंतु भीतरसे उसका चिंतन सतत जारी है। दूसरा कुछ भी प्रत्यक्ष सेवा करता हुआ नहीं दिखाई देता, परंतु भीतरसे

उसकी महासेवा चल ही रही है। इस प्रकार के इन दो भक्तोंमें अब श्रेष्ठ कौन-सा ? रात-दिन कर्म करके भी लेशमात्र कर्म न करनेवाला सगुण भक्त है। निर्गुण उपासक भीतरसे सबके हितका चिंतन, सबकी चिंता करता है। ये दोनों भक्त भीतरसे एकरूप ही हैं, अलबत्ता बाहरसे भिन्न दिखाई देते हैं, परंतु दोनों हैं एकसे ही, दोनों भगवान्‌के प्यारे हैं। फिर भी इनमें सगुण भक्ति ज्यादा सुलभ है। इस तरह भगवान् ने जो उत्तर पांचवें अध्यायमें दिया, वही यहां भी दिया है।

(६१)

सगुण-भक्ति-योगमें प्रत्यक्ष इंद्रियोंसे काम लिया जा सकता है। इंद्रियां या तो साधन हैं, या विघ्नरूप हैं, या दोनों हैं। वे मारक हैं या तारक—यह देखनेवालेकी दृष्टिपर अवलंबित है। मान लो कि किसीकी मां मृत्यु-शय्यापर पड़ी हुई है और वह अपनी मांसे मिलना चाहता है। रास्ता दूर—पंद्रह मीलका है। उसपर मोटर नहीं जा सकती। टूटी-फूटी पगडंडी है। ऐसे समय यह रास्ता साधन है या विघ्न ? कोई कहेगा—"कहांका यह अभद्र मार्ग बीचमें आ गया, नहीं तो मैं कबका मां से जाकर मिल लेता !" ऐसे व्यक्तिके लिए वह रास्ता शत्रु है। किसी तरह रास्ता काटते हुए वह जाता है। वह रास्तेको कोस रहा है। परंतु मांको देखनेके लिए उसे हर हालतमें जल्दी-जल्दी कदम उठाकर जाना जरूरी है। रास्तेको शत्रु समझकर वह वहीं नीचे बैठ जायगा तो फिर उस दुश्मन-से लगनेवाले रास्तेकी विजय हो जायगी। वह सरपट चलकर ही उस शत्रुको जीत सकता है। दूसरा व्यक्ति कहता है—"इस भारी जंगलमें भी इतना रास्ता तो किसी तरह बना हुआ है ही। यही गनीमत है। किसी तरह मांतक जा पहुंचूंगा। यह न होता तो इस दुर्गम पहाड़परसे कैसे आगे जा पाता ?" यह कहकर वह उस पगडंडीको एक साधन समझता हुआ तेजीसे आगे कदम बढ़ाता जाता है। रास्तेके प्रति उसके मनमें स्नेह-भाव होगा, उसे वह मित्र मानेगा। अब आप उस रास्तेको चाहे मित्र मानिये या शत्रु, अंतर डालनेवाला कहिये या कम करनेवाला कहिये, जल्दी-जल्दी कदम तो आपको उठाना ही होगा। रास्ता विघ्नरूप है या साधनरूप, यह तो मनुष्यकी अपनी-अपनी मनोभूमिका या दृष्टि जैसी कुछ हो, उसपर अवलंबित है। यही बात

इंद्रियोंकी है। वे विघ्नरूप हैं या साधक हैं, यह आपकी अपनी दृष्टिपर अवलंबित है।

सगुण उपासकके लिए इंद्रियां एक साधन हैं। इंद्रियां मानो फूल हैं जिन्हें उसे परमात्मा को चढ़ाना है। आंखोंसे हरिका रूप देखें, कानोंसे हरि-कथा सुनें, जीभसे हरि-नामका उच्चारण करें, पांवसे तीर्थ-यात्रा करें, हाथोंसे सेवा-कार्य करें, इस तरह समस्त इंद्रियोंको वह परमेश्वरके अर्पण कर देता है। इंद्रियां भोग के लिए नहीं रह जातीं। फूल तो भगवान् पर चढ़ानेके लिए होते हैं। फूलकी माला खुद अपने गलेमें डालनेके लिए नहीं होती। इसी तरह इंद्रियों का उपयोग ईश्वरकी सेवामें किया जाय। यह हुई सगुणोपासककी दृष्टि; परंतु निर्गुणोपासकको इंद्रियां विघ्नरूप मालूम होती हैं। वह उन्हें संयम में रखता है। बंद करके रखता है, उनका खाना बंद कर देता है, उनपर पहरा बिठा देता है। परंतु सगुणोपासकको यह सबकुछ नहीं करना पड़ता। वह सब इंद्रियोंको हरिचरणोंमें चढ़ा देता है। ये दोनों विधियां इंद्रिय-निग्रहकी ही हैं—इंद्रिय-दमनके ही ये दोनों प्रकार हैं। आप किसीभी विधिको लेकर चलिए, परंतु इंद्रियोंको अपने काबूमें रखिये। ध्येय दोनों का एक ही है—उन्हें विषयोंमें न भटकने देना। एक विधि सुलभ है, दूसरी मुश्किल है।

निर्गुण उपासक सर्वभूतहित-रत होता ह। यह कोई मामूली बात नहीं है। 'सारे विश्व का कल्याण करना' कहने में आसान है; पर करना बहुत कठिन है। जिसे समग्र विश्वके कल्याणकी चिंता है वह चिंतन के सिवा दूसरा कुछ नहीं कर सकता। इसी-लिए निर्गुण-उपासना कठिन कही गई है। सगुण-उपासना अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार अनेक प्रकारसे की जा सकती है। उस छोटे-से देहातकी, जहां हमारा जन्म हुआ, सेवा करना, अथवा मां-बापकी सेवा करना सगुण पूजा है। बस इसमें इतना ही ध्यान रखना है कि हमारी यह पूजा जगत् के हितकी विरोधक न हो। आपकी सेवा कितनी ही छोटी क्यों न हो, वह यदि दूसरोंके हितमें बाधा न डालती हो तो अवश्य भक्तिकी श्रेणीमें पहुंच जायगी, नही तो वह सेवा आसक्तिका रूप ग्रहण कर लेगी। हमारे मां-बाप हों, दुःखी बंधु-बांधव हों, साधु-

संत हों, इन्हें परमेश्वर समझकर इनकी सेवा करनी चाहिए। इन प्रत्येकमें परमेश्वरकी मूर्तिकी कल्पना करके संतोष मानो। यह सगुण-पूजा सुलभ है; परंतु निर्गुण-पूजा कहीं कठिन है। यों दोनोंका अर्थ-सार एक ही है। सुलभताकी दृष्टिसे सगुण श्रेयस्कर है, बस।

सुलभताके अलावा एक और भी मुद्दा है। निर्गुण-उपासनामें भय है। निर्गुण ज्ञानमय है। सगुण प्रेममय, भावनामय है। सगुणमें आर्द्रता है। उसमें भक्त अधिक सुरक्षित है। निर्गुणमें जरा खतरा है। एक समय ऐसा था जब ज्ञानपर मैं अधिक निर्भर था; परंतु अब मुझे ऐसा अनुभव हो गया है कि केवल ज्ञानसे मेरा काम नहीं चल सकता। ज्ञानसे मनका स्थूल मैल जलकर भस्म हो जाता है; परंतु सूक्ष्म मैलको मिटानेका सामर्थ्य उसमें नहीं है। स्वावलंबन, विचार, विवेक, अभ्यास, वैराग्य—इन सभी साधनोंको ले लीजिए, फिर भी इनके द्वारा मनके सूक्ष्म मैल नहीं मिट सकते। भक्तिरूपी पानीकी सहायताके बिना ये मैल नहीं धुल सकते। भक्तिरूपी पानीमें ही यह शक्ति है। इसे आप चाहें तो परावलंबन कह दीजिए। परंतु 'पर' का अर्थ 'दूसरा' न करके वह 'श्रेष्ठ परमात्मा' कीजिए व उसका अवलंबन—ऐसा अर्थ ग्रहण कीजिए। परमात्माका सहारा लिये बिना चित्तके मैल नष्ट नहीं होते।

कोई यह कहेंगे कि यहां 'ज्ञान' शब्दका अर्थ संकुचित कर दिया है। यदि 'ज्ञान' से चित्तके मैल नहीं धुल सकते तो, मैं इस आक्षेपको स्वीकार करता हूं, कि फिर ज्ञानका दर्जा कम हो जाता है; परंतु मेरा कहना यह है कि शुद्ध ज्ञान इस मिट्टीके पुतलेमें रहते हुए होना कठिन है। इस देहमें रहते हुए जो ज्ञान होगा, वह कितना ही शुद्ध क्यों न हो, कुछ कम असल, विकृत ही रहेगा। इस देहमें जो ज्ञान उत्पन्न होगा, उसकी शक्ति मर्यादित ही रहेगी। यदि शुद्ध ज्ञानका उदय हो गया तो उससे सारे मैल भस्म हो जायंगे, इसमें मुझे तिलमात्र संदेह नहीं है। चित्तसहित सारे मलोंको भस्म कर डालनेका सामर्थ्य ज्ञानमें है; परंतु इस विकारवान् देहमें ज्ञान-का बल कम पड़ता है, इससे उसके द्वारा सूक्ष्म मलोंका मिटना शक्य नहीं है। अतः भक्तिका आश्रय लिये बिना सूक्ष्म मलोंको निर्मूल नहीं किया जा सकता। इसीलिए भक्तिमें मनुष्य अधिक सुरक्षित है। यह 'अधिक' शब्द मेरी तरफका समझ लीजिए। सगुण भक्ति सुलभ है।

इसमें परमेश्वरावलंबन। निर्गुणमें स्वावलंबन है। इसमें 'स्व' का भी क्या अर्थ है? "अपने अंतस्थ परमात्माका आधार"—यही उस स्वावलंबनका अर्थ है। ऐसा कोई व्यक्ति नहीं मिल सकता जो केवल बुद्धिके सहारे शुद्ध हो गया हो। स्वावलंबनसे, अर्थात् आन्तरिक आत्म-ज्ञानसे शुद्ध ज्ञान प्राप्त होगा। सारांश, निर्गुण भक्तिके स्वावलंबनमें भी आत्माका ही आधार है।

(६२)

जैसे सगुण उपासनाके पक्षमें मैंने सुलभता व सुरक्षिततारूपी वजन डाल दिया, वैसे ही निर्गुणके पक्षमें भी मैं डाल सकता हूं। निर्गुणमें एक मर्यादा रहती है। जैसे हम भिन्न-भिन्न कामोंके लिए, सेवाके लिए संस्था स्थापित करते हैं। संस्थाएं जो स्थापित होती हैं सो पहले व्यक्तियोंके कारण; वह व्यक्ति मुख्य आधार रहता है। संस्था पहले व्यक्ति-निष्ठ रहती है। परन्तु जैसे-जैसे उसका विकास होता जायगा, वैसे-वैसे वह व्यक्ति-निष्ठ न रहकर तत्त्वनिष्ठ होती जानी चाहिए। यदि उसमें ऐसी तत्त्वनिष्ठा उत्पन्न न हुई तो उसे स्फूर्ति देनेवाले व्यक्तिके लोप होते ही उस संस्थामें अंधेरा छा जाता है। मैं अपना प्रिय उदाहरण दूं। चरखेकी माल टूटते ही सूतका कातना तो दूर, कता हुआ सूत भी लपेटना कठिन होता है। वैसी ही दशा उस व्यक्तिका आधार टूटते ही संस्थाकी हो जाती है। फिर वह अनाथ हो जाती है। पर यदि व्यक्ति-निष्ठासे तत्त्व-निष्ठा पैदा हो गई तो फिर ऐसा नहीं हो सकता। सगुणको निर्गुणकी मदद चाहिए। कभी-न-कभी तो व्यक्तिसे—आकारसे—निकलकर बाहर जानेका अभ्यास करना चाहिए। गंगा हिमालयसे शंकरके जटाजूटसे निकली, परंतु वहीं नहीं थम गई। उस जटाजूट से निकलकर वह हिमालयकी गिरि-कंदराओं, घाटियों, जंगलोंको पार करती हुई सपाट मैदानमें कल-कल, छल-छल बहती हुई जब आई तभी वह विश्व-जनोंके काम आ सकी। इस प्रकार संस्थाको व्यक्तिका आधार टूट जानेपर भी तत्त्व मजबूत खंभों पर खड़ा करनेके लिए तैयार रहना चाहिए। जब मकानमें कमान बनाते हैं तो पहले उसे सहारा लगाते हैं; परंतु बादमें उसे निकालना होता है। उस सहारेके निकाल डालनेपर जब कमान टिक रहती है, तभी समझा जाता है कि वह

आधार सही था। इसी तरह पहले स्फूर्तिका प्रवाह सगुणमें से चला तो ठीक, परंतु अंतमें उसकी परिपूर्णता तत्त्वनिष्ठामें, निर्गुणमें होनी चाहिए। भक्तिके उदरसे ज्ञानका उदय होना चाहिए। भक्तिरूपी लतामें ज्ञानके फूल लगने चाहिए।

बुद्धदेवके ध्यानमें यह बात आ गई थी। इसलिए उन्होंने तीन प्रकारकी निष्ठाएं बताई हैं। पहले व्यक्ति-निष्ठा हो तो भी उसमेंसे तत्त्व-निष्ठा, और यदि एकाएक तत्त्व-निष्ठा न हो तो कम-से-कम संघ-निष्ठा उत्पन्न होनी चाहिए। एक व्यक्तिके प्रति जो आदर था, वह दस-पंद्रहके लिए होना चाहिए। संघके प्रति यदि सामुदायिक प्रेम न होगा तो आपसमें अनबन होने लगेगी, झगड़े-टंटे शुरू हो जायंगे। व्यक्ति-शरणता जाकर संघ-शरणता उत्पन्न होनी चाहिए और फिर सिद्धांत-शरणता आनी चाहिए। इसीलिए बुद्ध-धर्ममें तीन शरणता बताई गई हैं——

"बुद्धं शरणं गच्छामि। संघं शरणं गच्छामि। धर्मं शरणं गच्छामि।"

प्रथम व्यक्तिके प्रति, फिर संघके प्रति प्रीति; परंतु ये दोनों निष्ठाएं कमजोर ही हैं। अतः जब अंतमें सिद्धांत-निष्ठा उत्पन्न होगी, तभी संस्था टिकेगी और तभी लाभदायी हो सकेगी। स्फूर्तिका स्रोत यद्यपि सगुणसे शुरू हुआ तो भी वह निर्गुण-सागरमें जाकर मिलना चाहिए। निर्गुणके अभावमें सगुण सदोष हो जाता ह। निर्गुणकी मर्यादा सगुणको समतौल रखती है, इसके लिए सगुण निर्गुणका आभारी है।

क्या हिंदू, क्या ईसाई व क्या इस्लाम इत्यादि सभी धर्मोंमें किसी-न-किसी रूपमें मूर्ति-पूजा प्रचलित है। भले ही वह निचले दर्जेकी मानी गई हो, पर मान्य जरूर है और महान् है। परंतु जबतक मूर्ति-पूजा निर्गुणकी सीमामें रहती है, तभीतक वह निर्दोष रहती है। इस मर्यादाके छूटते ही सगुण सदोष हो जाता है। सारे धर्मोंके सगुण निर्गुणरूपी मर्यादाके अभावमें अवनतिको प्राप्त हो गये हैं। पहले यज्ञ-यागमें पशु-हत्या होती थी। आज भी शाक्त देवीको बलि चढ़ाते हैं। यह मूर्ति-पूजाका अत्याचार हो गया। मर्यादाको छोड़कर मूर्ति-पूजा गलत दिशामें चली गई। पर यदि निर्गुण-निष्ठाकी मर्यादा रहे तो फिर यह अंदेशा नहीं रहता।

(६३)

सगुण सुलभ व सुरक्षित है; परंतु सगुणको निर्गुणकी आवश्यकता है। सगुणकी बढ़ती होकर उसमें निर्गुणरूपी, तत्त्वनिष्ठारूपी फूलकी बहार आनी चाहिए। निर्गुण-सगुण परस्पर-पूरक हैं, परस्पर-विरुद्ध नहीं। सगुणसे निर्गुणतककी मंजिल तय करनी चाहिए और निर्गुणको भी चित्तके सूक्ष्म मल धोनेके लिए सगुणकी आर्द्रता चाहिए। दोनों-की एक-दूसरेसे शोभा है। यह दोनों प्रकारकी भक्ति रामायणमें बड़े उत्तम ढंगसे दिखाई गई है। अयोध्याकांडमें दोनों भक्तियोंके प्रकार आ गये हैं। इन्हीं दो भक्तियोंका विस्तार रामायणमें है। भरतकी भक्ति पहले प्रकारकी व लक्ष्मणकी दूसरे प्रकारकी। इनके उदाहरणसे निर्गुण-भक्ति व सगुण-भक्तिका स्वरूप समझमें आ जायगा।

राम जब वनवासके लिए जाने लगे तो वे लक्ष्मणको अपने साथ ले जानेके लिए तैयार नहीं थे। रामको उन्हें साथ ले जानेकी कोई जरूरत नहीं मालूम होती थी। उन्होंने लक्ष्मणसे कहा—"लक्ष्मण, मैं वनको जा रहा हूं। मुझे पिताजीकी ऐसी ही आज्ञा है। तुम घर पर रहो। मेरे साथ चलकर अपने दुःखी माता-पिताको अधिक दुःखी न बनाओ। माता-पिताकी व प्रजाकी सेवा करो। तुम उनके पास रहोगे तो मैं निश्चित रहूंगा। बतौर मेरे प्रतिनिधि के रहो। मैं वनमें जा रहा हूं, इसका अर्थ यह नहीं कि किसी संकटमें पड़ रहा हूं। बल्कि ऋषियोंके आश्रमोंमें जा रहा हूं।" इस तरह राम लक्ष्मणको समझा रहे थे; परंतु लक्ष्मणने रामकी सारी बातें चटसे एक ही शब्दमें उड़ा दीं। एक घाव दो टूक कर डाला। तुलसीदासने इसका बढ़िया चित्र खींचा है। लक्ष्मण कहते हैं—"आपने मुझे उत्कृष्ट निगम-नीति बताई है। वास्तवमें मुझे इसका पालन भी करना चाहिए; परंतु यह राजनीतिका बोझ मुझसे नहीं उठ सकेगा। आपके प्रतिनिधि होनेकी शक्ति मुझमें नहीं। मैं तो बालक हूं।"

"दीन्हि मोहि सिख नीकि गोसांई।
लागि अगम अपनी कदराई॥
नरवर वीर धरम-धुर-धारी।
निगम-नीति के ते अधिकारी॥

"मैं सिसु प्रभु-सनेह-प्रतिपाला।
मंदरु मेरु कि लेहिं मराला॥"

"हंस क्या मेरु मंदरका भार उठा सकता है? राम भैया, मैं तो आजतक आपके प्रेमसे पोषित हुआ हूं। आप यह राजनीति किसी दूसरेको सिखाइये। मैं तो अभी बालक हूं।" यह कह लक्ष्मणने सारी बात ही खत्म कर दी।

मछली जिस तरह पानीसे जुदा नहीं रह सकती, वैसे ही लक्ष्मणका था। रामसे दूर रहनेका बल उसमें नहीं था। उसके रोम-रोममें सहानुभूति भरी थी। राम सो जायं, तब भी खुद जागता रहे, उनकी सेवा करे, इसीमें उसे आनंद मालूम होता था। हमारी आंखपर कोई कंकर मारे तो जैसे फौरन हाथ उठकर आंखपर आ जाता है व कंकरकी मार झेल लेता है, उसी तरह लक्ष्मण रामका हाथ बन गया था। रामपर यदि प्रहार हो तो पहले लक्ष्मण उसे झेलता। तुलसीदासने लक्ष्मणके लिए एक बढ़िया दृष्टांत दिया है। झंडा ऊंचा फहराता रहता है। गान-वंदना सब झंडेकी करते हैं। उसके रंग-आकार आदिके गीत गाये जाते हैं। परंतु उस सीधे खड़े डंडेको कौन पूछता है? रामके यशकी जो पताका उड़ रही है, उसका दंडकी तरह आधार लक्ष्मण ही था। वह सीधा तना खड़ा रहता। झंडेका डंडा कभी झुक नहीं सकता, उसी तरह रामके यशको फहरानेवाला लक्ष्मणरूपी डंडा कभी झुका नहीं। यश किसका? तो रामका! संसारको पताका दीखती है। डंडेको कोई नहीं गिनता। शिखर दीखता है, नींव—पाया—किसीको नहीं। रामका यश संसारमें फैल रहा है, परंतु लक्ष्मणका कहीं पता नहीं। चौदह सालतक यह दंड सीधा ही तना रहा, जरा भी नहीं झुका। खुद पीछे रहकर वह रामका यश फहराता रहा। राम बड़े-बड़े दुर्धर काम लक्ष्मणसे करवाते। सीताको बनमें छोड़नेका काम अंतको लक्ष्मणको ही सौंपा गया। बेचारा लक्ष्मण सीताको पहुंचा आया। लक्ष्मणका कोई स्वतंत्र अस्तित्व ही नहीं रह गया था। रामकी आंखें, रामके हाथ-पांव, रामका मन वह बन गया था। जिस तरह नदी समुद्रमें मिल जाती है, उसी तरह लक्ष्मणकी सेवा राममें मिल गई थी। वह रामकी छाया बन गया था। लक्ष्मणकी यह भक्ति सगुण थी।

भरत निर्गुण भक्ति करनेवाला था। उसका भी चित्र तुलसीदासने खूब खींचा है। जब राम वनको गये तब भरत अयोध्या में नहीं था। जब भरत आया तब दशरथ मर चुके थे। गुरु वशिष्ठ उसे समझा रहे थे कि तुम राज करो। पर भरतने कहा—"मुझे रामसे मिलना है।" रामसे मिलनेके लिए वह भीतरसे छट-पटा रहा था; परंतु साथ ही राजका प्रबंध भी वह कर रहा था। उसकी भावना यह थी कि यह राज्य रामका है, उसका प्रबंध करना रामका ही काम करना है। सारी संपत्ति मालिककी है, सिर्फ उसका इंतजाम करना उसे अपना कर्त्तव्य मालूम होता था। लक्ष्मणकी तरह भरत मुक्त नहीं हो सकता था। यह भरतकी भूमिका है। रामकी भक्तिका अर्थ है—रामका काम करना चाहिए, नहीं तो वह भक्ति किस कामकी ? राज-काजकी सारी व्यवस्था करके भरत रामसे भेंट करने वनमें आया है। "भैया, यह आपका राज्य है। आप—"इतना ज्योंही वह कहता है, त्योंही राम उससे कहते हैं—"भरत, तुम्हीं राज करो।" भरत संकोचसे खड़ा हो जाता है। वह कहता है—"आपकी आज्ञा सिर आंखोंपर।" राम जो कहें वह मंजूर। उसने अपना सबकुछ रामपर निछावर कर रक्खा था। वह जाकर राज-काज करने लगा; परंतु उसमें भी तारीफ यह कि अयोध्यासे दो मील दूर तप करते हुए रहा। तपस्वी रहकर राज-काज चलाया। अंतको राम जब भरतसे मिले हैं, तब यह पहचानना मुश्किल हो जाता है कि इनमें वनमें रहकर तप करनेवाला वास्तविक तपस्वी कौन है। दोनोंके एकसे चेहरे, थोड़ा उम्रमें फर्क, मुखमुद्रापर वही तपस्या, दोनोंको देखकर पहचान नहीं पाते कि इनमें राम कौन व भरत कौन है ? यदि कोई चितेरा ऐसा चित्र निकाले तो वह कितना पावन चित्र होगा ? इस तरह भरत यद्यपि शरीरसे रामसे दूर था, तो भी मनसे वह क्षणभरके लिए भी दूर नहीं था। यद्यपि एक ओर वह राजकाज कर रहा था तो भी मनसे वह रामके पास ही था। निर्गुणमें सगुण भक्ति खचाखच भरी रहती है। अतः वहां वियोगकी भाषा मुंह से निकले ही कैसे ? इसलिए भरतको रामका वियोग नहीं मालूम था। वह अपने प्रभुका कार्य कर रहा था।

आजकलके युवक कहते हैं—“रामका नाम, रामकी भक्ति रामकी उपासना—ये सब हमारी समझमें नहीं आते। हम तो भगवान्का काम करेंगे।” तो भगवान्का काम कैसे करना चाहिए, इसका नमूना भरतने दिखला दिया है। भगवान्का काम करके भरतने वियोगको आत्मसात् किया है। भगवानका काम करते हुए भगवान्के वियोगका अनुभव करने जितना भी समय न रहना एक बात है, व जिसका भगवान्से कुछ देना-लेना नहीं, उसका बोलना दूसरी बात है। भगवान्का कार्य करते हुए संयमपूर्ण जीवन व्यतीत करना दुर्लभ वस्तु है। यद्यपि भरतकी यह वृत्ति निर्गुण रूपसे काम करने की थी, तो भी वहां सगुणका आधार टूट नहीं गया था। “प्रभो राम, आपकी आज्ञा मुझे शिरोधार्य है। आप जो कुछ कहेंगे उसमें मुझे संदेह न होगा।” ऐसा कहकर भरत ज्योंही लौटने लगा तो फिर पीछे फिरकर रामकी ओर देखा, कहा—“भगवन्, मनको समाधान नहीं होता, कुछ-न-कुछ भूला हुआ-सा मालूम होता है।” रामने तुरन्त उसका भाव पहचान लिया और कहा—“यह पादुका ले जाओ।” अंतको सगुणके प्रति आदर रहा ही। निर्गुणको सगुणने अंतमें आर्द्र कर ही दिया। लक्ष्मणको पादुका लेनेसे समाधान न हुआ होता। उसकी दृष्टिसे यह दूधकी भूख छाछ पीकर मिटाने-जैसा हो गया होता। भरतकी भूमिका इससे भिन्न थी। यह बाहरसे दूर रहकर कर्म कर रहा था, परन्तु मनसे राममय था। भरत यद्यपि अपने कर्त्तव्यका पालन करनेमें ही राम-भक्ति मानता था तो भी उसे पादुकाकी आवश्यकता महसूस हुई ही। उनके अभावमें वह राजकाज नहीं कर सकता था। उन पादुकाकी आज्ञाके रूपमें वह अपना कर्त्तव्य कर रहा था। लक्ष्मण जैसा रामका भक्त था वैसा ही भरत भी था। दोनोंकी भूमिकाएं बाहरसे भिन्न-भिन्न थीं। भरत यद्यपि कर्त्तव्यनिष्ठ था, तत्त्वनिष्ठ था, तो भी उसकी तत्त्वनिष्ठाको पादुकाकी आर्द्रताकी जरूरत महसूस हुई।

(६४)

हरिभक्तरूपी आर्द्रता अवश्य होनी चाहिए। इसलिए भगवान्ने अर्जुनसे बार-बार कहा है—“मय्यासक्तमनाः पार्थ”—‘अर्जुन, मुझमें आसक्ति रख, मेरे रसका सहारा ले व फिर कर्म करता रह।’ जिस

भगवद्गीताको 'आसक्ति' शब्द न तो सूझता है, न रुचता है, जिसने बार-बार इस बातपर जोर दिया है कि अनासक्त रहकर कर्म करो, रागद्वेष छोड़कर कर्म करो, निरपेक्ष कर्म करो; 'अनासक्ति' 'निः-संगता, जिसका ध्रुपद या पालु-पद है, वही कहती है—"अर्जुन, मुझमें आसक्ति रखो।" पर यहां याद रखना चाहिए कि भगवान्में आसक्ति रखना बड़ी ऊंची बात है। वह किसी पार्थिव वस्तुके प्रति आसक्ति नहीं है। सगुण व निर्गुण दोनों एक दूसरेम उलझे हुए हैं। सगुण निर्गुणका आधार निःशेष नहीं कर सकता व निर्गुण को सगुणके रसकी जरूरत होती है। जो मनुष्य सदैव कर्त्तव्य कर्म करता है, वह उस कर्मरूपमें पूजा ही कर रहा है, परन्तु पूजाके साथ रस, आर्द्रता चाहिए। 'मामनुस्मर युध्यच।' मेरा स्मरण रखके कर्म करो। कर्म खुद भी एक पूजा ही है, परन्तु मनमें भावना सजीव रहनी चाहिए। महज फूल चढ़ा देना ही पूजा नहीं है। उसमें भावना आवश्यक है। फूल चढ़ाना, पूजाका एक प्रकार है; सत्कर्मोंद्वारा पूजा करना दूसरा प्रकार है, परन्तु दोनोंमें भावनारूपी रस आवश्यक है। फूल चढ़ा दिये, पर भावना मनमें नहीं है तो वे फूल मानो पत्थर पर ही चढ़े। अतः असली वस्तु भावना है। सगुण व निर्गुण, कर्म व प्रीति, ज्ञान व भक्ति, ये सब चीजें एकरूप ही हैं। दोनोंका अंतिम अनुभव एक ही है।

उद्धव व अर्जुनकी बात लो। रामायणसे म एकदम महाभारतम आ कूदा। इसका मुझ अधिकार भी है, क्योंकि राम व कृष्ण दोनों एकरूप ही हैं। जैसे भरत व लक्ष्मण, वैसे उद्धव व अर्जुन हैं। जहां कृष्ण, वहां उद्धव मौजूद ही हैं। उद्धवको कृष्णका क्षणभरका वियोग सहन नहीं हो सकता। वह सतत कृष्णकी सेवामें निमग्न रहता है। कृष्णके बिना सारा संसार उसे फीका मालूम होता है। अर्जुन भी कृष्ण-का सखा था, परन्तु वह दूर दिल्ली रहता था। अर्जुन कृष्णका काम करनेवाला था, परन्तु कृष्ण द्वारकामें तो अर्जुन हस्तिनापुरमें। ऐसा दोनोंका संबंध था। जब कृष्णको देह छोड़नेकी आवश्यकता मालूम हुई तो उन्होंने उद्धवसे कहा—"ऊधो, अब मैं जा रहा हूं।" उद्धवने कहा—"मुझे क्या अपने साथ नहीं ले चलेंगे? हम दोनों साथ ही चलेंगे।" परंतु कृष्णने कहा—"यह मुझे पसंद नहीं। सूर्य अपना

तेज अग्निमें रख जाता है, उसी तरह मैं अपनी ज्योति तुझमें छोड़ जाता हूं।" इस तरह भगवान्ने अंतकालीन व्यवस्था की व उसे ज्ञान देकर रवाना किया। फिर यात्रामें उद्धवको मैत्रेय ऋषिसे मालूम हुआ कि भगवान् निजधामको चले गये; किंतु उसके मनपर उसका कुछ भी असर न हुआ मानो कुछ हुआ ही नहीं। "गुरु मरा तो चेला रोया--दोनोंने बोध व्यर्थ खोया।" ऐसा हाल उनका नहीं था। मानो वियोग हुआ ही न हो। उसने सारे जीवनभर सगुण उपासना की थी। परमेश्वरके पास ही रहता था। पर अब उसे निर्गुणमें ही आनंद होने लगा था। इस तरह उसे निर्गुणकी मंजिल तय करनी पड़ी। सगुण पहले, परंतु उसके बाद निर्गुणकी सीढ़ी आनी ही चाहिए, नहीं तो परिपूर्णता न होगी।

इससे उलटा हाल हुआ अर्जुनका। श्रीकृष्णने उसे क्या करनेके लिए कहा था? अपने बाद सब स्त्रियोंकी रक्षाका भार उन्होंने अर्जुनपर सौंपा था। अर्जुन दिल्ली आया व द्वारकासे श्रीकृष्णकी स्त्रियोंको लेकर चला। रास्तेमें हिसारके पास पंजाबके चोरोंने उसे लूट लिया। जो अर्जुन उस समय अकेला ही नर कहलाता था, उत्कृष्ट वीरके नामसे प्रसिद्ध था, जो पराजय जानता ही न था, व इसलिए 'जय' नामसे मशहूर हो गया था, जिसने प्रत्यक्ष शंकरसे मुकाबला किया और उन्हें झुका दिया, वही अजमेरके पास भागते-भागते बचा। कृष्णके चले जानेका बड़ा असर उसके मनपर हुआ। मानो उसका प्राण ही चला गया व केवल निस्त्राण व निष्प्राण शरीर ही बाकी रह गया। मतलब यह कि सतत कर्म करनेवाले, कृष्णसे दूर रहनेवाले निर्गुण उपासक अर्जुनको अंतमें यह वियोग दुःसह व भारी हो गया। उसके निर्गुणको अंतमें वियोगकी वाचा फूट निकली। उसका सारा कर्म ही मानो खतम हो गया। उसके निर्गुणको आखिर सगुणका अनुभव हुआ। सारांश, सगुणको निर्गुणमें जाना पड़ता है व निर्गुणको सगुणमें आना पड़ता है। इस तरह दोनोंमें एक-दूसरेसे परिपूर्णता आती है।

(६५)

इसलिए जब यह कहनेकी नौबत आती है कि सगुण-उपासक व निर्गुण-उपासकमें क्या भेद है, तो वाणीकी गति कुंठित हो जाती

है। सगुण व निर्गुण अंतमें एक हो जाते हैं। भक्तिका स्रोत यद्यपि पहले सगुणसे निकला हो तो भी अंतमें वह निर्गुणतक जा पहुंचता है। पुरानी बात है। मैं वायकमका सत्याग्रह देखने गया था। मलाबारके किनारे शंकराचार्यका जन्म-ग्राम है। यह भूगोलकी बात मैंने ध्यानमें रखी थी। जिधर होकर मैं जा रहा था वहीं कहीं पासमें भगवान् शंकराचार्यका 'कालड़ी' ग्राम होगा, ऐसा मुझे लगा व मैंने साथ के मलयाली व्यक्तिसे पूछा। उसने कहा——यहां से दस-बारह मीलपर ही वह है। आप जाना चाहते हैं क्या? मैंने इंकार कर दिया। मैं जा रहा था सत्याग्रह देखनेके लिए, अतः मुझे और कहीं जाना उचित न जान पड़ा व उस समय उस गांवको देखनेके लिए न गया। मुझे अब भी ऐसा लगता है कि ऐसा करके मैंने अच्छा ही किया है। परंतु रातको जब मैं सोने लगा तो वह कालड़ी गांव, शंकराचार्यकी वह मूर्त्ति, मेरी आंखोंके सामने बार-बार आने लगती। मेरी नींद उड़ जाती। वह अनुभव मुझे आज भी ज्यों-का-त्यों हो रहा है। शंकराचार्यका वह ज्ञानका प्रभाव, उनकी वह दिव्य अद्वैत-निष्ठा, सामने फैले हुए संसारको मिथ्या ठहरानेवाला उनका अलौकिक व ज्वलन्त वैराग्य, उनकी गंभीर भाषा व मुझपर हुए उनके अनंत उपकार——इन सबकी रह-रहकर मुझे याद आने लगी। रातको यह सब भाव सामने खड़े हो जाते। तब मुझे अनुभव हुआ कि यह निर्गुणमें सगुण कैसे लबालब भरा हुआ है। प्रत्यक्ष भेंट होनेमें भी उतना प्रेम नहीं होता। निर्गुणमें भी सगुणका परमोत्कर्ष गहरा भरा हुआ है। मैं प्रायः अधिक कुशलपत्र वगैरा नहीं लिखता। पर किसी मित्रको पत्र न लिखनेपर भी भीतर से उसका सतत स्मरण होता रहता है। पत्र न लिखते हुए भी मनमें उसकी स्मृति ठसाठस भरी रहती है। निर्गुणमें इस तरह सगुण गुप्त रहता है। सगुण व निर्गुण दोनों एकरूप ही हैं। प्रत्यक्ष मूर्तिको लेकर पूजा करना, प्रकट रूपसे सेवा करना व भीतरसे, सतत संसारके कल्याणका चिंतन करते हुए बाहरसे पूजाकी क्रिया दिखाई न देना——इन दोनोंका समान मूल्य व महत्त्व है।

(६६)

अंतमें मुझे कहना यह है कि सगुण क्या, व निर्गुण क्या, इसका

निश्चय करना भी आसान नहीं है। एक दृष्टिसे जो सगुण है, वह दूसरी दृष्टिसे निर्गुण ठहर सकता है। सगुणकी सेवा एक पत्थरको लेकर की जाती है। उस पत्थरमें भगवान्‌की कल्पना कर लेते हैं। हमारी मातामें व संतोंमें भी प्रत्यक्ष चैतन्य प्रकटित हुआ है। उनमें ज्ञान, प्रेम, हार्दिकता स्पष्ट प्रकट है। पर उनमें परमात्मा मानकर पूजा नहीं करते। ये चैतन्य-मय लोक सबको दिखाई देते हैं। अतः उनकी सेवा करनी चाहिए, उनमें सगुण परमात्माके दर्शन करने चाहिए, परंतु ऐसा न करके लोग पत्थरमें परमेश्वर देखते हैं। अब एक तरहसे पत्थरमें परमेश्वरको देखना निर्गुणकी पराकाष्ठा है। संत, मां-बाप, पड़ोसी, इनमें प्रेम, ज्ञान, उपकारबुद्धि व्यक्त हुई है। उनमें ईश्वर मानना तो सरल है; परंतु पत्थरमें ईश्वर मानना कठिन है। उस नर्मदाके कंकरको हम शंकर मानते हैं। यह क्या निर्गुण-पूजा नहीं है? बल्कि इसके विपरीत ऐसा मालूम होता है कि यदि पत्थरमें परमेश्वरकी कल्पना न की जाय तो फिर कहां की जाय? भगवान्‌की मूर्ति होनेके लायक वह पत्थर ही है। वह निर्विकार है, शांत है। अंधकार हो, प्रकाश हो, गर्मी हो, सर्दी हो, वह पत्थर जैसा-का-तैसा ही रहता है। ऐसा यह निर्विकार पत्थर ही परमेश्वरका प्रतीक होनेके योग्य है। मां-बाप, जनता, अड़ोसी-पड़ोसी ये सब विकारसे युक्त हैं, अर्थात् इनमें कुछ-न-कुछ विकार मिल ही जाता है। अतएव पत्थरकी पूजा करनेकी बनिस्बत उनकी सेवा करना एक दृष्टिसे कठिन ही है।

मतलब यह कि सगुण-निर्गुण परस्पर पूरक हैं। सगुण सुलभ है, निर्गुण कठिन है, परंतु दूसरी तरहसे सगुण भी कठिन है, व निर्गुण भी सरल है। दोनोंके द्वारा एक ही ध्येयकी प्राप्ति होती है। पांचवें अध्याय-में जैसा बताया है, चौबीसों घंटे कर्म करके भी लेशमात्र कर्म न करनेवाला व चौबीसों घंटे कुछभी कर्म न करके सर्व-कर्म-कर्त्ता ऐसे योगी व संन्यासी दोनों एकरूप ही हैं, वैसे ही यहां भी है। सगुण कर्म-दशा व निर्गुण संन्यासयोग दोनों एकरूप ही हैं। संन्यास श्रेष्ठ है या योग—इसका उत्तर देनेमें जैसे भगवान्‌को कठिनाई पड़ी, वैसे ही दिक्कत यहां भी हुई है। अंतमें सुलभता कठिनताके व तारतम्यसे उत्तर देना पड़ा है, नहीं तो क्या योग व क्या संन्यास, क्या सगुण व क्या निर्गुण, दोनों एक-

रूप ही हैं। अंतमें भगवान् कहते हैं—"अर्जुन, तुम चाहे सगुण रहो या निर्गुण, पर भक्त जरूर रहो। गोल-मटोल पत्थर मत रहो।" यह कहकर अंतमें भक्तके लक्षण बताये हैं। अमृत मधुर होगा, परंतु हमें उसकी माधुरीको चखनेका अवसर नहीं मिला। किंतु ये लक्षण प्रत्यक्ष मधुर हैं। इसमें कल्पना की जरूरत नहीं है। इन लक्षणोंका हम अनुभव करें। बारहवें अध्यायके ये भक्त-लक्षण, स्थितप्रज्ञके लक्षणोंकी तरह, हमें नित्य सेवन करने चाहिए, मनन करने चाहिए व उन्हें थोड़ा-थोड़ा अपने जीवनमें लाकर पुष्टि प्राप्त कर लेनी चाहिए। इस तरह हमें अपना जीवन धीरे-धीरे परमेश्वरकी ओर ले जाना चाहिए।

रविवार, ८-५-३२

तेरहवां अध्याय

(६७)

व्यासदेवने अपने जीवनका सार भगवद्‌गीतामें डाल दिया है। उन्होंने विस्तारपूर्वक दूसरा भी बहुत कुछ लिखा है। अकेली महाभारत संहिता ही लाख-सवालाखकी है। संस्कृतमें व्यास शब्दका अर्थ ही 'विस्तार' हो गया है, परन्तु भगवद्‌गीतामें उनका झुकाव विस्तार करनेकी ओर नहीं है। भूमितिमें जिस प्रकार युक्लिडने सिद्धांत बता दिये हैं, तत्त्व दिखला दिये हैं, उसी प्रकार जीवनके लिए उपयोगी तत्त्व गीतामें व्यासदेव एकके बाद एक लिख रहे हैं। भगवद्‌गीतामें न तो विशेष चर्चा ही है, न विस्तार ही। इसका मुख्य कारण यह है कि जो बातें गीतामें कही गई हैं, उनको प्रत्येक मनुष्य अपने जीवनमें जांच-पड़ताल सकता है; बल्कि वे इसलिए कही गई हैं कि लोग उन्हें जांच-पड़ताल सकें। जितनी बातें जीवनके लिए उपयोगी हैं उतनी ही गीतामें कही गई हैं। उनके कहनेका उद्देश्य भी इतना ही था, इसीलिए, उन्होंने थोड़ेमें तत्त्व बताकर संतोष मान लिया है। उनकी इस संतोष-वृत्तिमें उनका सत्य तथा आत्मानुभव-संबंधी महान् विश्वास हमें दिखाई दे जाता है। जो बात सत्य है उसके समर्थनके लिए अधिक युक्ति काममें लानेकी जरूरत नहीं रहती।

हम जो गीताकी तरफ दृष्टि लगाये रहते हैं उसका मुख्य उद्देश्य यह है कि जीवनमें हमें जब-जब कुछ सहायताकी, सहारेकी आवश्यकता मालूम हो तब-तब वह गीतासे हमें मिलती रहे। और वह हमें सदैव मिलने जैसी भी है। गीता एक जीवनोपयोगी शास्त्र है और इसीलिए उसमें स्वधर्मपर इतना जोर दिया गया है। मनुष्यके जीवनका बड़ा पाया अगर कोई है तो वह स्वधर्माचरण ही है। उसकी सारी इमारत इस स्वधर्माचरणपर खड़ी करनी है। यह पाया जितना मजबूत होगा,

इमारत उतनी ही ज्यादा टिक सकेगी। इस स्वधर्माचरणको गीतामें 'कर्म' कहा है। इस स्वधर्माचरणरूप कर्मके इर्दगिर्द गीतामें बहुतेरी चीजें खड़ी की गई हैं। उसकी रक्षाके लिए अनेक विकर्म रचे गए हैं। स्वधर्माचरणको सजानेके लिए, उसे सुन्दर बनानेके लिए, उसे सफल करनेके लिए जिन-जिन आधारोंकी और मददकी जरूरत है वे सब उसे देना जरूरी है। इसलिए अबतक ऐसी बहुतेरी चीजें हमने देखीं। उनमें बहुत-सी भक्तिके रूपमें थीं। आज तेरहवें अध्यायमें जो चीज हमें देखनी है वह भी स्वधर्माचरणमें बहुत उपयोगी है। उसका संबंध है विचार-पक्षसे।

गीतामें यह बात प्रधान-रूपसे सर्वत्र कही गई है कि स्वधर्माचरणी-को फलका त्याग करना चाहिए। कर्म तो करें, पर उसका फल छोड़ दें। पेड़को पानी पिलाओ, उसकी परवरिश करो; परन्तु उसकी छाया की, फूल-फलकी अपने लिए अपेक्षा मत रखो। यह स्वधर्माचरण-रूप कर्मयोग है। कर्मयोगका अर्थ महज इतना ही नहीं कि कर्म करते रहो। कर्म तो इस सृष्टिमें सर्वत्र हो ही रहा है। उसे बतानेकी जरूरत नहीं है; परन्तु स्वधर्माचरणरूप कर्म—कोरा कर्म नहीं—भलीभांति करके उसका फल छोड़ देना। यह बात कहनेमें, समझनेमें बड़ी सरल मालूम होती है, परन्तु पालनमें कठिन है; क्योंकि किसी कार्यकी प्रेरक शक्ति ही फ़ल-वासना मानी गई है। फल-वासनाको छोड़कर कर्म करना उलटा पंथ है। व्यवहार या संसारकी रीतिके विपरीत यह क्रिया है। जो कोई बहुत कर्म करता है, उसके जीवनमें गीताका कर्मयोग है, ऐसा हम बहुत बार कहते हैं। बहुत कर्म करनेवालेका जीवन कर्मयोग-मय है; ऐसा हम कहते हैं, परन्तु इस प्रयोग में भाषा-शैथिल्य है। गीताकी व्याख्याके अनुसार वह कर्मयोग नहीं है, लाखों कर्म करनेवालोंमें, केवल कर्म ही नहीं बल्कि स्वधर्माचरणरूप कर्म करनेवाले लाखों लोगोंमें भी गीताका कर्मयोग आचरनेवाला बिरला ही मिलेगा। कर्मयोगके सूक्ष्म व सच्चे अर्थमें देखा जाय तो ऐसा संपूर्ण कर्मयोगी शायद ही कहीं मिले। कर्म तो करना, परन्तु उसके फलको छोड़ देना बिलकुल असाधारण बात है। अबतक गीतामें यही विश्लेषण, यही पृथक्करण किया गया है।

उस विश्लेषण या पृथक्करणके लिए ही उपयोगी एक दूसरा पृथक्करण इस तेरहवें अध्यायमें बताया गया है। 'कर्म करें और उसके फलकी आसक्ति छोड़ दें', इस पृथक्करणका सहायक महान् पृथक्करण है, 'देह व आत्मा' का। यही तेरहवें अध्यायमें उपस्थित किया गया है। आंखोंसे हम जिस रूपको देखते हैं, उसे हम मूर्त्ति, आकार, देह कहते हैं। यद्यपि बाह्य मूर्त्तिका परिचय हमारी आंखोंको हो गया तो भी वस्तुके अन्तरंगमें हमें प्रवेश करना पड़ता है। फलका ऊपरी कवच—छिलका—निकालकर उसका भीतरी गूदा चखना पड़ता है। नारियलको भी फोड़कर ही भीतरसे देखना पड़ता है। कटहलपर कांटे लगे रहते हैं, तो भी भीतर बढ़िया व रसीला गूदा भरा रहता है। हम चाहे अपनी ओर देखें, चाहे दूसरोंकी ओर, यह भीतर व बाहरका पृथक्करण करना आवश्यक हो जाता है। तो अब छिलका अलग करनेका अर्थ क्या? इसका अर्थ यह कि प्रत्येक वस्तुका भीतरी गूदा व बाहरी रूप इसका पृथक्करण किया जाय। बाह्य देह व भीतरी आत्मा, इस तरह प्रत्येक वस्तुका दुहरा रूप है। कर्ममें भी यही बात है। बाहरी फल कर्मका देह है। और कर्मकी बदौलत जो चित्त-शुद्धि होती है वह उस कर्मका आत्मा है। स्वधर्माचरणका बाहरी फल-रूप देह छोड़कर भीतरी चित्तशुद्धि-रूप सारभूत आत्माको हम ग्रहण करें, हृदयमें समा लें। इस प्रकार देखनेकी आदत, देहको हटाकर प्रत्येक वस्तुका सार ग्रहण करनेकी सारग्राही दृष्टि, हमें प्राप्त कर लेनी चाहिए। आंखोंको, मनको, विचारोंको ऐसी तालीम, आदत, अभ्यास करा देना चाहिए। हर बातमें देहको अलग करके आत्माकी पूजा करनी चाहिए। हमारे विचारके लिए यह पृथक्करण तेरहवें अध्यायमें दिया गया है।

(६८)

यह सारग्राही दृष्टि रखनेका विचार बहुत महत्त्वपूर्ण है। यदि बचपनसे ही हम ऐसी आदत डाल लें तो कितना अच्छा हो! यह विषय हजम कर लेने-जैसा—यह दृष्टि अंगीकार करने—जैसी है। बहुतोंको ऐसा लगता है कि अध्यात्म-विद्याका जीवनसे कोई संबंध नहीं!

कुछ लोगोंका ऐसा भी मत है कि यदि ऐसा कोई संबंध भी हो तो वह न होना चाहिए। देहसे आत्माको अलग समझनेकी शिक्षा बचपनसे ही देनेकी योजना की जा सके तो वह बड़ी खुशीकी बात होगी। यह शिक्षण-शास्त्रका विषय है। आज-कल कुशिक्षणके फलस्वरूप बड़े बुरे संस्कार बच्चोंके मनपर पड़ रहे हैं। 'मैं केवल देहरूप हूं', इससे बाहर यह शिक्षण हमें लाता ही नहीं। सब देहके ही चोचले चल रहे हैं; किन्तु इसके बावजूद देहको जो स्वरूप प्राप्त होना चाहिए, जो स्वरूप देना चाहिए, वह तो कहीं दिखाई ही नहीं देता। इस तरह इस देहकी यह वृथा पूजा हो रही है। आत्माके माधुर्यकी ओर ध्यान ही नहीं है। वर्तमान शिक्षा-पद्धतिसे यह स्थिति बन गई है। इस तरह देहकी मूर्त्ति-पूजाका अभ्यास दिन-रात कराया जाता है।

बल्कि ठेठ बचपनसे ही हमें इस देह-देवताकी पूजा-अर्चा करना सिखाया जाता है। जरा कहीं पांवमें ठोकर लग गई तो मिट्टी लगानेसे काम चल जाता है। बच्चेका इतने भरसे काम निपट जाता है, या मिट्टी लगानेकी भी उसे जरूरत नहीं मालूम होती। थोड़ी-बहुत चोट-खुरचकी तो वह परवाह भी नहीं करेगा; परन्तु उस बच्चेका जो संरक्षक है, पालक है, उसका काम इतनेसे नहीं चलता। वह बच्चेको पास बुलाकर पुचकारकर कहेगा—"अच्छा, चोट लग गई! कैसे लगी, कहाँ लगी? अरे, सख्त चोट लगी मालूम होती है! अरे रे, खून निकल आया।" ऐसा कहकर वह, बच्चा न रोता हो तो उलटा उसे रुला देते हैं। न रोनेवाले बच्चेको रुलानेके इन लक्षणोंके लिए अब क्या कहा जाय? उन्हें, कूद-फांद मत करो, खेलने मत जाओ, देखो गिर पड़ोगे, चोट लग जायगी, आदि देहपर ही ध्यान देनेवाला एकांगी शिक्षण दिया जाता है।

अच्छा, बच्चेका यदि लाड़-प्यार भी करना हो तो वह भी उसके देह-पक्षको लेकर ही। उसकी निंदा भी देहपक्षको ही लेकर करते हैं। "कैसा गंदा है रे"—कहते हैं। इससे बच्चेको कितनी चोट लगती है! कैसा मिथ्या आरोप है। यहां गंदगी है यह सही है और उसे साफ करना चाहिए यह भी सही है; लेकिन इस गंदगीको अनायास साफ न करके उस बच्चेपर कितना आघात किया जाता है? बच्चा उसे सहन नहीं

कर सकता। वह बड़ा दु:खी हो जाता है। उसके अन्तरंगमें, आत्मामें स्वच्छता, निर्मलता भरी है, तो भी उसपर गंदे रहनेका यह कितना वृथा आरोप! वास्तवमें वह लड़का गंदा नहीं है; बल्कि जो अत्यन्त सुन्दर, मधुर, पवित्र, प्रिय, परमात्मा है, वही वह है। उसीका अंश उसमें विद्यमान है; परन्तु उसे कहते हैं 'गंदा।' उस गंदगीसे उसका लेना-देना क्या है? बच्चेको इसका पता भी नहीं चलता और इसीलिए वह इस आघातको सहन नहीं कर पाता। उसके चित्तमें क्षोभ होता है और जब क्षोभ उत्पन्न हो जाता है तो फिर सुधार नहीं हो सकता। अत: उसे अच्छी तरह समझाकर साफ-सुथरा रखना चाहिए।

इसके विपरीत कृति करके उस लड़केके मनपर यह अंकित करते हैं कि वह देह है। शिक्षण-शास्त्रमें यह एक महत्त्वपूर्ण सिद्धांत समझना चाहिए। गुरुको यह भावना रखनी चाहिए कि मैं जिसे पढ़ा रहा हूं, वह सर्वांगसुन्दर है। हिसाबमें, सवालमें, भूल हो गई तो गालपर चांटा लगाते हैं। अब उस चांटेसे व सवालके भूलनेसे क्या संबंध? मदरसेमें देरसे आया तो लगाया चांटा। इससे उसके चेहरेपर रक्ताभिसरण तेज होने लगेगा, पर इससे क्या वह जल्दी आयगा? खूनकी यह तेजी क्या यह बतला सकेगी कि इस समय कितने बजे हैं? बल्कि सच पूछिये तो इस तरह मार-पीट करके हम उस बच्चेकी पशुताको ही बढ़ाते हैं। 'तुम यह देह ही हो' यह भावना पक्की करते हैं। उसका जीवन भयकी भीतपर खड़ा कर रहे हैं। सचमुच यदि हमें सुधार करना है, तो वह इस तरह जबरदस्ती करके देहासक्ति बढ़ानेसे कभी नहीं हो सकता। जब मैं यह समझ लूंगा कि मैं देह से भिन्न हूं, तभी मेरा सुधार हो सकेगा।

देहमें अथवा मनमें स्थित किसी दोषका ज्ञान होना बुरा नहीं। इससे उस दोषको दूर करनेमें सहायता मिलती है; परन्तु हमें यह बात साफतौरसे मालूम रहनी चाहिए कि मैं देह नहीं हूं। 'मैं' जो हूं, सो इस देहसे बिलकुल भिन्न, पृथक्, अत्यन्त सुन्दर, उज्ज्वल, त्रुटि-रहित हूं। अपने दोषोंको दूर करनेके लिए जो आत्म-परीक्षण करता है, वह भी तो अपनेको देहसे पृथक् करके ही ऐसा करता है। अत: जब कोई उसे उसका दोष दिखाता है तो वह बुरा नहीं मानता, गुस्सा

नहीं होता; बल्कि इस शरीररूपी, इस मनोरूपी यंत्रमें क्या दोष है, इसका विचार करके दोष दूर करता है। इसके विपरीत जो देहको अपनेसे जुदा नहीं मानता, वह सुधार कर ही नहीं सकता। यह देह, यह पिंड, यह मिट्टीका पुतला, यही मैं—ऐसा जो मानेगा वह अपना सुधार कैसे करेगा? सुधार तभी हो सकेगा जब हम यह मानेंगे कि यह देह एक साधनरूपमें मुझे मिला है। चरखे में यदि किसीने कोई कमी या दोष दिखाया तो क्या मुझे गुस्सा आता है? बल्कि कोई कमी होती है तो मैं उसे दूर करता हूं। ऐसी ही बात देहकी समझिए। जैसे खेतीके औजार, वैसे ही यह देह समझो। यह देह भगवान्के घरकी खेती करनेका एक औजार ही है। यह औजार यदि खराब हो जाय तो उसे अवश्य बनाना, सुधारना चाहिए। यह देह एक साधनके रूपमें प्रस्तुत है। अतः इस देहसे अपनेको अलहदा रखकर दोषोंसे मुक्त होनेका प्रयत्न हमें करना चाहिए। इस देहरूपी साधनसे मैं जुदा हूं, मैं स्वामी हूं, मालिक हूं, इस देहसे काम करानेवाला, इससे उत्कृष्ट सेवा लेनेवाला मैं हूं। बचपनसे ही इस प्रकार देहसे अलग रहनेकी भावना जाग्रत करनी चाहिए।

खेलसे अलग रहनेवाले त्रयस्थ या तटस्थ जैसे खेलके गुण-दोषोंको अच्छी तरह देख सकते हैं, उसी तरह हम भी देह-मन-बुद्धिसे अपनेको अलग रखकर ही उनके गुण-दोष परख सकेंगे। कोई-कोई कहते हैं—"इधर जरा मेरी स्मरण-शक्ति कम हो गई है, इसका कोई उपाय बताइए न?" जब मनुष्य ऐसा कहता है, तब वह उस स्मरण-शक्तिसे भिन्न है, यह स्पष्ट हो जाता है। वह कहता है—"मेरी स्मरण-शक्ति खराब हो गई है।" इसका अर्थ यह हुआ कि उसका कोई साधन, कोई औजार बिगड़ गया है। किसीका लड़का खो जाता है, किसीकी पुस्तक खो जाती है, पर कोई खुद नहीं खो जाता। अन्तमें मरते समय भी उसका देह ही सब तरहसे नष्ट होता है, बेकार हो जाता है, पर वह खुद तो भीतरसे ज्यों-का-त्यों रहता है। वह निर्दोष निरोगी रहता है। यह बात समझ लेने-जैसी है और यदि समझमें आ जाय तो इससे बहुतेरी झंझटों व उलझनों से छुटकारा हो जायगा।

(६९)

देह ही 'मैं' हूं, यह जो भावना सर्वत्र फैल रही है, इसके फल-स्वरूप मनुष्य ने बिना विचारे ही देह-पुष्टिके लिए नाना प्रकारके साधन निर्माण कर लिये हैं। उन्हें देखकर बड़ा भय मालूम होता है। मनुष्यकी यह धारणा सतत रहती है कि यह देह पुराना हो गया, जीर्ण-शीर्ण हो गया तो भी येन-केन प्रकारेण इसे टिका ही रखना चाहिए; परंतु आखिर इस देहको, इस छिलकेको, आप कबतक टिका रख सकेंगे ? मरने-तक ही। जब मौतका वारंट आ जायगा तो क्षणभर भी देह कायम नहीं रख सकते। मौतके आगे सारा गर्व ठंडा हो जाता है। फिर भी इस तुच्छ देहके लिए मनुष्य नाना प्रकारके साधन जुटाता है। दिन-रात इस देहकी चिंता करता है। अब कहते हैं कि देहकी रक्षाके लिए मांस खानेमें कोई हर्ज नहीं है, मानों मनुष्यका देह बड़ा ही कीमती है,जो उसे बचानेके लिए मांस खावे। पशुकी देह कीमतमें कम है। सो क्यों ? मनुष्य-देह क्यों कीमती हुआ ? क्या कारण है ? अरे, पशु चाहे जो खा सकते हैं, सिवा स्वार्थके उन्हें दूसरा कोई विचार ही नहीं आता ! मनुष्यकी बात ऐसी नहीं। मनुष्य अपने आस-पासकी सृष्टिकी रक्षा करता है। अतः मनुष्य-देहका मोल है, इसलिए वह कीमती है; परन्तु जिस कारणसे मनुष्यकी देह कीमती साबित हुई, उसीको हम मांस खाकर नष्ट कर देते हैं। भले आदमी, तुम्हारा बड़प्पन तो इसी बातपर अवलंबित है न, कि तुम संयमसे रहते हो, दूसरे जीवोंकी रक्षा-भलाईके लिए उद्योग करते हो, अपनी सारसंभाल रखनेकी भावना तुममें है ? पशुसे भिन्न जो कुछ यह विशेषता तुममें है, उसीसे न मनुष्य श्रेष्ठ कहलाता है ? इसीसे मानव-देहको दुर्लभ कहा गया है, परन्तु जिस आधारपर मनुष्य बड़ा—श्रेष्ठ—हुआ है, उसीको यदि वह उखाड़ने लगा, तो फिर उसके बड़प्पन की इमारत टिकेगी कैसे ? साधारण पशु, जो अन्य प्राणियोंके मांस खाकर जीवित रहते हैं, वही क्रिया यदि मनुष्य निःसंकोच करने लगे तो फिर उसके बड़प्पनका आधार ही खींच लेने जैसा होगा। यह तो वैसा ही है, जैसा कि जिस डालपर मैं बैठा हूं, उसीको काटनेका प्रयत्न करना।

आजकल वैद्यक-शास्त्र नाना प्रकारके चमत्कार दिखा रहा है।

पशुको टोचकर उसके शरीरमें—उस जीवित पशुके शरीरमें—रोग-जंतु उत्पन्न करते हैं व देखते हैं कि उन रोगोंका उसपर क्या-क्या असर हुआ! सजीव पशुको इस प्रकार महान् कष्ट देकर जो ज्ञान प्राप्त किया जाता है, उसका उपयोग किया जाता है, इस क्षुद्र मानवदेहको बचानेके लिए ! और यह सब चलता है भूत-दयाके नामपर। पशुके शरीर में जंतु पैदा करके उसकी लस निकालकर मनुष्य के शरीर में टोंचते हैं ! ऐसे नाना प्रकारके भीषण कृत्य हो रहे हैं। जिस देहके लिए हम यह सब करते हैं, वह तो एक कच्चे कांचकी तरह है, जो पलभरमें ही फूट सकता है। वह कब फूटेगा, इसका जरा भी भरोसा नहीं किया जा सकता। यद्यपि मनुष्यके देहकी रक्षाके लिए ये सारे उद्योग हो रहे हैं, फिर अंतमें अनुभव क्या आता है ? ज्यों-ज्यों इस नाजुक देहको संभालनेका प्रयत्न किया जाता है, त्यों-त्यों उसका नाश अधिकाधिक होता जाता है। यह प्रतीति हमें होती रही है, फिर भी इस देहको मोटा-ताजा करनेका, इसकी महिमा बढ़ानेका, प्रयत्न जारी ही है ।

हमारा ध्यान कभी इस बातकी तरफ नहीं जाता कि किस प्रकारका आहार करके बुद्धि सात्विक होगी। मनुष्य इस बातको बिलकुल ही नहीं देख रहा है कि मनको अच्छा बनानेके लिए, बुद्धिको निर्मल रखनेके लिए क्या करना चाहिए, किस वस्तुकी सहायता लेनी चाहिए। वह तो इतना ही देखता है कि शरीरका वजन किस तरह बढ़ेगा। वह इसीकी चिन्ता करता दीखता है कि जमीनपरकी मिट्टी उठकर उसके शरीर पर कैसे चिपक जाय, मिट्टीके लौंदे उसके शरीरपर कैसे थुप जायं। पर जैसे थोपा हुआ गोबरका कंडा सूखनेपर फिर नीचे गिर पड़ता है, उसी तरह शरीरपर चढ़ाया यह मिट्टीका लेप, यह चरबी, अंतको गल जाती है व शरीर फिर अपनी असली स्थितिमें आ जाता है। आखिर इसका मतलब क्या, जो हम शरीरपर इतनी मिट्टी चढ़ा लें, इतना वजन बढ़ा लें, कि शरीर उसका बोझ ही न सह सके ? शरीरको इतना अनाप-शनाप मोटा बनाया ही क्यों जाय ? हां, यह शरीर हमारा एक साधन है, अतः उसे ठीक रखनेके लिए जो कुछ आवश्यक है, वह सब मुझे करना चाहिए। यंत्रसे काम लेना चाहिए।

कोई 'यंत्राभिमान' जैसा भी कहीं हो सकता है ? फिर इस शरीररूपी यंत्रके संबंधमें भी हम इसी तरह विचार क्यों न करें ?

सारांश, यह देह साध्य नहीं, बल्कि एक साधन है। यदि यह भाव हमारा दृढ़ हो जाय तो फिर शरीरका जो इतना तूमार बांधा जाता है, वह न रहेगा। जीवन हमको और ही तरह से दीखने लगेगा। फिर इस देहको सजानेमें हमें गौरव अनुभव न होगा। सच पूछिये तो इस देहके लिए एक सादा कपड़ा हो तो काफी है। पर नहीं, हम चाहते हैं, वह नरम, मुलायम हो। उसका बढ़िया रंग हो, सुन्दर छपाई हो, अच्छे किनारे—बेल-बूटे हों, कलाबत्तू हो, आदि। उसके लिए हम अनेक लोगोंसे तरह-तरहकी मेहनत कराते हैं। यह सब क्यों ? उस भगवान् को क्या अक्ल नहीं थी ? यदि इस देहके लिए सुन्दर बेल-बूटों व नक्काशीकी जरूरत होती, तो जैसे शेरके शरीरपर उसने अपनी कारीगरीकी करामात दिखाई है, वैसे क्या तुम्हारे हमारे शरीरपर नहीं दिखा देता ? उसके लिए क्या यह असंभव था ? मोरकी तरह सुन्दर पूंछ हमें भी लगा दे सकता था; परन्तु ईश्वरने मनुष्यको एक ही रंग दिया है। जरा उसमें दाग पड़ जाता है तो उलटा उसका सौंदर्य नष्ट हो जाता है। मनुष्य जैसा है वैसा ही सुन्दर है। परमेश्वरका यह उद्देश्य ही नहीं है कि मनुष्य-देहको सजाया जाय। सृष्टि में क्या सामान्य सौंदर्य है ? मनुष्यका काम इतना ही है कि वह अपनी आंखोंसे इसको निहारता रहे; परन्तु वह रास्ता भूल गया है। कहते हैं, जर्मनीने हमारे रंगको मार दिया। अरे भाई, तुम्हारे मनका रंग तो पहले ही मर चुका, बादमें तुम्हें इस बनावटी रंगका शौक लगा ! उसीकी बदौलत तुम परावलंबी हो गये। बिला वजह ही तुम इस शरीरश्रृंगारके चक्करमें पड़ गये। मनको सिंगारना, बुद्धिका विकास करना, हृदयको सुन्दर बनाना तो एक तरफ ही रह गया !

(७०)

इसलिए भगवान्ने इस तेरहवें अध्यायमें जो विचार हमें दिया है, वह बड़ा कीमती है। 'तू देह नहीं, आत्मा है।' "तत् त्वमसि—वह आत्मरूप तू ही है।" यह बड़ा उच्च, पवित्र उद्गार है, पावन व उदात्त उच्चार है। संस्कृत-साहित्यमें यह बड़ा ही महान् विचार

समाविष्ट किया गया है —"यह ऊपरका कवच, छिलका, ढांचा, तू नहीं है। वह असल अविनाशी फल—गूदा—तू है।" जिस क्षण मनुष्यके हृदयमें यह विचार स्फुरित होगा कि 'सो तू है', 'यह देह मैं नहीं, वह परमात्मा मैं हूं' यह भाव मनमें जम जायगा, उसी क्षण उसके मनमें एक अननुभूत आनन्द लहराने लगेगा। मेरे उस रूपको मिटाने-का—नष्टकर डालनेका—सामर्थ्य संसारकी किसी वस्तुमें नहीं। किसीमें भी ऐसी शक्ति नहीं है। यह सूक्ष्म विचार इस उद्‌गार में समाया हुआ है।

इस देहसे परे अविनाशी व निष्कलंक जो आत्मतत्त्व है, सो मैं हूं। उस आत्मतत्त्वके लिए मुझे यह शरीर मिला हुआ है। जब-जब उस परमेश्वरी तत्त्वके दूषित हो जानेकी संभावना होगी, तब-तब मैं उसको बचानेके लिए इस देहको फेंक दूंगा। परमेश्वरी तत्त्वको उज्ज्वल रखनेके लिए यह देह होमनेको मैं सदा तैयार रहूंगा। मैं जो इस देहपर सवार होकर आया हूं, सो क्या इसलिए कि अपनी फजीहत कराऊं? देहपर मेरी सत्ता चलनी चाहिए। मैं इस देहका इस्तेमाल करूंगा व उसके द्वारा हित-मंगलकी वृद्धि करूंगा। 'भरूंगा आनन्द त्रिलोकमें।' इस देहको मैं महान् तत्त्वोंके लिए फेंक दूंगा व ईश्वरका जय-जयकार करूंगा। रईस आदमी एक कपड़ेके मैले होते ही उसे फेंक देता है व दूसरा पहन लेता है, वैसे ही मैं भी करूंगा। कामके लिए इस देहकी जरूरत है। जिस समय यह देह कामके लायक न रह जायगा, उस समय उसे फेंक देनेमें मुझे क्या पशोपेश हो सकता है?

सत्याग्रहके द्वारा हमें यही शिक्षण मिलता है। देह व आत्मा, ये अलग-अलग चीजें हैं। जिस दिन मनुष्य इस मर्मको समझ जायगा, उसी दिन उसके सच्चे शिक्षणकी, वास्तविक विकासकी शुरूआत होगी। उसी समय हम सत्याग्रह सधेगा। अतः यह आवश्यक है कि हम प्रत्येक इस भावनाको अपने हृदयमें अंकित कर लें। देह तो निमित्तमात्र साधन है, परमेश्वरका दिया एक औजार है। जिस दिन उसकी जरूरत खतम हो जायगी, उसी दिन इसे फेंक देना है। सर्दीके गरम कपड़े हम गर्मियोंमें फेंक देते हैं, रातको ओढ़े हुए कंबल सुबह हटा देते हैं, सुबहके कपड़े दोपहरको छोड़ देते हैं, उसी तरह इस देहको समझो।

जबतक देहका काम है, तबतक उसे रखेंगे, जिस दिन इससे काम न मिलेगा, उसी दिन यह देहरूपी कपड़ा फेंक देंगे। आत्माके विकासके लिए भगवान् यह युक्ति हमें बता रहे हैं।

(७१)

जबतक हम यह न समझ लेंगे कि देहसे मैं अलग हूं तबतक जालिम लोग हमपर जरूर जुल्म ढाते रहेंगे, हमें बंदा—गुलाम—बनाते रहेंगे, हमको न जाने क्या-क्या त्रास देते रहेंगे। जुल्म भयके कारण ही शक्य हो सकता है। एक राक्षसने एक आदमी को पकड़ लिया था। वह उससे-बराबर काम लेता रहता था। जब कभी वह काम नहीं करता तो राक्षस कहता—"खा जाऊंगा, तुझे खतम कर दूंगा।" शुरूमें तो वह मनुष्य डरता रहता, परन्तु जब वह धमकी असह्य हो गई तो उसने कहा—"ले, खा डाल, खाना हो तो खा जा।" पर राक्षस उसे खा जानेवाला थोड़े ही था। उसे तो एक बंदा—गुलाम चाहिए था। खा जानेपर उसका काम कौन करता? वह तो सिर्फ उसे खा जानेकी धमकी दिया करता था; परन्तु ज्योंही यह जवाब मिला कि 'ले खा जा' तो उसका जुल्म बन्द हो गया। जालिम लोग यह जानते हैं कि ये लोग देहसे चिपके रहनेवाले हैं। इनके देहको जहां कष्ट पहुंचा नहीं कि ये गुलाम होकर दबकर बैठ जायंगे। परन्तु जहां आपने देहकी आसक्ति छोड़ दी कि तुरन्त सम्राट् हो जायंगे, स्वतन्त्र हो जायंगे। सारा सामर्थ्य आपके हाथमें आ जायगा। कोई भी आपपर हुक्म नहीं चला सकता। फिर जुल्म करनेका आधार ही टूट जाता है। उसकी बुनियाद ही इस भावनापर है कि 'देह मैं हूं'। वे समझते हैं कि इनके देहको सताया नहीं कि ये बसमें हुए नहीं, इसीलिए वे धमकीकी भाषा बोलते हैं।

'मैं देह हूं'—मेरी इस भावनाके कारण ही दूसरोंको मुझपर जुल्म करनेकी, सतानेकी, इच्छा होती है। परन्तु इंगलैंडके हुतात्मा—बलिवीर क्रेन्मर—ने क्या कहा था—"मुझे जलाते हो! अच्छा, जला डालो। लो, पहले यह दाहिना हाथ जलाओ।" इसी तरह रिड्ले और लैटिमरने क्या कहा था—"तुम जलाना चाहते हो? हमें कौन जला सकता है? हम तो धर्मकी ऐसी ज्योति जला रहे हैं कि उसे कोई बुझा नहीं सकता। शरीररूपी इस मोमबत्तीको, इस

चरबीको, जलाकर सत्तत्त्वोंकी ज्योति जगमगाना तो हमारा काम ही है । देह मिट जायगा, वह तो मिटनेहीवाला है ।" सुकरातको जहर देकर मारनेकी सजा दी गई । तब उसने कहा—"मैं अब बूढ़ा हो गया हूं । चार दिन के बाद देह छूटनेवाला था । जो मरनेहीवाला था, उसे मारकर आप लोग कौन-सी बहादुरी कर रहे हैं ? जरा सोचो तो कि यह शरीर एक दिन अवश्य मरनेवाला है । जो मर्त्य है उसे मारनेमें कौन-सी तारीफ है ?" जिस दिन सुकरातको जहर दिया जानेवाला था, उसके पहली रात वह शिष्योंको आत्माके अमरत्वकी शिक्षा दे रहा था । शरीर में विषका प्रवेश होनेपर उसे क्या-क्या वेदनाएं होंगी, इसका वर्णन वह मौजसे कर रहा था । उसे कुछ भी फिक्र नहीं मालूम होती थी । आत्माकी अमरता-संबंधी यह चर्चा खतम होनेपर उसके एक शिष्यने पूछा—"मरनेपर आपकी अंत्येष्टि क्रिया कैसे की जाय ?" उसने जवाब दिया—"खूब, मारेंगे तो वे व गाड़ोगे तुम ! तो क्या वे मारनेवाले मेरे दुश्मन, और तुम गाड़नेवाले मुझे बहुत चाहनेवाले हो ? वे अक्लमंदीसे मुझे मारेंगे, व तुम समझदारीसे मुझे गाड़ोगे ? तुम कौन हो मुझे गाड़नेवाले ? मैं तुम सबको पूरा पड़नेवाला हूं । तुम किसमें मुझे गाड़ोगे ? मिट्टीमें या नासमें ? मुझे न कोई मार सकता है, न कोई गाड़ ही सकता है । अबतक मैंने क्या समझाया तुम लोगों को ? आत्मा अमर है, उसे कौन तो मार सकता है व कौन गाड़ सकता है ?" और सचमुच आज दो-ढाई हजार वर्षोंसे वह महान् सुकरात सबको गाड़कर बचा है !

(७२)

सारांश, जबतक देहकी आसक्ति है, भय है, तबतक वास्तविक रक्षा नहीं हो सकती । तबतक एकसा डर लगता रहेगा । जरा नींद लगी नहीं कि यह खटका रहेगा, कहीं सांप तो आकर न काट खाय, चोर तो आकर घात न कर जाय । मनुष्य सिरहाने डंडा लेकर सोता है । क्यों ? तो कहता है—"साथ रखना अच्छा है, कहीं चोर-वोर आ जाय तो ?" अरे भले आदमी ! कहीं चोर वही डंडा उठाकर तुम्हारे सिरपर मार दे तो ? चोर यदि डंडा लाना भूल गया हो तो तुम उसके लिए पहलेही से तैयारी कर रखते हो । तुम किसके भरोसेपर

सोते हो ? उस समय तो तुम दुनियाके हाथमें रहते हो। तुम जग रहे होगे तो ही बचाव करोगे न ? नींदमें तुम्हारी रक्षा कौन करेगा ?

मैं किसी-न-किसी शक्तिपर विश्वास करके सोता हूं। जिस शक्ति पर भरोसा रखकर शेर, गाय आदि जानवर सोते हैं, उसीके भरोसे मैं भी सोता हूं। शेरको भी तो नींद आती है। सिंह भी, जो सारी दुनियासे बैर होनेके कारण हर घड़ी पीछे देखता है, वह भी सोता ही है। उस शक्तिपर यदि विश्वास न हो तो कुछ सिंह सोते व कुछ जगकर पहरा देते—ऐसी व्यवस्था उन्हें करनी पड़ती। जिस शक्तिपर विश्वास रखकर शेर, भेड़िया, सिंह आदि क्रूर जीव भी सोते हैं, उसी विश्व-व्यापक शक्तिकी गोदमें मैं भी सो रहा हूं। मांकी गोदमें बच्चा बेफिक्रीसे सोता है। वह मानो उस समय दुनियाका बादशाह ही होता है। हमें चाहिए कि आप और हम भी उसी विश्वंभर माताकी गोदमें इसी तरह प्रेम, विश्वास व ज्ञानपूर्वक सोनेका अभ्यास करें। जिस शक्तिके आधारपर मेरा यह सारा जीवन चल रहा है, उसका मुझे अधिकाधिक परिचय कर लेना चाहिए। वह शक्ति मुझे उत्तरोत्तर प्रतीत होनी चाहिए। इस शक्तिमें मुझे जितना विश्वास पैदा होगा, उतना ही अधिक मेरा रक्षण हो सकेगा। जैसे-जैसे मुझे इस शक्तिका अनुभव होता जायगा, वैसे-ही-वैसे मेरा विकास होता जायगा। इस तेरहवें अध्यायमें इसका किंचित् क्रम भी दिग्दर्शित किया गया है।

(७३)

जबतक देहस्थित आत्माका विचार मनमें नहीं आता है, तबतक मनुष्य साधारण क्रियाओंमें ही तल्लीन रहता है। भूख लगे तो खा लिया, प्यास मालूम हुई तो पानी पी लिया, नींद आई तो सो गये, इससे अधिक वह कुछ नहीं जानता। इन्हीं बातोंके लिए वह लड़ेगा, इन्हींकी प्राप्तिका लोभ मनमें रखेगा। इस तरह इन दैहिक क्रियाओंमें ही वह मग्न रहता है। विकासका आरंभ तो इसके बादसे होता है। इस समयतक आत्मा सिर्फ देखता रहता है। मां जिस तरह कुएंकी ओर रेंगते हुए जानेवाले बच्चेके पीछे सतत सतर्क खड़ी रहती है, उसी प्रकार आत्मा हमपर निगाह रखे खड़ा रहता है। शांति के साथ

वह सब क्रियाओंको देखता है । इस स्थितिको 'उपद्रष्टा'—साक्षी-रूपसे सब देखनेवाला कहा है ।

इस अवस्थामें आत्मा देखता है, परंतु अभी वह सम्मति, स्वीकृति नहीं देता है । परंतु यह जीव, जो अबतक अपनेको देहरूप समझकर सब क्रिया, सब व्यवहार करता है, वह आगे चलकर जागता है । उसे भान होता है कि अरे, मैं पशुकी तरह जीवन बिता रहा हूं । जीव जब इस तरह विचार करने लगता है, तब उसकी नैतिक भूमिका शुरू होती है । तब कदम-कदमपर वह उचित-अनुचितका विचार करता है । विवेकसे काम लेने लगता है । उसकी विश्लेषण बुद्धि जाग्रत होती है । स्वैर क्रियाएं रुकती हैं । स्वच्छंदताकी जगह संयम आता है । जब जीव इस नैतिक भूमिकामें आता है तब आत्मा केवल स्वस्थ रहकर नहीं देखता, वह भीतरसे अनुमोदन देता है—'शाबाश', 'खूब', ऐसी आवाज अंदरसे आती है । अब वह केवल 'उपद्रष्टा' न रहा, 'अनुमन्ता' हो गया ।

कोई भूखा अतिथि दरवाजे आ जाय, आप अपनी परोसी थाली उसे दे दें और फिर रातको अपनी इस सत्कृतिका स्मरण हो, तो देखिए मनको कितना आनंद होता है । भीतरसे आत्माकी हलकी गुंजार कानोंमें होती है—'अच्छा काम किया' । मां जब बच्चे की पीठपर हाथ फिराकर कहती है, 'अच्छा किया बेटा', तो उसे ऐसा मालूम होता है, मानो दुनियाकी सारी बख्शिश मुझे मिल गई । उसी तरह हमारे हृदयस्थ परमात्माके 'शाबाश बेटा' ये शब्द हमें प्रोत्साहन देते हैं । ऐसे समय जीव भोगमय जीवनको छोड़कर नैतिक जीवनकी भूमिकामें स्थित होता है ।

इसके बादकी भूमिका यह है—नैतिक जीवनमें मनुष्य कर्त्तव्य-कर्मके द्वारा अपने मनके तमाम मलोंको धोनेका यत्न करता है, परंतु एक समय ऐसा आता है, जब मनुष्य ऐसा काम करते-करते थकने लगता है । तब जीव ऐसी प्रार्थना करने लगता है—'हे भगवन्! मेरे उद्योगोंकी, मेरी शक्तिकी अब हद आ गई, मुझे अधिक बल दे ।' जबतक मनुष्यको यह अनुभव नहीं होता कि उसके तमाम प्रयत्नोंके बावजूद वह अकेला कामयाब नहीं हो सकता, तबतक प्रार्थनाका रहस्य उसकी समझमें

नहीं आ सकता। अपनी सारी शक्ति लगाकर, जब वह काफी नहीं मालूम होती तब, आर्त्तभावसे द्रौपदीकी तरह परमात्माको पुकारना चाहिए। परमेश्वरकी कृपा व सहायताका स्रोत तो सतत बहता ही रहता है। जिस किसीको प्यास लग रही हो, वह अपना हक समझकर उसमेंसे पानी पी सकता है। जिसे कमी पड़ती हो, वह मांग ले। इस तरहका रिश्ता इस तीसरी भूमिका में होता है। परमात्मा अधिक नजदीक आता है। अब वह केवल शाब्दिक शाबाशी न देते हुए सहायता करनेके लिए आता है।

पहले परमेश्वर दूर खड़ा था। गुरु जिस तरह शिष्यसे यह कहकर कि 'सवाल हल करो' दूर खड़ा रहता है उसी तरह जबतक जीव भोगमय जीवनमें लिप्त रहता है, तबतक परमात्मा दूर खड़ा रहता है। वह कहता है—"ठीक है, चलने दो अपने कबाड़े।" फिर जीव नैतिक भूमिकामें आता है। तब परमात्मा कोरा तटस्थ नहीं रह सकता। जीवके हाथसे सत्कर्म हो रहा है, ऐसा देखते ही भगवान् धीरेसे झांकता है और कहता है—'शाबाश!' इस तरह सत्कर्म होते-होते जब चित्तके स्थूल मल धुल जाते हैं और सूक्ष्म मल धुलनेका समय आता है, और जब उसके सारे प्रयत्न थकने लगते हैं, तब परमात्मा को पुकारता है और वह 'आया' कहकर दौड़ आता है। भक्तका उत्साह कम पड़ते ही वह वहां आ खड़ा हो जाता है। जगका सेवक सूर्यनारायण आपके दरवाजेपर सदैव खड़ा ही है। सूर्य बंद दरवाजे को तोड़कर भीतर नहीं घुसेगा; क्योंकि वह सेवक है। वह स्वामीकी मर्यादा पालता है। वह दरवाजेपर धक्का नहीं देगा। भीतर मालिक सोया हुआ हो तो भी वह सूर्यरूपी सेवक दरवाजेके बाहर रहता है। जरा दरवाजा खोलिए कि वह सारा-का-सारा प्रकाश लेकर अंदर घुस आता है और अंधेरा दूर कर देता है। परमात्माकी स्थिति भी ऐसी ही समझो। उससे मदद मांगिए तो वह बाहु फैलाकर आया ही समझो। भीमाके किनारे (पंढरपुरमें) कमरपर हाथ रखकर वह तैयार ही खड़ा है।

उठाके लो भुजा, कहे प्रभु आजा॥

ऐसा वर्णन तुकाराम आदिने किया है। नाक खोलो कि हवा भीतर आई ही। दरवाजा खोलो कि प्रकाश भीतर आया ही। हवा और

प्रकाशके दृष्टांत भी मुझे ना-काफी मालूम होते हैं। उनकी अपेक्षा भी परमात्मा अधिक सन्निध, अधिक उत्सुक है। वह उपद्रष्टा, अनुमन्ता न रहते हुए 'भर्त्ता'—सब तरह सहायक होता है। मनकी मलिनता मिटानेके लिए अगतिक होकर जब हम पुकारते हैं—'मारी नाड़ तमारे हाथे प्रभु संभाळ जो रे।' हम प्रार्थना करते हैं—'तू ही एक मेरा मददगार है, तेरा आसरा मुझको दरकार है।' तब फिर वह दयाधन कैसे दूर रहेगा? भक्तकी सहायता करनेवाला वह भगवान्, अधूरेको पूरा करनेवाला वह प्रभु, दौड़ पड़ता है। तब रैदासके चमड़े धोता है, सजन कसाईका मांस बेचता है, कबीरकी चादर बुनता है, व जनाबाईके साथ चक्की पीसता है।

इसके बादकी सीढ़ी है परमेश्वरके कृपा-प्रसादसे कर्मका जो फल मिला, उसे भी खुद न लेकर उसीके अर्पण कर देना। इस भूमिकामें जीव परमेश्वरसे कहता है—"अपना फल आप ही भोगो।" नामदेव धरना देकर बैठ गया कि "प्रभु, दूध पीना ही पड़ेगा।" कितना मधुर प्रसंग है! वह सारा कर्मफलरूपी दूध नामदेव भगवान्के अर्पण कर रहा है। इस तरह जीवनकी सारी पूंजी, सारी कमाई, जिस परमात्माकी कृपासे प्राप्त हुई उसीको वह अर्पण कर देता है। धर्मराज ज्योंही स्वर्गमें कदम रखनेवाले थे कि उनके साथके कुत्तेको आगे नहीं जाने दिया गया। तब उन्होंने अपने सारे जीवनका पुण्य-फल—स्वर्ग—एक क्षणमें छोड़ दिया। इसी तरह भक्त भी सारा फल-लाभ परमात्माके अर्पण कर देता है। 'उपद्रष्टा', 'अनुमन्ता', 'भर्त्ता'—इन स्वरूपोंमें प्रतीत होनेवाला परमात्मा अब 'भोक्ता' हो जाता है। अब जीव उस भूमिकामें आ जाता है, जब परमात्मा ही इस शरीरमें भोगोंको भोगता है।

इसके बाद अब संकल्प ही करना छोड़ देना है। कर्ममें तीन सीढ़ियां आती हैं। पहले हम संकल्प करते हैं, फिर कार्य करते हैं और बादको फल आता है। कर्मके लिए प्रभुकी सहायता लेकर जो फल मिला, वह भी उसीके अर्पण कर दिया। कर्म करनेवाला परमेश्वर, फल चखनेवाला भी परमेश्वर! अब उस कर्मका संकल्प करनेवाला भी परमेश्वर हो जाने दो। इस प्रकार कर्मके आदि, मध्य और अंतमें सर्वत्र प्रभु ही हो जाने दो। ज्ञानदेवने कहा है—

माली जिधर ले गया। उधर चुपचाप गया॥
यों पानी जैसा भैय्या। होओ सदा॥

माली पानीको जिधर ले जाना चाहता है उधर ही वह बिना चीं-चपड़ किये चला जाता है। माली जिन फूल और फलके पौधोंको चाहता है, उन्हें वह पानी पोसता और बढ़ाता है, इसी तरह मेरे हाथों जो कुछ होना है वह उसीको तय करने दो। मेरे चित्तके सभी संकल्पोंकी जिम्मेदारी मुझे उसीपर सौंपने दो। यदि मैंने अपना सारा बोझ घोड़ेपर डाल ही दिया है तो बाकी बोझा मैं अपने ही सिरपर क्यों लादकर बैठूं? वह भी घोड़ेकी पीठपर ही क्यों न लाद दूं? अपने सिरपर बोझ रखकर भी यदि मैं घोड़ेपर बैठूंगा तो भी बोझ घोड़ेपर ही पड़ेगा, फिर सारा ही बोझ उसकी पीठपर क्यों न लाद दूं? इस तरह जीवनकी तमाम हलचलें, उठा-पटक, फलना-फलाना, सब वह परमात्मा ही अंतमें हो जाता ह। मेरे जीवनका वह 'महेश्वर' ही हो जाता है। इस तरह विकास होते-होते सारा जीवन ही परमेश्वरमय हो जाता है, सिर्फ देहका पर्दा ही बाकी बच रहता है। वह जब हट जाता है तो जीव और शिव, आत्मा और परमात्मा, एक ही हो जाते हैं।

इस प्रकार—

"उपद्रष्टानुमन्ता च भर्ता भोक्ता महेश्वरः।"

इस स्वरूपमें हमें परमात्माका उत्तरोत्तर अधिक अनुभव करना है। प्रभु पहले तटस्थ रहकर देखता है। फिर नैतिक जीवनका आरंभ होनेपर हमसे सत्कर्म होने लगते हैं, तब वह हमें शाबाशी देता है। फिर चित्तके सूक्ष्म मल धो डालनेके लिए, अपने प्रयत्नोंको अपर्याप्त देखकर भक्त जब पुकारता है तो वह अनाथ-नाथ सहायताके लिए दौड़ पड़ता है। उसके बाद फलको भी भगवान्‌के अर्पण करके उसे 'भोक्ता' बना देना और अंतमें तमाम संकल्प उसीके अर्पण करके सारा जीवन हरिमय कर देना है। यही मानवका अंतिम साध्य है।'कर्मयोग' व 'भक्ति-योग' रूपी दोनों पंखोंसे उड़ते हुए साधकको इस अंतिम मंजिलतक जा पहुंचना है।

(७४)

इस सबको साधनाके लिए नैतिक साधनाकी मजबूत बुनियाद आवश्यक है। सत्य-असत्यका विवेक करके सत्यको ही सदा ग्रहण करना

चाहिए। सार-असारका विचार करके सार ही लेना चाहिए। सीपको छोड़कर मोती ग्रहण करना चाहिए। इस प्रकार जीवनकी शुरुआत करना है। फिर आत्म-प्रयत्न व परमेश्वरी कृपाके बलपर ऊपर चढ़ते जाना है। इस सारी साधनामें यदि हमने देहसे आत्माको अलग करनेका अभ्यास डाल लिया होगा तो हमें बड़ी मदद मिलेगी। ऐसे समय मुझे हजरत ईसाका बलिदान याद आ जाता है। उन्हें कीलें ठोंक-ठोंककर मार रहे थे। कहते हैं, उस समय उनके मुंहसे ये उद्‌गार निकले—"भगवन्, इतनी यातनाएं क्यों देते हैं?" किंतु फौरन भगवान् ईसाने अपने मनका तोल संभाला व कहा—"अच्छा, जो तेरी मर्जी, तेरी ही इच्छा पूर्ण होने दे। इन लोगोंको क्षमा कर—ये नहीं जानते कि ये क्या कर रहे हैं।" हजरत ईसाके उस उदाहरणमें बड़ा रहस्य भरा हुआ है। देहसे आत्माको कितना अलग करना चाहिए, इसका यह चिह्न है। कहांतक मंजिल तय करना चाहिए, कहांतक वह तय की जा सकती है, यह ईसामसीहके जीवनसे मालूम हो जाता है। देह एक कवच, एक छिलकेकी तरह अलग हो रहा है—यहांतक मंजिल आ पहुंची है। जब-जब आत्माको देहसे अलग करनेका विचार मेरे मनमें आता है, तब-तब ईसामसीहका यह जीवन यह दृश्य मेरी आंखोंके सामने आ जाता है। देहसे अपनी साफ पृथक्ताका, उसका संबंध टूटने जैसा हो जानेका नमूना ईसामसीहका जीवन है।

देह व आत्माका यह पृथक्करण तबतक शक्य नहीं है, जबतक सत्य-असत्यका विवेक न किया जाय। यह विवेक, यह ज्ञान हमारी रग-रगमें व्याप्त हो जाना चाहिए। ज्ञानका अर्थ हम करते हैं 'जानना', परंतु बुद्धिसे जानना ज्ञान नहीं है। मुंहमें कौर डाल लेना भोजन कर लेना नहीं है। मुंहका कौर चबाकर गलेमें जाना चाहिए व वहांसे पेटमें जाकर पचन होकर उसका रस-रक्त सारे शरीरमें पहुंचकर पुष्टि मिलनी चाहिए। तभी वह सच्चा भोजन होगा। उसी तरह कोरे बुद्धिगत ज्ञानसे काम नहीं चल सकता। वह जानकारी, वह ज्ञान, सारे जीवनमें व्याप्त होना चाहिए, हृदयमें संचारित होना चाहिए। हमारे हाथ, पांव, आंख आदि इंद्रियोंके द्वारा वह ज्ञान प्रकट होना चाहिए। ऐसी स्थिति हो जानी चाहिए कि सारी ज्ञानेंद्रियां व कर्मेंद्रियां विचारपूर्वक

ही सब कर्म कर रही हैं। इसलिए इस तेरहवें अध्यायमें भगवान्ने ज्ञानकी बहुत बढ़िया व्याख्या की है। स्थितप्रज्ञके लक्षणकी तरह ही ज्ञानके ये लक्षण हैं :

'नम्रता, दम्भशून्यत्व, अहिंसा, ऋजुता, क्षमा'

आदि बीस गुण भगवान्ने बताये हैं। वे केवल यह कहकर नहीं रुके कि इन गुणोंको ज्ञान कहते हैं, बल्कि यह भी साफ तौरपर बताया गया है कि इसके विपरीत जो कुछ है, वह अज्ञान है। ज्ञानकी जो साधना बताई उसीका अर्थ है ज्ञान। सुकरात कहता है कि सद्गुणको ही मैं ज्ञान मानता हूं। साधना व साध्य दोनों एकरूप ही हैं।

गीताके इन बीस साधनोंको ज्ञानदेवने अठारह ही कर दिया है। उन्होंने इनका वर्णन बड़ी हार्दिकतासे किया है। इन गुणोंसे संबंध रखनेवाले केवल पांच ही श्लोक भगवद्गीतामें हैं; परंतु ज्ञानदेवने अपनी ज्ञानेश्वरीमें इनपर सातसौ ओवियां (एक छंद) लिखी हैं। वे इस बातके लिए बहुत तृषित थे कि समाजमें सद्गुणोंका विकास हो, सत्य-स्वरूप परमेश्वरकी महिमा फैले। इन गुणोंका वर्णन करते हुए उन्होंने अपना सारा अनुभव उन ओवियोंमें उंडेल दिया है। मराठी भाषाके पाठकोंपर उनका यह अनंत उपकार है। ज्ञानदेवके रोम-रोममें ये गुण व्याप्त थे। भैंसेको जो चाबुक लगाया गया उसका निशान ज्ञानदेवकी पीठपर उठ आया। भूत-मात्रक प्रति इतनी समवेदना उनमें थी। ज्ञानदेवके ऐसे करुणापूर्ण हृदयसे 'ज्ञानेश्वरी' प्रकट हुई है। इन गुणोंका उन्होंने विवेचन किया। उन्होंने जो गुण वर्णन किया है वह पढ़ने योग्य है, मनन करने व हृदयमें अंकित कर लेने योग्य है। ज्ञानदेव की यह मधुर भाषा मैं चख सका—इसके लिए मैं अपनेको धन्य मानता हूं। उनकी मधुर भाषा मेरे मुंहमें आकर बैठ जाय, इसके लिए यदि मुझे फिरसे जन्म लेना पड़े तो मैं धन्यता ही अनुभव करूंगा। अस्तु। सार यह कि—

उत्तरोत्तर अपना विकास करते हुए आत्माको देहसे पृथक् समझते हुए सब लोग अपने जीवनको परमेश्वरमय बनानेका यत्न करें।

रविवार, १५–५–३२

चौदहवां अध्याय

(७५)

भाइयो, आजका चौदहवां अध्याय एक अर्थमें पिछले अध्यायका पूरक ही है। सच पूछो तो आत्माको कुछ करनेकी आवश्यकता नहीं है। वह स्वयंपूर्ण है। अपने आत्माकी गति स्वभावतः ही ऊर्ध्वगामी है; परंतु जैसे किसी वस्तुके साथ कोई भारी वजन बांध दिया जाता है तो जैसे वह नीचे खिचती चली जाती है, उसी तरह शरीरका यह बोझ आत्माको नीचे खींच ले जाता है। पिछले अध्यायमें हमने यह देखा कि किसी भी उपायसे यदि देह और आत्माको हम पृथक् कर सकें तो हमारी प्रगति हो सकती है। यह बात भले ही कठिन हो, पर इसका फल भी महान् निकलेगा। आत्माके पांवकी यह देहरूपी बेड़ी यदि हम काट सकें तो हम बड़े आनंदका अनुभव करेंगे। फिर मनुष्य देहके दुःखसे दुःखी न होगा। वह स्वतंत्र हो जायगा। यदि इस देहरूपी वस्तुको मनुष्य जीत ले तो फिर संसारमें कौन उसपर सत्ता चला सकता है? जो अपनेपर राज्य करता है, वह विश्वका सम्राट् हो जाता है। अतः देहकी जो सत्ता आत्मापर हो गई है, उसे हटा दो। देहके ये जो दुःख-सुख हैं सब विदेशी हैं, सब विजातीय हैं। आत्मासे उनका तिलमात्र भी संबंध नहीं है।

इन सब दुःखोंको किस अंशतक देहसे अलग किया जाय, इसकी कल्पना मैंने भगवान् ईसाके उदाहरण द्वारा बताई है। उन्होंने दिखा दिया है कि देहके टूट पड़ते हुए भी किस तरह मनको शांत और आनंदमय रखा जा सकता है; परंतु इस तरह देहको आत्मासे अलग रखना जहां एक ओर विवेकका काम है, तहां दूसरी ओर निग्रहका भी काम है।

"विवेकके साथ वैराग्यका बल।"

ऐसा तुकारामने कहा है। विवेक और वैराग्य दोनोंकी जरूरत है। वैराग्य ही एक प्रकारका निग्रह, तितिक्षा है। इस चौदहवें अध्यायमें

निग्रहकी दिशा बताई गई है। नावको खेनेका काम तो बल्लियां करती हैं, परंतु दिशा दिखानेका काम पतवार करता है। बल्लियां और पतवार, दोनों चाहिए। उसी तरह देहके सुख-दुःखोंसे आत्माको अलग रखनेके लिए विवेक और निग्रह, दोनोंकी आवश्यकता है।

वैद्य जिस तरह मनुष्यकी प्रकृति देखकर दवा बताता है, उसी तरह भगवान्ने चौदहवें अध्यायमें तमाम प्रकृतिकी परीक्षा करके, पृथक्करण करके, कौन-कौन-सी बीमारियां हैं, सो बताया है। इसमें प्रकृतिके ठीक-ठीक विभाग किये गए हैं। राजनीति-शास्त्रमें विभाजनका एक बड़ा सूत्र है। जो शत्रु सामने है, उसके दलमें यदि विभाजन-भेद किये जा सकें तो वह जल्दी पराजित किया जा सकता है। भगवान्ने यहां ऐसा ही किया है।

मेरी, आपकी, सब जीवोंकी, सारे चराचरकी जो प्रकृति है उसमें तीन गुण हैं। जिस तरह आयुर्वेदमें कफ, पित्त, वात है, उसी तरह यहां सत्त्व, रज, तम ये तीन गुण प्रकृतिमें भरे हुए हैं। सब जगह इन्हीं तीन गुणोंका मसाला भरा हुआ है। कहीं कम है तो कहीं ज्यादा। इतना ही फर्क है। जब इन तीनोंसे आत्माको अलग करेंगे, तब देहसे आत्माको अलग किया जा सकेगा। देहसे आत्माको अलहदा करनेका तरीका ही है इन तीन गुणोंकी परीक्षा करके उन्हें जीत लेना। निग्रहके द्वारा एक-एक वस्तुको जीतकर अंतको मुख्य वस्तुतक जा पहुंचना है।

(७६)

पहले हम तमोगुणको लें। वर्तमान समाज-स्थितिमें हमें तमोगुणके बहुत ही भयानक परिणाम दिखाई देते हैं। इसका मुख्य परिणाम है आलस्य। इसीसे फिर नींद व प्रमादका जन्म होता है। इन तीन बातोंको जीत लिया तो फिर तमोगुणको जीत लिया ही समझो। इनमें आलस्य तो बड़ा ही भयंकर है। अच्छे-से-अच्छे आदमी भी इस आलस्यसे बेकार हो जाते हैं। समाजकी सारी सुख-शांतिको मिटा डालनेवाला यह रिपु है। यह छोटेसे लेकर बड़ेतक सबको बिगाड़ देता है। इस शत्रुने सबको ग्रसित कर रखा है। वह हमपर हावी होनेके लिए घात लगाकर बैठा ही रहता है। जरा-सा मौका मिला कि भीतर घुसा ही। जरा खाना ज्यादा खाया कि उसने लेटनेपर मजबूर किया। जहां जरा ज्यादा लेटे

कि मानो आंखोंसे आलस टपकता है। जबतक इसे न पछाड़ा तबतक सब प्रयत्न व्यर्थ हैं। मगर हम तो आलस्यके लिए उत्सुक रहते हैं। इच्छा रहती है कि एक बार दिन-रात मेहनत करके रुपया इकट्ठा कर लें तो फिर जिंदगी चैनसे कटेगी। बहुत रुपये कमानेका अर्थ है आगेके लिए आलस्यकी तैयारी कर रखना। हम लोग आम तौरपर मानते हैं कि बुढ़ापेमें आराम की जरूरत रहती है; परंतु यह धारणा गलत है। यदि हम जीवनमें ठीक तरहसे रहें तो बुढ़ापेमें भी काम करते रहेंगे, बल्कि अधिक अनुभवी हो जानेसे बुढ़ापेमें ज्यादा उपयोगी साबित होंगे, और उसी समय, कहते हैं कि आराम करेंगे!

ऐसी सावधानी रखनी चाहिए कि जिससे आलस्यको बिलकुल ही मौका न मिले। नल राजा इतना महान्, परंतु पांव धोते हुए जरा-सा हिस्सा कोरा रह गया, तो कहते हैं कि उसीमें कलि भीतर पैठ गया! नल राजा तो था अत्यंत शुद्ध, सब तरहसे स्वच्छ, परंतु जरा-सा शरीर सूखा रह गया, इतना आलस्य रह गया तो फौरन 'कलि' भीतर घुस गया। हमारा तो सारा-का-सारा ही शरीर खुला पड़ा है। कहीं से भी आलस्य हमारे अंदर घुस सकता है। शरीर अलसाया कि मन-बुद्धि भी अलसा जाते हैं। आजके समाजकी रचना इस आलस्यपर ही खड़ी है। इससे अनंत दुःख उत्पन्न हो गये हैं। यदि हम इस आलस्यको निकाल सकें तो सब नहीं, तो बहुतेरे दुःखोंको हम दूर कर सकेंगे।

आजकल चारों ओर समाज-सुधारकी चर्चा चलती है। साधारण आदमीको भी कम-से-कम इतना सुख मिलना चाहिए, और इसके लिए अमुक तरहकी समाज-रचना होनी चाहिए आदि चर्चा चलती है। एक ओर अतिशय सुख तो दूसरी ओर अतिशय दुःख है। एक ओर संपत्तिका ढेर तो दूसरी ओर दरिद्रताकी गहरी खाई! यह सामाजिक विषमता कैसे दूर हो? तमाम आवश्यक सुख सहज तौरपर प्राप्त करनेका एक ही उपाय है, और वह है, आलस्य छोड़कर सब श्रम करनेको तैयार हों। मुख्य दुःख हमारे आलस्यके ही कारण है। यदि सब लोग शारीरिक श्रम करनेका निश्चय कर लें तो यह दुःख दूर हो जाय।

परंतु आज समाजमें हम देखते क्या हैं? एक ओर जंग चढ़-चढ़कर

निरुपयोगी हुए लोग दीखते हैं। श्रीमानोंकी इंद्रियां जंग खा रही हैं। उनके शरीरका उपयोग ही नहीं किया जा रहा है। दूसरी ओर इतना काम करना पड़ रहा है कि सारा शरीर घिस-घिसकर गल गया है। सारे समाजमें शारीरिक श्रमसे बचनेकी प्रवृत्ति हो रही है। जो मर-पच-कर काम करते हैं, वे खुशी-खुशी ऐसा नहीं करते। बदर्जे मजबूरी करते हैं। पढ़े-लिखे समझदार लोग श्रमसे बचनेके लिए तरह-तरहके बहाने बनाते हैं। कोई कहते हैं—"फिजूल क्यों शारीरिक श्रममें समय गंवावें?" परंतु कोई ऐसा नहीं कहता—"यह नींद क्यों फिजूल लें ?" "भोजनमें समय क्यों बरबाद करें ?" भूख लगती है तो खाते हैं। नींद आती है तो सो जाते हैं। परंतु जब शारीरिक कामका सवाल आता है तो अलबत्ते हम कहते हैं—"फिजूल इसमें क्यों समय बरबाद करें ? क्यों अपने शरीरको इतने कष्टमें डालें ? हम तो मानसिक श्रम जो कर लेते हैं !" तो जनाब ! यदि काम मानसिक करते हैं तो फिर खाना भी मानसिक खा लीजिए व नींद भी मानसिक ले लीजिए ! मनोमय नींद व मनोमय भोजन करनेकी तजवीज कर लीजिए न !

इस तरह समाजमें दो तरहके लोग हो गए हैं। एक तो वे, जो दिन-रात पिसते-मरते हैं, दूसरे वे, जिन्हें हाथतक हिलाना नहीं पड़ता। मेरे एक मित्रने एक रोज कहा—कुछ रुण्ड व कुछ मुण्ड। एक ओर धड़ है, दूसरी ओर सिर। धड़ सिर्फ खपता रहे, सिर सिर्फ विचार करता रहे। इस तरह समाजमें ये राहु-केतु, रुण्ड व मुण्ड दो प्रकार के हो गये हैं। परंतु यदि सचमुच ही ये रुंड-मुंड होते तो कोई बात नहीं थी। तब अंध-पंगु न्यायसे ही कोई व्यवस्था हो सकती थी। अंधेको लंगड़ा रास्ता दिखावे, लंगड़ेको अंधा कंधेपर बिठा ले। परंतु इन रुंड-मुंडोंके ऐसे अलग टुकड़े, समूह नहीं हैं। प्रत्येकमें रुंड व मुंड दोनों हैं। ये जुड़े रुंड-मुंड सब जगह हैं। इससे और मजबूरी है। अतः प्रत्येकको चाहिए कि आलस्यसे बाज आवे।

आलस्य छोड़नेके लिए शारीरिक श्रम करना चाहिए। आलस्यको जीतनेका एक यही उपाय है। यदि इससे काम न लिया गया तो इसकी सजा भी कुदरतकी ओरसे मिले बिना न रहेगी। बीमारियोंके या किसी और कष्टके रूपमें वह सजा भोगनी ही पड़ेगी। जबकि शरीर हमको

मिला है तो श्रम हमें करना ही होगा। शरीर-श्रममें जो समय लगता है, वह व्यर्थ नहीं जाता। इसका बदला जरूर मिलता है। उत्तम आरोग्य प्राप्त होता है। बुद्धि सतेज, तीव्र और शुद्ध होती है। बहुतेरे विचारकोंके विचारोंमें भी उनके पेट-दर्द और सिर-दर्दका प्रतिबिंब आ जाता है। विचारशील लोग यदि धूपमें, खुली हवामें, कुदरतकी गोद में मेहनत करेंगे तो उनके विचार भी तेजस्वी हो जायंगे। शारीरिक रोगका जैसे मनपर असर होता है, वैसे ही शारीरिक आरोग्यका भी होता है, यह अनुभवसिद्ध है। बादमें तपेदिक हो जानेपर भुवाली या और कहीं पहाड़पर शुद्ध हवामें जाने या सूर्य-किरणोंका प्रयोग करनेके पहले ही यदि बाहर कुदाली लेकर खोदने, बागमें पेड़ोंको पानी पिलाने और लकड़ी काटनेका काम करें तो क्या बुरा?

(७७)

आलस्यपर विजय प्राप्त करना एक बात हुई। दूसरी बात है नींदको जीतना। नींद वस्तुतः पवित्र वस्तु है। सेवा करके थके हुए साधु-संतोंकी नींद एक योग ही है। इस प्रकारकी शांत और गहरी नींद महाभाग्यवानोंको ही मिलती है। नींद गहरी, गाढ़ी होनी चाहिए। नींदका महत्त्व लंबाई-चौड़ाईपर नहीं है। बिछौना कितना लंबा था और उसपर मनुष्य कितनी देर पड़ा रहा, इस बातपर नींद अवलंबित नहीं है। कुआं जितना गहरा होगा, उतना ही उसका पानी अधिक साफ और मीठा होगा। उसी तरह नींद चाहे थोड़ी हो, पर यदि गहरी हो तो उससे उत्तम काम बनता है। मन लगाकर किया आधा घंटा पठन, चंचलतासे किये गए तीन घंटेके पठनसे ज्यादा फलदायी होता है। यही बात नींदकी है। लंबी नींद अन्त में हितकर ही होती है, ऐसा नहीं कह सकते। बीमार चौबीसों घंटे बिस्तरपर पड़ा रहता है। बिस्तरकी और उसकी लगातार भेंट है, लेकिन नींदसे भेंट ही नहीं। सच्ची नींद वह जो गहरी व निःस्वप्न हो। मरनेपर यम-यातना जो कुछ होती हो सो हो, परन्तु जिसे नींद अच्छी नहीं आती, दुःस्वप्न आते रहते हैं, उसकी यातना का हाल मत पूछिए। वेदमें ऋषि त्रस्त होकर कहते हैं—

"परा दुःस्वप्न्यं सुव"

'ऐसी दुष्ट नींद मुझे नहीं चाहिए।' नींद आराम के लिए होती है, परन्तु यदि उसमें भी तरह-तरहके सपने व विचार पिंड न छोड़ते हों तो फिर वहां आराम कहां रहा ?

तो गहरी व गाढ़ी नींद आवे कैसे ? जो उपाय आलस्यके लिए बताया है, वही नींदके लिए भी है। शरीरसे सतत काम लेते रहना चाहिए। फिर बिछौनेपर पड़ते ही मनुष्य मुर्देकी तरह सोयेगा। नींद एक छोटी-सी मृत्यु ही है। ऐसी सुन्दर मृत्यु आनेके लिए दिनमें पूर्व तैयारी अच्छी होनी चाहिए। शरीर थककर चूर हो जाना चाहिए। अंग्रेज कवि शेक्सयिपरने कहा है—"राजाके सिरपर तो मुकुट है, परन्तु सिरमें चिंता है!" उस राजाको नींद नहीं आती। उसका एक कारण यह है कि वह शरीरिक श्रम नहीं करता है। जो जागृतिमें सोता है, वह सोनेके समय जगता रहेगा। दिन में बुद्धि व शरीरका उपयोग न करना नींद नहीं तो क्या है ? फिर नींदके समय बुद्धि विचार करती फिरती है और शरीर भी वास्तविक निद्रा-सुखसे वंचित रहता है। फिर दीर्घ समयतक सोते पड़े रहते हैं। जिस जीवनमें परम पुरुषार्थ साधना है, उसे यदि नींदने खा डाला तो पुरुषार्थकी नौबत आयगी कब ? आधा जीवन यदि नींद में ही चला गया तो फिर हम क्या हासिल कर सकेंगे ?

जब बहुत-सा समय नींदमें ही चला जाता है तो फिर तमोगुणका तीसरा दोष—'प्रमाद' अपने-आप होने लगता है। निद्राशील मनुष्यका चित्त दक्ष और सावधान नहीं रह सकता। उससे अनवधान उत्पन्न होता है। अधिक नींद से फिर आलस्य बढ़ता है और आलस्यसे विस्मृति। विस्मृति परमार्थके लिए नाशक हो जाती है। व्यवहारमें भी विस्मृतिसे हानि होती है; परन्तु हमारे समाजमें तो विस्मृति एक स्वाभाविक बात हो बैठी है। विस्मृति कोई बड़ा दोष है, ऐसा किसीको मालूम ही नहीं होता। किसीसे मिलना तय करते हैं, परन्तु फिर जाते नहीं। पूछनेपर कहते हैं—"अरे भाई, मैं तो भूल ही गया।" ऐसा कहनेवालेको भी कोई बड़ी भूल हो गई है, ऐसा नहीं लगता। और सुननेवाला भी संतुष्ट हो जाता है। विस्मरणका कोई इलाज ही नहीं है, ऐसा लोगोंका खयाल बना दीखता है; परन्तु यह गफलत, क्या परमार्थमें व क्या प्रपंच-में, दोनों जगह, हानिकर ही है। वास्तव में विस्मरण एक बड़ा रोग

है। उससे बुद्धिमें घुन लग जाती है। जीवन खोखला हो जाता है।

मनका आलस्य विस्मरण का कारण है। मन यदि जाग्रत रहे तो वह भूलेगा नहीं। लेटे रहनेवाले मनको विस्मरणरूपी बीमारी हुए बिना नहीं रहती। इसीलिए भगवान् बुद्ध कहते हैं—

"पमादो मच्चुनो पदं"

प्रमाद, विस्मरण याने मृत्यु ही है। इस प्रमादपर विजय पानेके लिए आलस्य व निद्राको वशीभूत कीजिए। शरीर-श्रम कीजिए व सतत सावधान रहिए। जो-जो काम करने हों, उन्हें विचारपूर्वक कीजिए। यों ही बिना विचारे कोई काम नहीं होना चाहिए। कृतिके पहले विचार, बादमें भी विचार। आगे-पीछे सर्वत्र विचाररूपी परमेश्वर खड़ा रहना चाहिए। जब ऐसी आदत डाल लेंगे तो फिर अनवधान-रूपी रोग दूर हो जायगा। सारे समयको ठीक तौरसे बांधे रखिये। एक-एक क्षणका हिसाब रखिये तो फिर आलस्यको घुसनेकी जगह नहीं रहेगी। इस रीतिसे सारे तमोगुणको जीतनेका प्रयत्न करना चाहिए।

(७८)

रजोगुणपर मोर्चा लगाना है। रजोगुण भी एक भयानक शत्रु है। यह तमोगुणका ही दूसरा पहलू है, बल्कि यही कहना चाहिए कि दोनों पर्यायवाची शब्द हैं। जब शरीर बहुत सो चुकता है तो वह हलचल करने लगता है और जो शरीर बहुत दौड़-धूप कर चुकता है, वह बिस्तरपर पड़ना चाहता है। तमोगुणसे रजोगुणकी व रजोगुणसे तमोगुणकी प्राप्ति होती है। जहां एक है, वहां दूसरा आया ही समझिए। जिस तरह रोटी एक ओर आग व दूसरी ओर भूभरमें फंस जाती है, उसी तरह मनुष्यके आगे-पीछे ये रजोगुण-तमोगुण लगे ही रहते हैं। रजोगुण कहता है—"इधर आओ, तुम्हें तमोगुणकी तरफ उड़ाता हूं।" तमोगुण कहता है—"मेरी तरफ आओ कि मैंने रजोगुणकी ओर ढकेला।" इस प्रकार ये रजोगुण व तमोगुण परस्पर-सहायक होकर मनुष्यका नाश कर डालते हैं। फुटबालका जन्म जैसे चारों ओरसे लातें-ठोकरें खानेके लिए है, वैसे ही मनुष्यका जीवन रजोगुण व तमोगुणकी ठोकर खानेमें ही जाता है।

रजोगुणका प्रधान लक्षण है नाना प्रकारके काम करनेकी लालसा, अमानुष कर्म करनेकी अपार आसक्ति। रजोगुणके द्वारा अपरंपार कर्म-संग लागू होता है। लोभात्मक कर्मासक्ति उत्पन्न होती है। फिर वासना-विकारोंका वेग संभलने नहीं पाता। इधरका पहाड़ उधर ले जाकर उधरका खड्डा भर डालनेकी इच्छा होती है। इधर समुद्रमें मिट्टी डालकर उसे भर डालने व उधर सहाराके रेगिस्तानमें पानी छोड़कर समुद्र बनानेकी प्रेरणा होती है। इधर स्वेज नहर खोदूं, उधर पनामा नहर बनाऊं, ऐसी उधेड़-बुन शुरू होती है। जोड़-तोड़के सिवा चैन नहीं पड़ती। छोटा बच्चा जैसे एक कतरनको लेकर उसे फाड़ता है, फिर कुछ बनाता है, ऐसी ही यह क्रिया है। इसमें यह मिलाओ, उसमें वह डुबाओ, उसे यों उड़ाओ, इसे यों बनाओ—ऐसे ही अनन्त खेल रजोगुणके होते हैं। पंछी आकाशमें उड़ता है, हम भी आकाशमें क्यों न उड़ें? मछली पानीमें रहती है, हम भी पनडुब्बी बनाकर जलमें क्यों न रहें? इस तरह, नर-देहमें आकर पशु-पक्षीकी बराबरी करनेमें हमें कृतार्थता मालूम होती है। पर-काया-प्रवेशकी तथा दूसरे देहों के आश्चर्योंका अनुभव करनेकी हविस उसे नर-देहमें सूझती है। कोई कहता है—चलो, मंगलकी सैर कर आवें व वहांकी आबादी देख आवें। चित्त एक-सा भ्रमण करता रहता है, मानो अनेक वासनाओंका भूत ही हमारे शरीरमें बैठ गया है। जो जहां है, वह वहां देखा ही नहीं जाता। उथल-पुथल होनी चाहिए। उसे लगता है—मैं इतना बड़ा मनुष्य-जीव, मेरे जीवित रहते यह सृष्टि जैसी-की-तैसी कैसे रहे? जैसे कोई पहलवान होता है—शक्ति उसके रोम-रोमसे फूटकर निकलना चाहती है, उसे हजम करनेके लिए वह कभी दीवारसे टक्कर लेता है तो कभी पेड़को धक्का मारता है। रजोगुणकी ऐसी उमंगें होती हैं। इसके प्रभावमें आकर मनुष्य धरतीको गहरी खोदता है, उसके पेटमेंसे कुछ पत्थर निकलता है व उन्हें हीरा, माणिक, जवाहर नाम देता है। इसी उमंगके वशीभूत होकर वह समुद्रमें गोता लगाता है व उसके तलेका कूड़ा-करकट ऊपर लाकर उसे मोती नाम देता है, परन्तु मोतीमें छेद नहीं होता, अतः उनमें छेद करता है। अब वे मोती पहनें कहां? तो सुनारसे नाक-कान छिदवाते हैं।

मनुष्य यह सब उखाड़-पछाड़ क्यों करता है ? यह सारा रजोगुणका प्रभाव है।

रजोगुणका दूसरा परिणाम यह होता है कि मनुष्यमें स्थिरता नहीं रहती । रजोगुण तत्काल फल चाहता है । अतः जरा-सी विघ्न-बाधा आते ही वह अंगीकृत मार्ग छोड़ देता है। रजोगुणी मनुष्य सतत इसे ले, उसे छोड़, ऐसा करता रहता है। उसका चुनाव रोज बदलता रहता है। इसका परिणाम अन्तमें यह आता है कि उसके पल्ले कुछ भी नहीं पड़ता।

"राजसं चलमध्रुवम्"

रजोगुणीकी सारी कृति चंचल व अनिश्चित रहती है। छोटे बच्चे गेहूं बोते हैं और उसी समय खोदकर देखते हैं—वैसा ही हाल रजोगुणी मनुष्यका होता है। झट-पट सबकुछ उसके पल्ले पड़ना चाहिए। वह अधीर हो उठता है। संयम खो देता है। एक जगह पांव जमाना वह जानता ही नहीं। यहां जरा-सा काम किया, वहां कुछ प्रसिद्धि हुई कि चला तीसरी जगह। आज मदरासमें मानपत्र, कल कलकत्तेमें व परसों बंबई-नागपुरमें ! जितनी म्युनिसिपैलिटियां हों उतने ही मानपत्र लेनेकी उसे लालसा रहती है। मान-ही-मान उसे सब जगह दीखता है। एक जगह जमकर काम करनेकी उसे आदत ही नहीं होती। इससे रजोगुणी मनुष्य की स्थिति बड़ी भयानक हो जाती है।

रजोगुणके प्रभाव से मनुष्य विविध धंधों—कार्योंमें टांग अड़ाता रहता है। स्वधर्म जैसा उसके लिए कुछ नहीं रहता। वास्तविक स्वधर्माचरणका अर्थ है इतर नाना कार्योंका त्याग। गीताका कर्मयोग रजोगुणका रामबाण उपाय है। रजोगुणमें सबकुछ चंचल है। पर्वतके शिखरपर गिरकर पानी यदि विविध दिशाओंमें बहने लगा तो फिर वह कहींका नहीं रहता। सारा-का-सारा बिखरकर बेकार हो जाता है, परन्तु वही यदि एक दिशामें बहेगा तो उसकी आगे चलकर एक नदी हो जायगी। उसमें एक शक्ति उत्पन्न होगी। देशको उससे लाभ पहुंचेगा। उसी तरह मनुष्य यदि अपनी सारी शक्ति विविध उद्योगोंमें न लगाकर उसे एकत्र करके एक ही कार्यमें सुव्यवस्थित रूपसे लगावे तो ही उसके हाथसे कुछ कार्य होगा। इसलिए स्वधर्मका बड़ा महत्त्व है।

स्वधर्म का सतत चिन्तन करके उसीमें सारी शक्ति लगानी चाहिए, दूसरी बातकी ओर ध्यान ही न जाने पावे। यही स्वधर्मकी कसौटी है। कर्मयोग यानी कोई अति अथवा भारी कर्म नहीं है। केवल अमित कर्म करनेका नाम कर्मयोग नहीं है। गीताका कर्मयोग कुछ और ही चीज है। उसकी विशेषता यह है—फलकी ओर ध्यान न देते हुए केवल स्वभाव-प्राप्त अपरिहार्य स्वधर्मका पालन करना और उसके द्वारा चित्त-शुद्धि करते रहना, नहीं तो यों सृष्टिमें एक-सा कर्म-कलाप होता ही रहता है। कर्मयोगके मानी हैं विशिष्ट मनोवृत्तिसे समस्त कर्म करना। खेतमें बीज बोना और योंही मुठ्ठीभर अनाज लेकर कहीं फेंक देना—दोनों बिलकुल अलग-अलग बातें हैं। दोनोंमें बड़ा अन्तर है। हम जानते हैं कि अनाज बोनेसे कितना फल मिलता है और योंही उसे फेंक देनेसे कितना नुकसान होता है। गीता जिस कर्मका उपदेश देती है वह बुआईकी तरह है। ऐसे स्वधर्म रूप कर्त्तव्यमें अमित शक्ति रहती है। वहां तमाम श्रम नाकाफी होते हैं। अतः उसमें भारी दौड़-धूपके लिए कोई अवसर ही नहीं रहता।

(७९)

तो यह स्वधर्म निश्चित कैसे किया जाय? ऐसा कोई प्रश्न करें तो उसका सरल उत्तर है—'वह स्वाभाविक होता है।' स्वधर्म सहज होता है। उसे खोजनेकी कल्पना ही विचित्र मालूम होती है। मनुष्य के जन्मके साथ ही उसका स्वधर्म भी जन्मा है। बच्चेके लिए जैसे उसकी मां तलाश नहीं करनी पड़ती, वैसे ही स्वधर्म भी किसीको तलाशना नहीं पड़ता। वह तो पहलेसे ही प्राप्त है। हमारे जन्मके पहले भी दुनिया थी। हमारे बाद भी वह रहेगी। हमारे पीछे भी एक बड़ा प्रवाह था और आगे भी वह है ही—ऐसे प्रवाहमें हमारा जन्म हुआ है। जिन मां-बापके यहां मैंने जन्म लिया है उनकी सेवा, जिन अड़ोसी-पड़ोसीमें मेरा घर है उनकी सेवा—ये दो कर्म मुझे निसर्गतः ही मिले हैं। फिर मेरी वृत्तियां तो मेरे नित्य अनुभवकी ही हैं न? मुझे भूख लगती है, प्यास लगती है। अतः भूखेको भोजन देना, प्यासेको पानी पिलाना यह धर्म मुझे अपने-आप प्राप्त हो गया। इस प्रकार यह सेवा रूप, भूतदया रूप स्वधर्म हमें खोजना नहीं पड़ता। जहां कहीं स्वधर्मकी खोज हो

रही हो वहां निश्चित समझ लेना चाहिए कि कुछ-न-कुछ परधर्म अथवा अधर्म हो रहा है ।

सेवकको सेवा खोजने कहीं जाना नहीं पड़ता । वह अपने-आप उसके पास आ जाती है । परन्तु एक बात ध्यानमें रखनी चाहिए कि जो अनायास प्राप्त हो वह सब सदा धर्म्य ही होता हो, ऐसी बात नहीं है । किसी किसानने मुझे रातको कहा—"चलो, वह बाड़ चार-पांच हाथ आगे हटा दें । मेरे खेतकी सींव बढ़ जायगी । अभी कोई है नहीं, बिना गुलगपाड़ेके ही सब काम हो जायगा ।" यद्यपि यह काम मुझे अपने पड़ोसीने बताया है, वह सहज प्राप्त है, तो भी उसमें असत्यका आश्रय होनेके कारण वह मेरा कर्त्तव्य नहीं ठहरता ।

चातुर्वर्ण्य-व्यवस्था जो मुझे मधुर मालूम होती है उसका कारण यही है कि उसमें स्वाभाविकता व धर्म दोनों हैं । इस स्वधर्मको छोड़नेसे काम नहीं चल सकता । जो मां-बाप मुझे प्राप्त हुए हैं, वे ही मेरे मां-बाप रहेंगे । यदि मैं यह कहूं कि वे मुझे पसन्द नहीं हैं तो कैसे काम चलेगा ? मां-बाप का पेशा स्वभावतः ही लड़केको विरासतमें मिलता है । जो पेशा पूर्वापरसे चला आया है, वह यदि नीति-विरुद्ध न हो तो उसीको करना, उसी काम या उद्योगको जारी रखना चातुर्वर्ण्यकी एक बड़ी विशेषता है । यह वर्ण-व्यवस्था आज अस्तव्यस्त हो गई है । उसका पालन आज बहुत कठिन हो गया है, परन्तु यदि यह ठीक ढंगपर लाई जा सके तो बहुत अच्छा होगा, नहीं तो आज शुरूके पच्चीस-तीस साल तो नये काम, नये पेशेको सीखनेमें ही चले जाते हैं । काम सीख लेनेपर फिर मनुष्य अपने लिए सेवा-क्षेत्र, कार्य-क्षेत्र तलाशता है । इस तरह शुरूके पच्चीस सालतक तो वह सीखता ही रहता है । इस शिक्षाका उसके जीवनसे कोई संबंध नहीं रहता । कहते हैं, वह भावी जीवनकी तैयारी कर रहा है । शिक्षा प्राप्त करते समय मानो वह जगता ही न हो । जीना बाद में है । कहते हैं, पहले सब सीखना और बादमें जीना । मानो जीना व सीखना, ये दोनों चीजें अलग-अलग कर दी गई हों । जहां जीनेका संबंध नहीं, उसे मरना ही तो कहेंगे ! हिंदुस्तानकी औसत उम्र तईस साल है और पच्चीस सालतक तो यह तैयारी ही करता रहता है । इस तरह नवीन काम-धंधा सीखनेमें ही दिन चले जाते हैं, तब कहीं

उस काम-धंधेकी शुरुआत होती है। इससे उमंगके व महत्त्वके साल फजूल ही चले जाते हैं। जो उत्साह, जो उमंग जन-सेवामें खर्च करके जीवन सार्थक किया जा सकता है, वह योंही व्यर्थ चले जाता है। जीवन कोई हँसी-खेल नहीं है। पर दुःखकी बात है कि जीवनका पहला बेशकीमती भाग तो जीवन का काम-धंधा खोजनेमें ही चला जाता है। हिंदू-धर्मने इसीलिए वर्ण-धर्मकी तरकीब निकाली है।

परंतु चातुर्वर्ण्य-व्यवस्थाको एक ओर रख दें तो भी सभी राष्ट्रोंमें सर्वत्र, जहां यह व्यवस्था नहीं है वहां भी, स्वधर्म सबको प्राप्त ही है। हम सब इस प्रवाहमें किसी एक परिस्थितिको साथ लेकर जन्मे हैं; इसीलिए स्वधर्माचरणरूपी कर्त्तव्य अपने-आप ही हमें प्राप्त रहता है। अतः जो दूरवर्त्ती कर्त्तव्य हैं—उन्हें वास्तवमें कर्त्तव्य कहना ठीक नहीं—उन्हें उनके कितने ही अच्छे दिखाई देनेपर भी ग्रहण न करना चाहिए। बहुत बार दूरके ढोल सुहावने लगते हैं। मनुष्य दूरकी बातोंपर लट्टू हो जाता है। मनुष्य जहां खड़ा है, वहां भी गहरा कुहरा फैला रहता है, परन्तु पासका घना कुहरा उसे नहीं दीखता। वह दूर अंगुली दिखाकर कहता है—"वहां बड़ा कुहरा फैला है।" उधरका आदमी इसकी ओर अंगुली बताकर कहता है—"उधर घना कुहरा है।" कुहरा सब जगह है, परन्तु पासका दिखाई नहीं देता। मनुष्यको दूरकी बातोंमें आकर्षण दिखाई देता है। नजदीकका कोनेमें पड़ा रहता है और दूरका स्वप्नमें दीखता है, परन्तु यह मोह है। इसे छोड़ना ही चाहिए। प्राप्त स्वधर्म यदि साधारण हो, अपर्याप्त मालूम होता हो, नीरस प्रतीत होता हो, तो भी जो मुझे प्राप्त है, वही भला है। वही मेरे लिए सुन्दर है। जो मनुष्य समुद्रमें डूब रहा हो, उसे कोई टेढ़ा-मेढ़ा और भद्दा-सा लकड़ीका टुकड़ा हाथ आ जाय, वह पालिश किया हुआ चिकना व सुन्दर न हो तो भी वही बचानेवाला है। बढ़ईके कारखानेमें बहुत-से बढ़िया चिकने और बेल-बूटेदार टुकड़े पड़े रहते हैं, परन्तु वे तो हैं कारखानेमें, और यह यहां समुद्रमें डूब रहा है। अतएव जैसे वह बेढंगा लकड़ीका टुकड़ा ही उसका तारक है, उसीको उसे पकड़ लेना चाहिए। उसी तरह जो सेवा मुझे प्राप्त हो गई है, वह कम दर्जेकी मालूम होने पर भी वही मेरे कामकी है। उसीमें मगन हो रहना मुझे शोभा देता है। उसीमें मेरा उद्धार है।

उसको छोड़कर यदि मैं दूसरी सेवा खोजनेके चक्करमें पड़ूंगा तो यह पहली भी चली जायगी और दूसरी हाथ लगनेकी नहीं । इससे मनुष्य सेवा-वृत्तिसे ही दूर भटक जाता है। इसीलिए स्वधर्मरूप कर्त्तव्यमें ही हमें मगन रहना चाहिए ।

जब हम स्वधर्ममें मगन रहने लगते हैं तो रजोगुण फीका पड़ जाता है, क्योंकि तब चित्त एकाग्र हो आता है। वह स्वधर्मको छोड़कर कहीं जाता ही नहीं, इससे चंचल रजोगुण का सारा जोर ही कम पड़ जाता है। नदी जब शांत और गहरी होती है तो कितना ही पानी उसमें बढ़ आये तो भी वह उसे अपने पेटमें समा लेती है। इसी तरह स्वधर्मरूपी नदी मनुष्यका सारा बल, सारा वेग, सारी शक्ति पचा सकती है । स्वधर्ममें जितनी शक्ति लगाओगे, उतनी कम ही है। स्वधर्ममें आप सब शक्ति लगा देंगे तो फिर रजोगुणकी दौड़-धूप करनेवाली वृत्ति नहीं-सी हो जायगी, मानो आपने चंचलताका मुंह ही कुचल दिया। यह रीति है रजोगुणको वशीभूत करनेकी ।

(८०)

अब रहा सत्त्वगुण। इससे बहुत संभलकर रहना चाहिए। इससे आत्माको अलग कैसे करें? बड़े सूक्ष्म विचारकी यह बात है । सत्त्वगुण-को एकदम निर्मूल नहीं करना है। रज-तमका तो पूर्ण उच्छेद ही करना पड़ता है, परन्तु सत्त्वगुणकी भूमिका कुछ अलग है । जब बहुत भीड़ इकट्ठी हो गई हो और उसे तितर-बितर करना हो तो सिपाहियोंको यह हुक्म दिया जाता है कि कमरके ऊपर नहीं, पांवकी तरफ, गोलियां चलाओ। इससे मनुष्य मरता नहीं, घायल हो जाता है। इसी तरह सत्वगुणको घायल कर देना है, मार नहीं डालना है। रजोगुण और तमोगुणके चले जानेपर शुद्ध सत्त्वगुण रह जाता है। जबतक हमारा शरीर कायम है, तबतक हमें किसी-न-किसी भूमिकामें—अवस्थामें रहना ही पड़ेगा । तो फिर रज-तमके चले जानेपर जो सत्त्वगुण रहेगा, उससे अलग रहनेके मानी आखिर क्या हैं ?

जब सत्वगुणका अभिमान हो जाता है, तब वह आत्मा को अपने शुद्ध स्वरूपसे नीचे खींच लाता है । लालटेनकी ज्योतिकी प्रभाको स्वच्छ रूपमें बाहर फैलाना हो तो उसके अन्दरका सारा काजल पोंछ

ही देना पड़ता है; परन्तु यदि कांचपर धूल जम गई हो तो वह भी धो डालनी पड़ती है। इसी तरह आत्माकी प्रभाके आसपास जो तमोगुण रूपी काजल जमी रहती है उसे अच्छी तरह दूर कर डालना चाहिए। उसके बाद रजोगुणरूपी धूलको भी साफ कर देना है। इस तरह जब तमोगुणको धो डाला, रजोगुणको साफ कर डाला तो अब सत्त्व-गुणरूपी कांच बाकी रह गया। इस सत्त्वगुणको भी दूर करनेका अर्थ क्या यह लें कि कांचको भी फोड़ डालें? नहीं। यदि कांच ही फोड़ डालेंगे तो फिर लालटेनका कार्य नहीं होगा। ज्योतिका प्रकाश फैलानेके लिए कांचकी तो जरूरत रहेगी ही। अतः इस शुद्ध चमकदार कांचको फोड़ें तो नहीं, परन्तु एक ऐसा छोटा-सा कागजका टुकड़ा उसके सामने जरूर लगा दें, जिससे आंखें चकाचौंध न हो जायं। जरूरत सिर्फ आंखोंको चकाचौंध न होने देनेकी है। सत्त्वगुणपर विजय पानेका अर्थ यह है कि उसके प्रति हमारा अभिमान—हमारी आसक्ति हट जाय। सत्त्वगुणसे काम तो ले लेना है, परन्तु ढंगसे, तर-कीबसे। सत्त्वगुणको निरंहकारी बना देना चाहिए।

तो इस सत्त्वगुणके अहंकारको कैसे जीता जाय? इसका एक उपाय है। सत्त्वगुणको हम अपने अन्दर स्थिर कर लें। सातत्यसे उसका अभिमान चला जाता है। सत्त्वगुण कर्मोंको ही हम सतत करते रहें। उसे अपना स्वभाव ही बना लें। सत्त्वगुण हमारे यहां घड़ीभरके लिए आया हुआ मेहमान ही नहीं रहे, बल्कि वह घरका आदमी हो जाय। जो क्रिया कभी-कभी हमसे होती है, उसका हमें अभिमान होता है। सोते हम रोज हैं, परन्तु उसकी चर्चा दूसरोंसे नहीं करते। लेकिन जब किसी बीमारको पन्द्रह दिन नींद न आई हो और फिर जरा-सी नींद लगी हो तो वह सबसे कहता है—"कल जरा झपकी लगी थी।" उसे वह बात महत्त्वपूर्ण मालूम होती है। इससे भी अच्छा उदाहरण हम श्वासोच्छ्वास क्रियाका लें। सांस हम चौबीसों घंटे लेते हैं, परन्तु हर किसीसे उसका जिक्र नहीं करते। क्या कभी कोई किसीसे अभिमानके साथ कहता है कि "मैं एक सांस लेनेवाला प्राणी हूं।" हरद्वारसे फेंका तिनका यदि गंगामें बहता-बहता डेढ़ हजार मील दूर कलकत्तामें पहुंच गया तो क्या वह उसपर गर्व

करेगा ? वह तो धाराके साथ सहज-रूपसे बहता चला गया। परन्तु यदि कोई बाढ़की उलटी धारामें दस-बीस हाथ तैर गया तो वह कितनी शेखी बघारेगा ? मतलब यह कि जो बात स्वाभाविक है, उसका हमें अहंकार नहीं मालूम होता।

जब कोई अच्छा काम हमारे हाथसे हो जाता है तो हमें उसका अभिमान मालूम होता है। क्यों ? इसलिए कि वह बात सहज-रूपसे नहीं हुई। मुन्नाके हाथसे कोई काम अच्छा हो गया तो मां उसकी पीठ ठोंकती है। वरना यों तो मांकी छड़ीसे ही हमेशा उसकी पीठकी भेंट होती है। रातके घने अन्धकारमें कोई एकाध जुगनू हो तो फिर देखिए उसकी ऐंठ। वह एकबारगी अपनी सारी चमक नहीं दिखाता। बीचमें लुक-लुक करता है, फिर रुकता है, फिर लुक-लुक करता है। प्रकाशको ढांकता और खोलता रहता है। परन्तु उसका प्रकाश यदि सतत रहने लगे तो फिर उसकी ऐंठ नहीं रहेगी। सातत्यके कारण विशेषता मालूम नहीं होती। इस तरह सत्त्वगुण यदि हमारी क्रियाओं में सतत प्रकट होने लगे तो फिर वह हमारा स्वभाव ही हो जायगा। सिंह को अपने शौर्यका अभिमान नहीं रहता, बल्कि भान भी नहीं रहता। इसी तरह अपनी सात्त्विक वृत्तिको इतनी सहज हो जाने दो कि हमें उसकी स्मृति भी न होने पावे। प्रकाश देना सूर्यकी नैसर्गिक क्रिया है। उसका सूर्यको कोई अभिमान नहीं रहता। उसके लिए यदि कोई सूर्यको मान-पत्र देने जाय तो वह कहेगा—"इसमें मैंने विशेष क्या किया ? मैं प्रकाश देता हूं तो अधिक क्या करता हूं ? प्रकाश देना ही तो मेरा जीवन है। प्रकाश न दूं तो मैं मर जाऊंगा। मैं दूसरी कोई चीज ही नहीं जानता।" ऐसी स्थिति सात्त्विक मनुष्यकी हो जानी चाहिए। सात्त्विक गुण उसके रोम-रोममें पैवस्त हो जाना चाहिए। जब ऐसा स्वभाव ही हमारा सत्त्वगुणमय हो जाय तो हमें उसका अभिमान न होगा। सत्त्वगुणको निस्तेज करनेकी—उसे जीतनेकी यह एक तरकीब हुई।

अब दूसरी तरकीब है सत्त्वगुणकी आसक्तितक छोड़ देना। अहंकार व आसक्ति ये दो अलग-अलग चीजें हैं। यह भेद जरा सूक्ष्म है। अतः दृष्टांतसे जल्दी समझमें आ जायगा। सत्त्वगुणका अहंकार

चला जानेपर भी आसक्ति रह जाती है। श्वासोच्छ्वासका ही उदाहरण लें। सांस लेनेका अभिमान तो नहीं होता है, परन्तु उसमें बड़ी आसक्ति रहती है। यदि कहो कि पांच मिनटतक सांस रोके रहो तो नहीं बनता। नाकको श्वासोच्छ्वासका अभिमान भले ही न हो, परन्तु वह हवा बराबर लेती रहती है। सुकरातकी एक मजेदार कहानी है। उसकी नाक थी चपटी। अतः लोग उसे देखकर हँसा करते; परन्तु हँसोड़ सुकरात कहता, "मेरी नाक सबसे बढ़िया है। जिन नाकके नासापुट बड़े हों, वह भरपूर हवा ले सकती है और इसलिए वही सबसे सुन्दर है।" मतलब यह कि नाकको श्वासोच्छ्वासका अभिमान तो नहीं, पर आसक्ति है। सत्त्वगुणोंके प्रति इसी तरह आसक्ति हो जाती है। जैसे भूत-दया। यह गुण अत्यन्त उपयोगी है; परन्तु उसकी भी आसक्तिसे दूर रह सकना चाहिए। भूत-दया तो आवश्यक है, परन्तु उसकी आसक्ति न होनी चाहिए।

संत लोग इस सत्त्वगुणकी ही बदौलत दूसरेके लिए मार्ग-दर्शक होते हैं। उनका देह भूतदयाके कारण सार्वजनिक हो जाता है। मक्खियां जिस प्रकार गुड़की भेलीको ढांक लेती हैं, उसी प्रकार सारी दुनिया संतोंपर अपने प्रेमकी चादर ओढ़ाती है। संतोंके अन्दर प्रेमका इतना प्रकर्ष हो जाता है कि सारा विश्व उनसे प्रेम करने लगता है। संत अपने देहकी आसक्ति छोड़ देते हैं, अतः सारे संसारकी आसक्ति उनमें हो जाती है। सारी दुनिया उनके शरीरकी चिन्ता करने लगती है। परन्तु यह आसक्ति भी संतोंको दूर करनी चाहिए। यह जो संसारका प्रेम है, यह जो महान् फल है, इसमें भी आत्माको पृथक् करना चाहिए। मैं कोई विशेष व्यक्ति हूं—ऐसा उन्हें कभी न मालूम होना चाहिए। इस तरह सत्त्वगुणको शरीरमें पचा डालना चाहिए।

पहले अहंकारको जीतो, फिर आसक्तिको। सातत्यसे अहंकार जीत लिया जायगा और फलासक्तिको छोड़कर सत्त्वगुणसे प्राप्त फलको भी ईश्वरार्पण करनेसे आसक्तिपर विजय हो सकती है। जीवनमें जब सत्त्वगुण स्थिर हो जाता है तो कभी सिद्धिके रूपमें व कभी कीर्त्तिके रूपमें फल सामने आता है। परन्तु उस फलको भी तुच्छ मानिए। आमका पेड़ अपने एक भी फलको खुद नहीं खाता। फल

कितना ही बढ़िया हो, कितना ही मीठा हो, कितना ही रसीला हो, पर खानेकी अपेक्षा न खाना ही उसे मधुरतर होता है। उपभोगकी बनिस्बत त्याग अधिक मधुर है। धर्मराजने जीवनके सारे पुण्यके सार-स्वरूप स्वर्ग-सुखरूपी फलको भी अन्त में ठुकरा दिया। जीवनके सारे त्यागोंपर उन्होंने कलश चढ़ा दिया। उन मधुर फलोंको चखनेका उन्हें हक था, परन्तु यदि वह उन्हें चख लेते तो वे (फल) खतम हो जाते। "क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।" यह चक्र फिर उनके पीछे लग जाता। धर्मराजका कितना जबरदस्त यह त्याग! यह सदैव मेरी आंखोंके सामने खड़ा रहता है। इस तरह सत्त्वगुणके सतत आचरणद्वारा उसके अहंकारको जीत लेना चाहिए। तटस्थ रहकर सब फल ईश्वर-को सौंपकर उसकी आसक्तिसे छूट जाना चाहिए। तब कह सकते हैं कि सत्त्वगुणपर भी विजय प्राप्त हो गई।

(८१)

अब आखिरी बात। भले ही आप सत्त्वगुणी हो जाइए, अहंकारको जीत लीजिए, फलासक्तिको भी छोड़ दीजिए, फिर भी जबतक यह शरीर कायम है तबतक बीच-बीचमें रज-तमके हमले होते ही रहेंगे। थोड़ी देरके लिए हमें ऐसा लगा भी कि हमने इन गुणोंको जीत लिया तो भी वे फिर-फिर जोर मारेंगे। अतः सतत जाग्रत रहना चाहिए। समुद्रका पानी वेगसे भीतर घुस-घुसकर जिस तरह बड़ी खाड़ियां बना लेता है उसी तरह रज-तमके जोरदार प्रवाह हमारी मनोभूमिमें प्रविष्ट होकर खाड़ियां बना लेते हैं। अतः जरा भी छिद्र न रहने दीजिए। पक्का इंतजाम व पहरा रखिए। चाहे कितनी ही सावधानी, दक्षता रखिए जबतक आत्मज्ञान नहीं हुआ है, आत्म-दर्शन नहीं हो गया है तबतक खतरा ही समझिए। अतः हर तरह से उद्योग करके आत्म-ज्ञान प्राप्त कर लीजिए।

आत्म-ज्ञान कोरी जागृति की कसरतसे नहीं होगा। तो फिर होगा कैसे? क्या अभ्याससे? नहीं—उसका एक ही उपाय है। वह है "सच्चे हृदयसे, हार्दिक व्याकुलतासे भगवान्‌की भक्ति करना।" आप रज, तम इन गुणोंको जीतेंगे, सत्त्वगुणको स्थिर करके उसकी फलासक्ति भी छोड़ देंगे, परन्तु इतनेसे भी काम नहीं चलेगा। जबतक

आत्म-ज्ञान नहीं हुआ है तबतक गुजर न होगी। अतः अन्तमें भगवत्कृपा चाहिए ही। सच्ची हार्दिक भक्तिके द्वारा उसकी कृपाका पात्र बनना चाहिए। इसके सिवा मुझे दूसरा उपाय नहीं दिखाई देता। इस अध्यायके अन्तमें अर्जुनने यही प्रश्न पूछा है व भगवान्ने उत्तर दिया है—"अत्यन्त एकाग्र मनसे निष्कामभावसे मेरी भक्ति करो, मेरी सेवा करो। जो इस प्रकार मेरी सेवा करता है वह माया-के उस पार जा सकता है, नहीं तो इस गहन मायाको तर जाना आसान नहीं है।" यह भक्तिका सरल उपाय है। यह एक ही मार्ग उसके लिए है।

रविवार, २२-५-३२

पंद्रहवां अध्याय

(८२)

आज एक अर्थमें हम गीताके छोरपर आ पहुंचे हैं। पन्द्रहवें अध्यायमें सब विचारोंकी परिपूर्णता हो गई है। सोलह-सत्रह अध्याय परिशिष्टरूप हैं व अठारहवां उपसंहार है। यही कारण है जो भगवान्ने इस अध्यायके अन्तमें इसे 'शास्त्र' संज्ञा दी है—

"कहा निष्पाप है, मैंने गूढ़ अत्यन्त शास्त्र ये"

ऐसा अन्तमें भगवान्ने कहा है। यह इसलिए नहीं कि यह अन्तिम अध्याय है, बल्कि इसलिए कि अबतक जीवनके जो शास्त्र, जो सिद्धांत बताये, उनकी परिपूर्णता इस अध्यायमें की गई है। इस अध्यायमें परमार्थ पूरा हो गया। वेदोंका सारा सार इसमें आ गया। परमार्थकी चेतना मनुष्यमें उत्पन्न कर देना ही वेदोंका कार्य है। वह इस अध्यायमें किया गया है, अतः इसे 'वेदका सार' यह गौरवपूर्ण पदवी मिली है।

तेरहवें अध्यायमें देहसे आत्माको अलग करनेकी आवश्यकता देखी। चौदहवेंमें तत्संबंधी प्रयत्नवादकी छान-बीन की। रजोगुण व तमोगुणका निग्रहपूर्वक त्याग करें, सत्त्वगुणका विकास करके उसकी आसक्तिको जीत लें, उसके फलका त्याग करें, इस तरह यह प्रयत्न करना है। अन्तमें कहा गया कि इन प्रयत्नोंके सोलहों आने सफल होनेके लिए आत्म-ज्ञानकी आवश्यकता है और आत्म-ज्ञान बिनां भक्तिके शक्य नहीं।

परन्तु भक्ति-मार्ग प्रयत्न-मार्गसे भिन्न नहीं है। यही सूचित करनेके लिए इस पन्द्रहवें अध्यायके आरंभमें ही संसारको एक महान् वृक्षकी उपमा दी गई है! त्रिगुणोंसे पोषित प्रचंड शाखाएं वृक्षकी हैं। आरंभमें ही यह कह दिया है कि अनासक्ति व वैराग्यरूपी शस्त्रोंसे इस वृक्षको काटना चाहिए। यह साफ है कि पिछले अध्यायमें जो साधन-मार्ग बताया गया है, वही फिर आरंभमें यहां दुहराया गया है। रज-तमको

मिटाना व सत्त्वगुणकी पुष्टिद्वारा अपना विकास कर लेना है। एक काम विनाशक है, दूसरा विधायक। दोनोंको मिलाकर मार्ग एक ही होता है। घास-फूस काटना व बीज बोना—दोनों एक ही क्रियाके भिन्न-भिन्न अंग हैं। वैसी ही यह बात है। रामायणमें रावण, कुंभकर्ण व विभीषण ये तीन भाई हैं। कुंभकर्ण तमोगुण है, रावण रजोगुण व विभीषण सत्त्वगुण है। हमारे शरीरमें इन तीनोंकी रामायण रची जा रही है। इस रामायणमें रावण व कुंभकर्णका तो नाश ही विहित है। एक विभीषण-तत्त्व, यदि वह हरिचरण-शरण हो जाय, तो उन्नतिका साधक व पोषक हो सकेगा। और इसलिए वह अपनाने-जैसा है। हमने चौदहवें अध्यायमें इस चीजको समझ लिया है। इस पंद्रहवें अध्यायके आरंभमें फिर वही बात आई है। सत्त्व-रज-तमसे भरे संसारको असंगरूपी शस्त्रसे छेद डालो। (रज-तमका निरोध करो)। सत्त्वगुणका विकास करके पवित्र होओ व उसकी आसक्तिको जीतकर अलिप्त रहो। कमल-पुष्पका यह आदर्श भगवद्गीता प्रस्तुत कर रही है। भारतीय संस्कृतिमें जीवनकी आदर्श वस्तुओं की, उत्तमोत्तम वस्तुओंकी, कमलकी उपमा दी गई है। कमल भारतीय संस्कृतिका प्रतीक है। उत्तमोत्तम विचार प्रकट करनेका चिह्न कमल है। कमल स्वच्छ व पवित्र होकर भी अलिप्त रहता है। पवित्रता व अलिप्तता ऐसी दुहरी शक्ति कमलके पास है। भगवान्के भिन्न-भिन्न अवयवोंकी कमलसे उपमा देते हैं। नेत्र-कमल, पद-कमल, कर-कमल, मुख-कमल, नाभि-कमल, हृदय-कमल, शिरः-कमल आदि इनके द्वारा यह भाव हमारे हृदयमें अंकित किया है कि सर्वत्र सौंदर्य व पावित्र्यके साथ ही अलिप्तता है।

पिछले अध्यायमें बताई साधनाको पूर्णतापर पहुंचानेके लिए यह अध्याय लिखा गया है। प्रयत्नमें जब आत्म-ज्ञान व भक्ति मिल जाय तो फिर पूर्णता आ जायगी। भक्ति प्रयत्न-मार्गका ही एक भाग है। आत्म-ज्ञान व भक्ति, ये उसी साधना के अंग हैं। वेदोंमें ऋषि कहते हैं—

"यो जागार तं ऋचः कामयन्ते
यो जागार तमु सामानि यान्ति"

"जो जाग्रत रहते हैं, उनसे वेद प्रेम करते हैं, उनसे भेंट करनेके लिए

वे आते हैं।" अर्थात् जो जाग्रत है, उसके पास वेदनारायण आते हैं। उसके पास ज्ञान आता है, भक्ति आती है। प्रयत्न-मार्गसे ज्ञान व भक्ति अलग नहीं है। इस अध्यायमें यही दिखाना है कि ये दोनों तत्त्व प्रयत्नमें मधुरता लानेवाले हैं। अतः एकाग्र चित्तसे भक्ति-ज्ञानका यह स्वरूप श्रवण कीजिए।

(८३)

जीवनके मैं टुकड़े नहीं कर सकता। कर्म, ज्ञान, भक्ति इनको मैं जुदा-जुदा नहीं कर सकता, न ये जुदा हैं ही। उदाहरणके लिए इस जेलके रसोई बनानेके कामको ही देखिए। पांच-सात सौ मनुष्योंकी रसोई बनानेका काम अपनेमेंसे कुछ लोग करते हैं। यदि इनमें कोई ऐसा शख्स होगा जो रसोई बनानेका ज्ञान ठीक-ठीक न रखता हो तो वह रसोई खराब कर देगा। रोटियां कच्ची रह जायंगी या जल जायंगी। परंतु यहां हम यह मानकर चलें कि रसोई बनानेका उत्तम ज्ञान है। फिर भी यदि उस व्यक्तिके हृदयमें उस कर्मके प्रति प्रेम न हो, भक्तिका भाव न हो, ये रोटियां मेरे भाइयोंको अर्थात् नारायणको ही मिलनेवाली हैं, इन्हें अच्छी तरह बेलना व सेंकना चाहिए,यह प्रभुकी सेवा है,ऐसा भाव उसके हृदयमें न हो तो पूर्वोक्त ज्ञान होकर भी वह इस कामके लिए योग्य नहीं साबित होगा। इस रसोई-कामके लिए जैसे ज्ञान आवश्यक है, वैसे ही प्रेम भी। भक्ति-तत्त्वका रस जबतक हृदयमें न हो तबतक वह रसोई स्वादिष्ट नहीं हो सकती। इसीलिए तो बिना मांकी रसोई फीकी रहती है। मांके सिवा कौन इस कामको इतनी आस्थासे, प्रेम-भावसे करेगा ? फिर इसके लिए तपस्या भी चाहिए। ताप सहन किये बिना, कष्ट उठाये बिना, यह काम कैसे होगा? इससे यह सिद्ध होता है कि किसी भी कामको सफल बनानेके लिए प्रेम, ज्ञान व कर्म, तीनों चीजोंकी जरूरत है। जीवनके सारे कर्म इन तीन गुणोंपर खड़े हैं। तिपाईका यदि एक पांव भी टूट जाय तो वह खड़ी नहीं रह सकती ! तीनों पांव चाहिए। उसके नाममें ही उसका रूप निहित है। यही हाल जीवनका है। ज्ञान, भक्ति व कर्म अर्थात् श्रम-सातत्य ये जीवनके तीन पाँव हैं। इन तीनों खंभोंपर जीवनरूपी द्वारका खड़ी करनी है। ये तीन पांव मिलाकर एक ही वस्तु बनती है। तिपाईका दृष्टांत अक्षरशः

इसपर चरितार्थ होता है। तर्कके द्वारा भले ही आप भक्ति, ज्ञान, कर्मको अलग-अलग मानिए, परंतु प्रत्यक्षतः इनको अलग नहीं किया जा सकता। तीनों मिलकर एक ही विशाल वस्तु बनती है।

ऐसा होनेपर भी यह बात नहीं कि भक्तिमें विशेष गुण न हो। किसी भी कर्ममें जब भक्ति-तत्त्व मिलेगा, तभी वह सुलभ मालूम होगा। 'सुलभ मालूम होगा' का मतलब यह है कि कष्ट नहीं होंगे, परंतु यह कि वे कष्ट, 'कष्ट' नहीं मालूम होंगे, उलटे आनंदरूप मालूम होंगे। शूल फूल-जैसे प्रतीत होंगे। हां, तो भक्ति-मार्ग सरल है, इसका तात्पर्य भी आखिर क्या ? यही कि भक्ति-भावके कारण कर्मका बोझ नहीं मालूम होता। कर्मकी कठिनता चली जाती है। कितना ही कर्म करो, वह न किये-सा मालूम होता है। भगवान् ईसामसीह एक जगह कहते हैं—"यदि तू उपवास करता है तो चेहरेपर उपवासकी थकान न मालूम होनी चाहिए, उलटा तेरे गाल व चेहरा सुगंधित द्रव्य लगा-सा आनंदित, प्रफुल्लित दिखाई देना चाहिए। उपवाससे कष्ट हो रहा है, ऐसा न दिखना चाहिए।" सारांश यह कि वृत्ति इतनी भक्तिमय, तल्लीन हो जानी चाहिए कि कष्ट भूल जायं। हम कहते हैं न, कि फलां बहादुर, देश-भक्त हँसते-हँसते फांसीपर चढ़ गया। सुधन्वा तेलकी कढ़ाईमें हँस रहा था। मुंहसे कृष्ण, विष्णु, हरि, गोविंदकी ध्वनि निकल रही थी। इसका इतना ही अर्थ है कि अपार कष्ट आ पड़नेपर भी भक्तिके प्रभावसे वे कुछ भी न मालूम हुए। पानीपर पड़ी हुई नावको धकेलना कठिन नहीं है; परंतु यदि उसीको धरतीपरसे, चट्टानोंपरसे खींचकर ले जाना हो तो कितनी मेहनत पड़ेगी ? नावके नीचे यदि पानी होगा तो हम आसानीसे पार कर जायंगे—सहज ही तर जायंगे। इसी तरह हमारी जीवन-नौकाके नीचे यदि भक्तिरूपी पानी होगा तो वह आनंदसे खेई जा सकेगी; परंतु यदि जीवन शुष्क होगा, रास्तेमें रेता पड़ा होगा, कंकड़-पत्थर होंगे, खड्डे-खाई होंगे तो इस नौकाको खींचकर ले जाना बड़ा विकट काम हो जायगा। भक्ति-तत्त्व हमारी जीवन-नौकाको पानीकी तरह सुलभता प्राप्त करा देता है।

भक्ति-मार्गसे साधनामें सुलभता आ जाती है, परंतु आत्मज्ञानके बिना सदाके लिए त्रिगुणोंके उस पार जानेकी आशा नहीं। तो फिर

आत्म-ज्ञानके लिए साधन क्या ? यही कि सत्त्व-सातत्यसे सत्त्वगुणको आत्मसात् करके उसका अहंकार व भक्तिके द्वारा उसके फलकी आसक्तिको जीतनेका प्रयत्न। इस साधनाके द्वारा सतत, अखंड प्रयत्न करते हुए एक दिन आत्मदर्शन हो जायगा। तबतक हमारे प्रयत्नका अंत नहीं आ सकता। यह परम पुरुषार्थकी बात है। आत्मदर्शन कोई हँसी-खेल नहीं है। रास्ते चलते योंही आत्मदर्शन हो जायगा—ऐसा नहीं है। उसके लिए सतत प्रयत्नकी धारा बहानी होगी। परमार्थ-मार्गकी शर्त ही यह है कि "मैं निराशाको तिलमात्र जगह न दूं। क्षणभर भी मैं निराश होकर न बैठूं।" इसके सिवा परमार्थका दूसरा साधन नहीं है। कभी-कभी साधक थक जाता है व कहने लगता है—

"तुव कारन तप संयम किरिया
कहो कहां लौं कीजै"

"—भगवन्, मैं तुम्हारे लिए कहांतक तप करता रहूं ?" परंतु यह कहना गौण है। तप व संयमका हम इतना अभ्यास कर लें कि वे हमारा स्वभाव ही बन जायं। 'कहांतक साधन करते रहें', यह भाषा भक्ति-मार्गमें शोभा नहीं देती। अधीर-भाव, निराशा-भाव भक्ति कभी भी पैदा नहीं होने देगी, जी ऊबने-जैसी कोई बात उसमें न होनी चाहिए। भक्तिमें उत्तरोत्तर उल्लास व उत्साह मालूम होता रहे, इसके लिए बहुत उम्दा विचार इस अध्यायमें बताया गया है।

(८४)

इस विश्वमें हमें अनंत वस्तुएं दिखाई देती हैं। इनके तीन भाग कर डालें। जब कोई भक्त सुबह उठता है तो तीन ही चीजें उसकी आंखोंके सामने आती हैं। पहले उसका ध्यान भगवान्की तरफ जाता है। तब वह उनकी पूजाकी तैयारी करता है। मैं सेवक भक्त, वह सेव्य भगवान्, स्वामी—ये दो चीजें उसके पास सदैव तैयार रहती हैं। अब रही बाकी सृष्टि, सो वह है उसकी पूजा का साधन। फूल, गंध, धूप-दीप इनके लिए यह सारी सृष्टि है। तीन ही चीजें हैं—सेवक, भक्त, सेव्य परमात्मा व सेवा-साधनके रूपमें यह सृष्टि। यही शिक्षा इस अध्यायमें दी गई है। परंतु जो सेवक किसी एक मूर्तिकी पूजा करता है,उसे सृष्टिके

सब पदार्थ पूजाके साधन नहीं मालूम होते। वह बगीचेसे चार फूल तोड़कर लाता है, कहींसे अरगबत्ती ले आता है वह कुछ नैवेद्य लगा देता है। वह चुनकर, छांटकर ही चीजें लेना चाहता है; परंतु पंद्रहवें अध्यायकी विशाल शिक्षाके अनुसार यह चुनाव करनेकी जरूरत नहीं है। जो कुछ भी तपस्याके साधन हैं, कर्मके साधन हैं, वे सब परमेश्वरकी सेवाके साधन हैं। उनमेंसे कुछको हम फूल कहेंगे, कुछको गंध और किसीको नैवेद्य। इस तरह जितने भी कर्म हैं, उन सबको पूजा-द्रव्य बना देना है। ऐसी यह दृष्टि है। बस, संसारमें सिर्फ ये तीन ही चीजें हैं। गीता जिस वैराग्यमय साधन-मार्गको हमारे मनपर अंकित करना चाहती है, उसीको वह भक्तिमय स्वरूप दे रही है। उसमेंसे कर्मता हट रही है और उसमें सुलभता ला रही है।

आश्रममें जब किसीको बहुत ज्यादा काम करना पड़ता है तब उसके मनमें यह विचार ही कभी नहीं आता—'मैं ही क्यों ज्यादा काम करूं?' इस बातमें बड़ा सार है। पूजकको यदि दोकी जगह चार घंटे पूजा करनेको मिले तो क्या वह उकताकर ऐसा कहेगा—"अरे राम, आज तो चार घंटा पूजा करनी पड़ी!" बल्कि उससे उसे अधिक ही आनंद मालूम होगा। आश्रममें ऐसा अनुभव होता है। यही अनुभव हमें जीवनमें सर्वत्र होना चाहिए। जीवन सेवा-परायण हो जाना चाहिए। वह सेव्य पुरुषोत्तम, उसकी सेवाके लिए सदैव तत्पर मैं अक्षर-पुरुष हूं। अक्षर-पुरुषका अर्थ है कभी भी न थकनेवाला, सृष्टिके आरंभसे लेकर सेवा करनेवाला सनातन सेवक। जैसे हनुमान रामके सामने सदैव हाथ जोड़कर खड़े ही हैं। उन्हें आलस छू तक नहीं गया है। हनुमानकी तरह ही चिरंजीव यह सेवक तत्पर खड़ा है।

ऐसे आजन्म सेवकका ही नाम अक्षर-पुरुष है। 'परमात्मा'—यह संस्था जीवित है और मैं उसका सेवक भी सदैव कायम हूं। प्रभु कायम हैं तो मैं भी कायम हूं। देखें, वह सेवा लेते हुए थकता है या मैं सेवा करते हुए? यदि उसने दस अवतार लिए हैं तो मेरे भी दस अवतार हुए हैं। वह राम हुआ है तो मैं हनुमान, वह कृष्ण हुआ तो मैं उद्धव। जितने उसके अवतार उतने ही मेरे भी। मीठी होड़ ही लग रही है। परमेश्वरकी इस तरह युग-युग सेवा करनेवाला, कभी नाश न पानेवाला यह

जीव, अक्षर-पुरुष है। वह पुरुषोत्तम स्वामी व मैं उसका बंदा—सेवक। वह भावना एक-सी हृदयमें रखनी चाहिए। और यह प्रतिक्षण बदलनेवाली, अनंत रूपोंसे सजनेवाली सृष्टि, इसे पूजा-साधन, सेवाका साधन बनाना है। प्रत्येक क्रिया मानो पुरुषोत्तमकी पूजा ही है।

सेव्य परमात्मा—पुरुषोत्तम, सेवक जीव—अक्षर-पुरुष; परंतु यह साधन-रूप सृष्टि क्षर है। इस 'क्षर' होनेमें बड़ा अर्थ है। सृष्टिका यह दूषण नहीं, भूषण है। इससे सृष्टिमें नित्य नवीनता आती है। कलके फूल आज काम नहीं दे सकते। वे निर्माल्य हो गये। सृष्टि नाशवान् है, यह बड़े भाग्यकी बात है। यह सेवाका वैभव है। रोज नवीन फूल सेवाके लिए तैयार मिलता है। उसी तरह मैं यह शरीर भी नया-नया धारण करके परमेश्वरकी सेवा करूंगा। अपने साधनोंको मैं नित्य नवीन रूप दूंगा व उन्हींसे उसकी पूजा करूंगा। इस नाशवानताके कारण यह सौंदर्य है। चंद्रकी कला जो आज है वह कल नहीं। चंद्रका रोज नया लावण्य, दूजके उस वढ़ते हुए चांदको देखकर कितना आनंद होता है। शंकरके ललाटपर यह दूजका चांद कैसा चमकता है? अष्टमीके चंद्रमाका सौंदर्य कुछ और ही होता है। उस दिन आकाशमें चुनींदा मोती ही दिखाई देते हैं। पूर्णिमाको चंद्रमाके तेजसे तारे नहीं दीखते। पूनोंको परमेश्वरका मुख-चंद्र दीखता है। अमावस्याका आनंद तो बड़ा गंभीर होता है। उस रातको कितनी निस्तब्ध शांति छाई रहती है। चंद्रमाके जालिम प्रकाशके हट जानेसे छोटे-बड़े अगणित तारे बड़ी आजादीसे खुलकर चमकते रहते हैं। अमावस्याको स्वतंत्रता पूर्ण-रूपसे विलास करती है। अपने तेजकी शान रखनेवाला चंद्रमा आज वहां नहीं है। अपने प्रकाशदाता सूर्यसे वह आज एक-रूप हो गया है। वह परमेश्वरमें मिल गया है। उस दिन मानो वह दिखाता है कि जीव खुद आत्मार्पण करके किस तरह संसारको जरा भी दुःख न पहुंचाए। चंद्रका स्वरूप क्षर है, परिवर्तनशील है; परंतु वह भिन्न-भिन्न रूपमें आनंद देता है।

सृष्टिकी जो नाशवानता, नश्वरता है, वही उसकी अमरता है। सृष्टिका रूप छलछल बह रहा है। यह रूप-गंगा यदि बहती न रहे तो

उसका एक दह बन जायगा। नदीका पानी अखंड-रूपसे वहता रहता है। वह सतत बदलता रहता है। एक बूंद गया, दूसरा आया। अतः वह पानी जीवित रहता है। वस्तुमें जो आनंद मालूम होता है, वह उसकी नवीनताके कारण। गर्मियोंमें परमात्माको और तरहके फूल चढ़ाये जाते हैं। बरसातमें हरी-हरी दूब चढ़ाई जाती है। शरद ऋतुमें सुरम्य कमलके पुष्प। तत्तत् ऋतु-कालोद्भव फल-पुष्पोंसे भगवान्‌की पूजा की जाती है। इसीसे वह पूजा जगमग व नित्य नूतन मालूम होती है। उससे जी नहीं ऊबता। छोटे बच्चेको जब 'क' लिखकर कहते हैं, "इसपर हाथ फेरो, इसे मोटा बनाओ," तो यह क्रिया उसे उबा देनेवाली मालूम होती है। वह समझ नहीं पाता कि इसे मोटा क्यों बनाया जाता है। वह पेंसिल आड़ी करके उससे जल्दी मोटा बना देता है। लेकिन फिर वह नये अक्षरोंको, उनके समुदायको देखता है। तरह-तरहकी पुस्तकें पढ़ने लगता है। साहित्यिक नानाविध सुमनमालाका अनुभव उसे होता है तब उसे अपार आनंद मालूम होता है। यही बात सेवा-प्रांतकी है। साधनोंकी नित्य नवीनतासे सेवाकी उमंग बढ़ती है। सेवा-वृत्तिका विकास होता है।

सृष्टिकी यह नाशवानता नित्य नये फूल खिला रही है। गांवके निकट श्मशान है। इससे गांव रमणीय मालूम होता है। पुराने लोग जा रहे हैं, नये बालक जन्म ले रहे हैं। सृष्टि नित्य नवीन बढ़ रही है। बाहरका वह श्मशान यदि मिटा दोगे तो वह घरमें आकर बैठ जायगा। तुम ऊब उठोगे उन्हीं-उन व्यक्तियोंको रोज अखंड देख-देखकर। गर्मियोंमें गर्मी पड़ती है। धरती तप जाती है; परंतु इससे तुम घबरा मत जाओ। यह रूप बदल जायगा। बरसातका सुख लेनेके लिए यह तपन जरूरी है। यदि जमीन खूब तपी न होगी तो पानी बरसते ही वह कीचड़ हो जायगी। फिर तृण-धान्य उसमें नहीं सजने पावेंगे। मैं एक बार गर्मियोंमें घूम रहा था। सिर तप रहा था। बड़ा आनंद आ रहा था। एक मित्रने मुझसे कहा—"सिर गरम हो जायगा। फिर तकलीफ होगी।" मैंने कहा—"नीचे जमीन भी तो तप रही है। इस मिट्टीके पुतलेको भी तो जरा तपने दो।" अहा—इधर सिर तपा हुआ हो, उधर पानीकी फुहारें पड़ने लगें—कैसी बहार हो! परंतु जो गर्मियोंमें तपता नहीं,

वह पानी बरसनेपर भी अपनी पुस्तकमें सिर घुसाकर बैठा रहेगा। अपने कमरेमें, उस कब्रमें, ही घुसा रहेगा। बाहरके इस विशाल अभिषेक-पात्रके नीचे खड़ा रहकर आनंदसे नाच न उठेगा; परंतु हमारे वे महर्षि मनु बड़े रसिक व सृष्टि-प्रेमी थे। अपनी स्मृतिमें लिखते हैं—"जब पानी बरसने लगे तो छुट्टी कर दो।" जब वर्षा हो रही हो, तो क्या आश्रममें बैठे रहकर संथा रटते रहें ? वर्षामें तो नाचना-गाना चाहिए। सृष्टिसे एकरूप होना चाहिए। वर्षामें पृथ्वी व आकाश एक-दूसरेसे मिलते हैं। यह भव्य दृश्य कितना आनंददायी है ? यह सृष्टि स्वतः हमें शिक्षा दे रही है।

सारांश, सृष्टिकी क्षरता, नाशवानता, का अर्थ है साधनोंकी नवीनता। इस तरह यह नव-नव-प्रसवा साधनदात्री सृष्टि, कमर कसके सेवाके लिए खड़ा सनातन सेवक व वह सेव्य परमात्मा। अब चलने दो खेल। वह परम पुरुष पुरुषोत्तम नये-नये विचित्र सेवा-साधन देकर मुझसे प्रेम-मूलक सेवा ले रहा है। नाना प्रकारके साधन देकर वह मुझे खिला रहा है। तरह-तरहके प्रयोग कर रहा है। यदि हमें जीवनमें ऐसी दृष्टि आ जाय तो कितना आनंद मिले।

(८५)

गीता चाहती है कि हमारी प्रत्येक कृति भक्तिमय हो। हम जो घंटा-आध-घंटा ईश्वरकी पूजा करते हैं सो तो ठीक ही है। प्रातःकाल व सायंकाल जब सुंदर सूर्य-प्रभा अपना रंग छिटकाती है तब चित्तको स्थिर करके थोड़ी देरके लिए संसारको भूल जाना और अनंतका चिंतन करना उत्तम विचार है। इस सदाचारको कभी न छोड़ना चाहिए। परंतु गीताको इतनेसे संतोष नहीं है। सुबहसे शामतककी सारी क्रियाएं भगवान्‌की पूजाके लिए होनी चाहिए। नहाते, खाते, चलते, झाड़ते उसका स्मरण रहना चाहिए। झाड़ते समय यह भावना होनी चाहिए कि मैं अपने प्रभु, मेरे जीवन-देवका आंगन साफ कर रहा हूं। हमारे समस्त कर्म इस तरह पूजा-कर्म हो जाने चाहिए। यदि यह दृष्टि आ गई तो फिर देखियेगा, आपके व्यवहारमें कितना अंतर पड़ जायगा। हम कितनी चिंतासे पूजाके लिए फूल चुनते हैं, उन्हें जतनसे डलियामें संभालकर रखते हैं, वे दब न जायं, कुचल न जायं, कुम्हला न जायं इसका

कितना ध्यान रखते हैं ? कहीं मलिन न हो जायं, इस खयालसे उन्हें नाकके पास नहीं ले जाते। यही दृष्टि, यही भावना हमारे जीवनके प्रतिदिनके कर्मोंमें हो जानी चाहिए। अपने इस गांवमें मेरे पड़ोसीके रूपमें मेरा नारायण, मेरा प्रभु ही तो रम रहा है। अतः इस गांवको मैं साफ-सुथरा, निर्मल रखूँगा। गीता हमें यह दृष्टि देना चाहती है। हमारे तमाम कर्म प्रभु-पूजा ही हो जायं, इस बातका गीताको बड़ा शौक है। गीता-जैसे ग्रंथराजको घंटा-आध-घंटाकी पूजासे समाधान नहीं। सारा जीवन हरिमय होना चाहिए, पूजारूप होना चाहिए, यह गीताकी उत्कट इच्छा है।

गीता पुरुषोत्तम-योग बताकर कर्ममय जीवनको पूर्णतापर पहुंचाती है। वह सेव्य पुरुषोत्तम, मैं उसका सेवक व सेवाके साधनरूप यह सारी सृष्टि——यदि इस बातका दर्शन हमें एक बार हो जाय तो फिर और क्या चाहिए ? तुकाराम कह रहे हैं——

होयगा दर्शन तो करूंगा सेवा।
और कुछ नहीं, चाहूं प्रभो ॥

फिर तो अखंड सेवा ही हमसे होती रहेगी। तब 'मैं' जैसा कुछ रही नहीं जायगा। मैं-मेरापन सब पोंछ डालूंगा, अब जो कुछ है, वह होगा सब परमात्माके लिए। पर-हितार्थ जीनेके सिवा दूसरा विषय ही नहीं रहेगा। गीता फिर-फिरसे यही कह रही है कि मैं अपनेपनमेंसे मैं-पन-को निकालकर हरिपरायण जीवन बनाऊं, भक्तिमय जीवन रचूं। सेव्य परमात्मा, मैं सेवक व साधनरूप यह सृष्टि। परिग्रहका नाम ही कहां रहा ? जीवनमें अब किसी बातकी चिंता ही नहीं रही।

(८६)

इस तरह अबतक हमने यह देखा कि कर्ममें भक्ति का योग करना चाहिए; परन्तु उसमें ज्ञानकी पुट भी जरूरी है, नहीं तो गीताको संतोष न होगा। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि ये तीनों चीजें भिन्न-भिन्न हैं, सिर्फ समझनेके लिए हम तीन जुदा-जुदा भाषा बोलते हैं। कर्मका मतलब ही है भक्ति। भक्ति कोई अलगसे लाकर कर्ममें मिलानी नहीं पड़ती। यही बात ज्ञानकी है। यह ज्ञान मिलेगा कैसे ? गीता कहती

है—"सर्वत्र पुरुष-दर्शनसे।" तुम सेवा करनेवाले सनातन सेवक—तुम सेवा-पुरुष, वह पुरुषोत्तम सेव्य पुरुष, और नाना रूपधारिणी, प्रवाह-मयी, नाना साधनदायिनी वह सृष्टि, वह भी पुरुष ही।

ऐसी दृष्टि रखने का अर्थ क्या? सर्वत्र त्रुटिरहित निर्मल सेवा-भाव रखना! तुम्हारे पैरकी जूती चर्र-चूं बज रही है—जरा उसे तेल दे दो। उसमें भी परमात्माहीका अंश है, अतः उसे संभालकर अच्छी हालतमें रखना चाहिए। यह सेवाका साधन चर्खा उसमें भी तेल डालो। देखो, वह आवाज दे रहा है। 'नेति-नेति'—सूत नहीं कातूंगा—कहता है। यह चरखा—यह सेवा-साधन—यह भी पुरुष ही है। इसकी माल, उसकी यह जनेऊ, उसे भली प्रकार रखो। सारी सृष्टिको चैतन्यमय मानो। इसे जड़ मत समझो। ओंकारका सुंदर गान करनेवाला वह चरखा, क्या जड़ है? वह तो परमात्माकी मूर्त्ति ही है। श्रावणकी अमावस्याको हम अहंकार छोड़कर बैलकी पूजा[1] करते हैं। बड़ी भारी बात है यह। इस उत्सवका खयाल रोज करके, बैलोंको अच्छी हालतमें रखकर, उनसे उचित काम लेना चाहिए। उत्सवके दिनकी भक्ति उसी दिन समाप्त न होनी चाहिए। बैल भी परमात्माकी ही मूर्त्ति है। वह हल, खेतीके सब औजार, इन्हें अच्छी हालतमें रखूंगा। सेवाके सभी साधन पवित्र होते हैं। कितनी विशाल है यह दृष्टि। पूजा करनेका अर्थ यह नहीं है कि गुलाल, गंधाक्षत व फूल चढ़ावें। उन बरतनोंको कांचकी तरह साफ-सुथरा रखना बरतनोंकी पूजा है। दियेको साफ पोंछना दीपक-पूजा है। हंसियेको तेज करके घास काटनेके लिए तैयार रखना उसकी पूजा है। दरवाजेका कब्जा जंग खायगा तो उसे तेल लगाकर संतुष्ट कर देना उसकी पूजा है। जीवनमें सर्वत्र इस दृष्टिसे काम लेना चाहिए। सेवा-द्रव्यको उत्कृष्ट व निर्मल रखना चाहिए। सारांश यह कि मैं अक्षर-पुरुष, वह पुरुषोत्तम व साधन-रूप यह सृष्टि, वह भी पुरुष ही, परमात्मा ही। सर्वत्र एक ही चैतन्य रम रहा है। जब यह दृष्टि आ गई तो समझ लो कि हमारे कर्ममें ज्ञान भी आ गया।

पहले कर्ममें भक्तिकी पुट दो, अब ज्ञानका भी योग कर दिया तो

---

१. महाराष्ट्रका विशिष्ट त्योहार, जिसे 'पोला' कहा जाता

इससे एक अपूर्व जीवन-रसायन बन गया। गीताने हमें अंतमें अद्वैतमय सेवाके रास्तेपर लाकर छोड़ दिया। इस सारी सृष्टिमें, जहां देखिए वहां, तीन पुरुष विद्यमान हैं। एक ही पुरुषोत्तमने ये तीन रूप धारण किये हैं। तीनोंको मिलाकर वास्तवमें एक ही पुरुष है। केवल अद्वैत है। यहां गीताने हमें सबसे ऊंचे शिखरपर लाकर बिठा दिया है। कर्म, भक्ति, ज्ञान सब एकरूप हो गये। जीव, शिव, सृष्टि सब एकरूप, एक-जीव हो गये। कर्म, भक्ति व ज्ञानमें कोई विरोध नहीं रह गया। ज्ञानदेवने अमृतानुभवमें अपना प्रिय दृष्टांत दिया है।

देव, मन्दिर, परिवार—बनाया काट पर्वत
ऐसा भक्तिका आचार—क्यों न होवे ?

एक ही पत्थरको कुरेदकर उसीका मंदिर बनाया, उस मंदिरमें पत्थरकी गड़ी हुई एक भगवान्‌की मूर्ति और उसके सामने पत्थरका ही एक भक्त, उसके पास पत्थरके ही बनाये हुए फल, ये जैसे सब एक ही पत्थरकी चट्टानमें खोद-काटकर बनाते हैं—एक ही अखंड पत्थर अनक रूपोंमें सजा हुआ है, वैसा ही भक्तिके व्यवहारमें भी क्यों न होना चाहिए ? स्वामिसेवक-संबंध रहकर भी एकता क्यों नहीं रह सकती ? यह बाह्य सृष्टि, यह पूजा-द्रव्य जुदा रहकर भी वह आत्मरूप क्यों न हो जाय ? तीनों पुरुष एक ही तो हैं। ज्ञान, कर्म, भक्ति इन तीनोंको मिलाकर एक विशाल जीवन-प्रवाह बना दिया जाय। ऐसा यह परिपूर्ण पुरुषोत्तम-योग है। स्वामी, सेवक व सेवा-द्रव्य सब एक-रूप ही हैं—अब भक्ति-प्रेमका खेल खेलना है।

ऐसा यह पुरुषोत्तम-योग जिसके हृदयमें अंकित हो जाय, वही सच्ची भक्ति करता है।

"स सर्वविद् भजति मां सर्वभावेन भारत"

ऐसा पुरुष ज्ञानी होकर भी सोलहों आना भक्त रहता है। जिसमें ज्ञान है, उसमें प्रेम तो है ही। परमेश्वर का ज्ञान व परमेश्वर का प्रेम, ये दो अलग चीजें नहीं हैं। 'करैला कड़आ' ऐसा ज्ञान उत्पन्न हुआ कि फिर प्रेम नहीं उत्पन्न होता। एकाध अपवाद होगा भी, परन्तु

जहां कड़ुएपनका अनुभव हुआ कि जी ऊबा; परंतु मिश्रीका ज्ञान होते ही वह गलने लगा। तुरंत ही प्रेम का स्रोत उमड़ पड़ता है। परमेश्वरके विषयमें ज्ञान होना और प्रेम उत्पन्न होना दोनों बातें एक ही हैं। परमेश्वरके रूपकी मधुरताकी उपमा क्या रद्दी शकरसे दी जाय? उस मधुर परमेश्वरका ज्ञान होते ही उसी क्षण प्रेम-भाव भी पैदा हो जायगा। यही मानिये कि ज्ञान होना व प्रेम होना, ये दो दोनों मानो भिन्न क्रियाएं ही नहीं हैं। अद्वैतमें भक्ति को स्थान है या नहीं, इस बहसमें कुछ नहीं रखा है। ज्ञानदेव कहते हैं—

सो ही भक्ति, सो ही ज्ञान।
एक विट्ठल ही जान॥

भक्ति व ज्ञान एक ही वस्तुके दो नाम हैं।

अब, जीवनमें परम भक्तिका संचार हो गया तो फिर जो कर्म होगा वह भक्ति व ज्ञानसे अलग नहीं रहता। कर्म, भक्ति व ज्ञान मिलकर एक ही रमणीय रूप बन जाता है। इस रमणीय रूपसे अद्भुत प्रेममय ज्ञानमय सेवा सहज ही उत्पन्न होती है। मां पर प्रेम है, किंतु यह प्रेम कर्मके द्वारा प्रकट होना चाहिए। प्रेम सदैव मरता, खपता रहता है, सेवारूपमें व्यक्त होता रहता है। प्रेमका बाह्य रूप है सेवा। प्रेम अनंत सेवा-कर्मके द्वारा सजकर नाचता है। प्रेम हो तो फिर ज्ञान भी वहां आ जाता है। जिसकी सेवा मुझे करनी है, उसे कौन-सी सेवा प्रिय है, या प्रिय होगी इसका ज्ञान मुझे होना चाहिए, नहीं तो यह सेवा अ-सेवा या कु-सेवा हो रहेगी। सेव्य वस्तुका ज्ञान प्रेमको होना चाहिए। प्रेमका प्रभाव कार्यद्वारा फैलानेके लिए ज्ञानकी आवश्यकता है; परंतु उसके मूलमें प्रेम होना चाहिए। वह न हो तो ज्ञान निरुपयोगी, बेकार हो जाता है। प्रेमके द्वारा होनेवाला कर्म मामूली कर्मसे जुदा होता है। खेतसे थके-मांदे आये लड़केपर मां सहज प्रेमकी दृष्टि डालती है व कहती है—"बेटा, थक गये हो?" परंतु इस छोटेसे कर्ममें, देखिए तो कितना सामर्थ्य है। अपने जीवनके समस्त कर्मोंमें ज्ञान व भक्तिको ओतप्रोत कीजिए। यही पुरुषोत्तमयोग कहलाता है।

(८७)

यह सब वेदोंका सार ह। वेद अनन्त हैं; परंतु उन अनंत वेदोंका सार-संक्षिप्त यह पुरुषोत्तमयोग है। यह वेद है कहां ? वेदोंकी बात विचित्र है। वेदोंका सार है कहां ? अध्यायके प्रारंभमें ही कहा है—"पत्र हैं जिसके वेद।" भाई, वेद तो इस वृक्षके एक-एक पत्तेमें भरे हुए हैं। वेद उन संहिताओंमें, आपके ग्रंथों व पोथियोंमें छिपे हुए नहीं हैं। वह विश्व में सर्वत्र फैले हुए, छाए हुए हैं। शेक्सपियर क्या कहता है—

"बहते हुए झरनोंमें सद्ग्रंथ मिलते हैं, पत्थरों-चट्टानोंसे प्रवचन सुनाई पड़ते हैं।" मतलब यह कि वेद न संस्कृतमें हैं, न संहिताओंमें, वे सृष्टिमें हैं। सेवा करो तो वे दिखाई देंगे। "प्रभाते करदर्शनम्।" सुबह उठते ही अपनी हथेली देखनी चाहिए। सारे वेद उसी हाथमें भरे हैं। वह वेद कहता है, "सेवा करो।" कल हाथने काम किया था या नहीं, आज करने योग्य है या नहीं, उसमें कामके निशान हुए हैं या नहीं, यह देखिए। सेवा करके जब हाथ घिस जाता है तो फिर ब्रह्मलिखित खुलता है, पढ़ा जा सकता है। यह अर्थ है"प्रभाते करदर्शनम्" का।

पूछते हैं, वेद कहां है ? भाई, तुम्हारे हाथोंमें ही तो है। शंकराचार्यके लिए, कहते हैं कि, उन्हें आठवें साल ही सारे वेदोंका ज्ञान हो गया था। बेचारे शंकराचार्य तो थे मंद बुद्धि। उन्हें आठ साल लग गये ! परंतु हमें-तुम्हें तो जन्मतः ही वे प्राप्त हैं। आठ सालकी भी क्या जरूरत ? मैं खुद ही जीता-जागता वेद हूं। अबतककी सारी परंपरा मुझमें आत्मसात हुई है। मैं उस परंपराका फल हूं। उस वेद-बीजका जो फल है वही तो मैं हूं। अपने फलमें मैंने अनंत वेदोंका बीज संचित कर रखा है। मेरे उदरमें वेद पांच-पचास गुना बड़े हो गये हैं। सारांश, वेदोंका सार हमारे हाथोंमें है। सेवा, प्रेम व ज्ञान इनकी नींवपर हमें जीवन रचना होगा। इसीका अर्थ है, वेद हाथोंमें है। मैं जो अर्थ करूंगा वही वेद होगा, वेद कहीं बाहर नहीं है। सेवा-मूर्ति संत कहते हैं—"वेदोंका जो अर्थ जानें एक हमीं।" भगवान् बता रहे हैं—"सारे वेद मुझे ही जानते हैं। मैं ही सब वेदोंका अर्क, सार, पुरुषोत्तम हूं।" यह जो वेदोंका

सार, पुरुषोत्तमयोग है, उसे यदि हम अपने जीवनमें आत्मसात् कर सकें तो कितनी बहार हो ! तो फिर ऐसा पुरुष जो कुछ करेगा, गीता सुझाती है कि उसमेंसे मानो वेद ही प्रकट हो रहे हैं। इस अध्यायमें सारी गीताका सार आ गया है। गीताकी शिक्षा इसमें पूर्ण-रूपसे प्रकट हुई है। उसे अपने जीवनमें उतारनेका हमें रात-दिन प्रयत्न करना चाहिए। और क्या ?

रविवार, २९-५-३२

सोलहवां अध्याय

(८८)

गीताके पहले पांच अध्यायों में हमने जीवनकी सारी योजना क्या है, और हम अपना जन्म सफल कैसे कर सकते हैं, यह देखा। उसके बाद छठे अध्यायसे ग्यारहवें अध्यायतक हमने भक्तिका भिन्न-भिन्न प्रकारसे विचार किया। ग्यारहवेंमें भक्तिका दर्शन हुआ। बारहवेंमें सगुण व निर्गुण भक्तिकी तुलना करके भक्तके महान् लक्षणोंको जाना। बारहवें अध्यायके अंततक कर्म व भक्ति इन दोनों तथ्योंकी छानबीन हुई। ज्ञानका तीसरा विभाग रह गया था, उसको हमने तेरह, चौदह व पंद्रहवें अध्यायोंमें देख लिया—आत्माको देहसे अलग करना व उसके लिए तीनों गुणोंको जीतकर अंतमें सर्वत्र प्रभुको देखना। पंद्रहवें अध्यायमें जीवनका संपूर्ण शास्त्र देख लिया। पुरुषोत्तमयोगमें जीवनकी पूर्णता होती है। उसके बाद फिर कुछ बाकी नहीं रहता।

कर्म, ज्ञान व भक्ति, इनकी पृथक्ता मुझे सहन नहीं होती। कुछ साधकोंकी अपनी निष्ठा ऐसी होती है कि उन्हें सिर्फ कर्म ही सूझता है। कोई भक्तिके स्वतंत्र मार्गकी कल्पना करते हैं और उसीपर सारा जोर देते हैं। कुछ लोगोंका झुकाव ज्ञानकी ओर होता है। जीवनके मानी केवल कर्म, केवल भक्ति, केवल ज्ञान—ऐसा 'केवल'—वाद मुझे माननेकी इच्छा नहीं होती। इसके विपरीत कर्म, भक्ति व ज्ञानके योग-रूप समुच्चयवादको भी मैं नहीं मानता। कुछ भक्ति, कुछ ज्ञान व कुछ कर्म, ऐसा उपयोगितावाद भी मुझे नहीं जंचता। पहले कर्म फिर भक्ति, फिर ज्ञान, इस तरहके क्रमवादको भी मैं नहीं स्वीकारता। तीनों चीजोंका मेल मिलाया जाय, इस तरहका सामंजस्यवाद भी मुझे मंजूर नहीं है। मुझे तो यह अनुभव करनेकी इच्छा होती है कि जो कर्म है, वही भक्ति है और वही ज्ञान है। बर्फीके एक टुकड़ेकी मिठास, उसका आकार और उसका वजन ये बातें अलग-अलग नहीं

हैं। जिस क्षण हम बर्फीका टुकड़ा मुंहमें डालते हैं उसी क्षण उसका आकार भी हमने खा लिया, उसका वजन भी पचा लिया और उसकी मिठास भी चख ली। तीनों बातें एकत्र एक साथ हैं। बर्फीके प्रत्येक कणमें आकार, वजन व मधुरता है। यह नहीं कि उसके एक टुकड़ेमें केवल एक आकार है, दूसरेमें कोरी मिठास है व तीसरेमें सिर्फ वजन ही है। उसी तरह जीवनकी प्रत्येक क्रियामें परमार्थ भरा रहना चाहिए—प्रत्येक कृत्य सेवामय, प्रेममय व ज्ञानमय होना चाहिए। जीवनके सब अंग-प्रत्यंगमें कर्म, भक्ति व ज्ञान भरा रहना चाहिए, इसे पुरुषोत्तमयोग कहते हैं। सारे जीवनको एक परमार्थमय ही कर डालना—यह बात कहनेमें तो बड़ी आसान है, परंतु इस उच्चारणमें जो भाव है, उसका यदि विचार करने लगें तो केवल निर्मल सेवा करनेके लिए अंतःकरणमें शुद्ध ज्ञान-भक्तिकी हार्दिकता गृहीत समझकर चलना होगा। इसलिए कर्म, भक्ति व ज्ञान अक्षरशः एकरूप हैं, इस परम दशाको पुरुषोत्तम-योग कहते हैं। यहां जीवनकी अंतिम सीमा आ गई।

अब, आज इस सोलहवें अध्यायमें क्या कहा गया है? जिस प्रकार सूर्योदय होनेके पहले उसकी प्रभा फैलने लगती है, उसी तरह जीवनमें कर्म, भक्ति व ज्ञानसे पूर्ण पुरुषोत्तम-योगके उदय होनेके पहले सदगुणोंकी प्रभा बाहर प्रकट होने लगती है। परिपूर्ण जीवनकी इस आगामी प्रभाका वर्णन इस सोलहवें अध्यायमें किया गया है। किस अंधकारसे झगड़कर यह प्रभा प्रकट होती है, उसका भी वर्णन इसमें किया गया है। किसी चीजके सबूतके तौरपर हम कुछ चीजोंकी मांग करते हैं। सेवा, भक्ति व ज्ञान हमारे जीवनमें आ गये हैं, यह कैसे जाना जाय? खेतपर हम मिहनत करते हैं तो उसके फलस्वरूप अनाजकी फसल हम तौल-नापकर घर ले आते हैं। इसी तरह हम जो साधना करते हैं, उससे हमें क्या-क्या अनुभव हुए, कितनी सद्-वृत्तियां गहरी पैठीं, कितने सद्गुण प्रविष्ट हुए, जीवन सचमुच सेवा-मय कितना हुआ, इसकी जांच करनेकी ओर यह अध्याय संकेत करता है। जीवनकी कला कितनी बढ़ी व चढ़ी है, इसे नापनेके लिए यह अध्याय कहते हैं। जीवनकी इस वृद्धिमती कलाको गीता दैवी संपत्ति

कहती है। इसके विरुद्ध जो वृत्तियां हैं, उन्हें आसुरी कहा है। सोलहवें अध्यायमें दैवी व आसुरी संपत्तियोंका संघर्ष बताया गया है।

(८९)

जिस तरह पहले अध्यायमें एक ओर कौरव-सेना व दूसरी ओर पांडव-सेना आमने-सामने खड़ी की है, उसी तरह यहां सद्गुणरूपी दैवी सेना व दुर्गुणरूपी आसुरी सेना एक-दूसरेके सामने खड़ी की है। बहुत प्राचीनकालसे मानवी मनमें सदसत्-प्रवृत्तियोंका जो झगड़ा चलता है, उसका रूपात्मक वर्णन करनेकी परिपाटी पड़ गई है। वेदमें इंद्र व वृत्र, पुराणोंमें देव व दानव, वैसे ही राम व रावण, पारसियों के धर्मग्रंथोंमें अहुरमज्द और अहरिमान, ईसाई मजहबमें प्रभु व शैतान, इस्लाममें अल्लाह व इब्लीस—इस तरह के झगड़े सभी धर्मग्रंथोंमें आते हैं। काव्यमें स्थूल विषयों का वर्णन सूक्ष्म वस्तुओंके रूपकोंके द्वारा किया जाता है तो धर्मग्रंथोंमें सूक्ष्म मनोभावनाओंका वर्णन उन्हें चटकीला स्थूल रूप देकर किया जाता है। काव्यमें स्थूलका सूक्ष्म-द्वारा वर्णन किया जाता है तो यहां सूक्ष्मका स्थूलके द्वारा। इससे यह सूचित नहीं करना है कि गीताके आरंभमें जो युद्धका वर्णन है, वह केवल काल्पनिक है। हो सकता है कि वह ऐतिहासिक घटना हो, परंतु कवि यहां उसका उपयोग अपने इष्ट हेतुको सिद्ध करनेके लिए कर रहा है। कर्त्तव्यके विषयमें जब मनमें मोह पैदा हो जाता है तब मनुष्यको क्या करना चाहिए, यह बात युद्धके एक रूपकके द्वारा समझाई गई है। इस सोलहवें अध्यायमें भलाई व बुराईका झगड़ा बताया गया है। गीतामें युद्धका रूपक भी दिया गया है।

कुरुक्षेत्र बाहर भी और हमारे भीतर भी है। बारीकीसे देखा जाय तो जो झगड़ा हमारे मनमें होता रहता है, वही हमें बाहरी जगत्में मूर्तिमान दिखाई देता है। बाहर जो मुझे अपना शत्रु खड़ा दीखता है, वह मेरे ही मनका विकार साकार-रूप होकर खड़ा है। आइनेमें जिस प्रकार मेरा ही बुरा-भला प्रतिबिंब मुझे दीखता है, उसी तरह मेरे मनके बुरे-भले विचार मुझे बाहर शत्रु-मित्रके रूपमें दिखाई देते हैं। जैसे हम जागृतिमें स्वप्नको देखते हैं, उसी तरह जो हमारे मनमें है, वही हम बाहर देखते हैं। भीतरके व बाहरके युद्धमें

कोई फरक नहीं है। सच पूछिए तो असली युद्ध तो भीतर ही होता है।

हमारे अंतःकरणमें एक ओर सद्गुण तो दूसरी ओर दुर्गुण खड़े हैं। उन्होंने अपनी-अपनी व्यूह-रचना ठीक-ठीक कर रखी है। सेनामें जिस प्रकार सेनापति आवश्यक है, वैसे यहां भी सद्गुणोंने एक सेनापति बना रक्खा है। उसका नाम है 'अभय'। इस अध्यायमें 'अभय' को पहला स्थान दिया गया है। यह कोई आकस्मिक बात नहीं है। जान-बूझकर ही इस 'अभय' शब्दको पहला स्थान दिया होगा। बिना अभयके कोई भी गुण पनप नहीं सकता। सच्चाईके बिना सद्गुणका कोई मूल्य नहीं है। किंतु सच्चाईके लिए निर्भयता आवश्यक है। भयभीत वातावरणमें सद्गुण फैल नहीं सकते; बल्कि उसमें वे भी दुर्गुण बन जायंगे, सत्यप्रवृत्तियां भी कमजोर पड़ जायंगी। निर्भयता सब सद्गुणोंका नायक है; परंतु सेनाको आगे-पीछे दोनों तरफ संभालना पड़ता है। सीधा हमला तो सामनेसे होता है, परंतु पीछेसे चुपचाप चोर-हमला भी हो सकता है। सद्गुणोंके सामने 'अभय' खम ठोंककर खड़ा है तो पीछेसे 'नम्रता' रक्षा कर रही है। इस तरह यह बड़ी बढ़िया रक्षा की गई है। यहां कुल छब्बीस गुण बताए गए हैं। इनमें ये पच्चीस गुण प्राप्त हो गये व यदि कहीं उसका अहंकार हो गया तो पीछेसे एकाएक चोर-हमला होकर सारी कमाई खो जानेका भय है। इसलिए पीछे 'नम्रता' के सद्गुणको रक्खा गया है। यदि नम्रता न हो तो यह जय कब पराजयमें परिणत हो जायगी, यह ध्यानमें नहीं आयगा। इस तरह सामने 'निर्भयता' व पीछे 'नम्रता' को तैनात करके सब सद्गुणोंका विकास किया जा सकेगा। इन दो महान् गुणोंके बीचमें जो चौबीस गुण रखे गये हैं, वे करीब सब अहिंसाके ही पर्यायवाची हैं, ऐसा कहें तो अनुचित नहीं। भूत-दया, मार्दव, क्षमा, शांति, अक्रोध, अहिंसा, अद्रोह, ये सब अहिंसाके ही दूसरे नाम हैं। अहिंसा व सत्य, इन दो गुणोंमें सब सद्गुणोंका समावेश हो जाता है। सब सद्गुणोंका यदि संक्षेप किया जाय तो अंतमें अहिंसा और सत्य, ये ही दो बाकी रह जायंगे। शेष सब सद्गुण इनके उदरमें समा जायंगे; परंतु निर्भयता और नम्रताकी बात जुदा

है। निर्भयतासे प्रगतिकी जा सकती है व नम्रतासे बचाव होता है। (निर्भयता सत्यका व नम्रता अहिंसाका प्रतीक है।) सत्य व अहिंसा इन दो गुणोंकी पूंजी लेकर निर्भयतापूर्वक आगे बढ़ते रहना चाहिए। जीवन विशाल है। उसमें हमें बेरोक संचार करते चले जाना चाहिए। पांव इधर-उधर गलत न पड़ जाय, इसके लिए नम्रताके साथ रहनेसे फिर कोई खतरा नहीं रह जाता। अब शौकसे सत्य-अहिंसाके प्रयोग सर्वत्र करते हुए चले जाइये। तात्पर्य यह कि सत्य व अहिंसाका विकास निर्भयता व नम्रताके द्वारा होता है।

इस तरह एक ओर जहां सद्गुणोंकी फौज खड़ी है, तहां दूसरी ओर दुर्गुणोंकी भी तैयार है। दंभ, अज्ञान आदि दुर्गुणोंके संबंधमें अधिक कहनेकी आवश्यकता नहीं है। इनसे हमारा नित्यका परिचय है। दंभके तो जैसे हम आदी हो गये हैं। सारा जीवन ही मानो दंभकी बुनियादपर खड़ा किया गया है। अज्ञानके बारेमें कहा जाय तो वह एक ऐसा मनोहर कारण बन गया है, जिसे हम कदम-कदमपर आगे कर देते हैं। मानों अज्ञान कोई बड़ा गुनाह ही न हो। परंतु भगवान् कहते हैं—"अज्ञान पाप है।" सुकरातने इससे उलटा कहा था। अपने मुकदमेके दौरानमें उसने कहा—"जिसको तुम पाप समझते हो, वह अज्ञान है और अज्ञान क्षम्य है। अज्ञान के बिना पाप हो ही कैसे सकता है और अज्ञानको तुम सजा कैसे दोगे?" परंतु भगवान् कहते हैं,"अज्ञान भी पाप ही है।" कानूनमें कहा है कि कानूनका अज्ञान सफाईकी दलील नहीं हो सकती। ईश्वरीय कानूनका अज्ञान भी बहुत बड़ा अपराध है। भगवान्के व सुकरातके कथनका भावार्थ एक ही है। अपने अज्ञानकी ओर किस दृष्टिसे देखना चाहिए, यह भगवान् बताते हैं तो दूसरेके पापकी ओर किस दृष्टिसे देखना चाहिए, यह सुकरात बताता है। दूसरेके पाप क्षमा करने चाहिए, परंतु खुदके अज्ञानको भी क्षमा करना पाप है। अपना अज्ञान तो हमें जरा भी शेष न रखना चाहिए।

(९०)

इस तरह एक ओर दैवी संपत्ति व दूसरी ओर आसुरी संपत्ति—ऐसी दो सेनाएं खड़ी हैं। इसमेंसे आसुरी संपत्तिको छोड़ना व दैवीको

पकड़ लेना चाहिए। सत्य, अहिंसा आदि दैवी गुणोंका विकास अनादि कालसे होता चला आया है। बीच में जो काल गया, उसमें में भी बहुत-कुछ विकास हुआ है। तो भी अभी बहुत विकास बाकी है। विकास की मर्यादा खतम हो गई हो, सो बात नहीं। जबतक हमें सामाजिक शरीर प्राप्त है, तबतक विकासके लिए हमें अनन्त अवकाश है। वैयक्तिक विकास हो गया तो भी सामाजिक, राष्ट्रीय, जागतिक विकास शेष रहता ही है। व्यक्तिको अपने विकासका खाद देकर फिर समाज, राष्ट्रके लाखों व्यक्तियोंके विकासकी शुरुआत करनी होती है। जैसे मानवद्वारा अहिंसाका विकास अनादि कालसे हो रहा है, तो भी, आज भी, वह विकास-क्रिया जारी ही है।

अहिंसाका विकास किस तरह होता गया, यह देखने लायक है। उससे यह समझमें आजायगा कि पारमार्थिक जीवनका विकास उत्तरोत्तर किस तरह हो रहा है और उसे अभी कितना अवकाश है। पहले अहिंसक मानव यह विचार करने लगा कि हिंसक लोगोंके हमलेसे कैसे बचाव किया जाय? शुरूमें समाजकी रक्षाके लिए क्षत्रिय वर्ग बनाया गया; परन्तु वह आगे जाकर समाज-भक्षण करने लगा। तब इन उन्मत्त क्षत्रियोंसे समाजका बचाव कैसे किया जाय, यह विचार अहिंसक ब्राह्मण करने लगे। परशुरामने खुद, अहिंसक होकर भी हिंसाका अवलंबन किया व क्षत्रियोंका वे विनाश करने लगे। क्षत्रियोंसे हिंसा छुड़ानेके लिए वे स्वतः हिंसक बने। यह अहिंसाका ही प्रयोग था, परन्तु वह सफल नहीं हुआ। इक्कीस बार क्षत्रियोंका संहार उन्होंने किया, फिर भी क्षत्रिय बच ही रहे; क्योंकि यह प्रयोग मूलमें ही गलत था। जिन क्षत्रियोंको नष्ट करने वे चले थे, उनमें एक और क्षत्रिय बढ़ गया। तो फिर वह क्षत्रिय वर्ण नष्ट कैसे होता? खुद ही हिंसक क्षत्रिय बन गया। वह बीज तो कायम ही रहा। बीजको कायम रखकर जो झाड़-पेड़ तोड़ता है, उसे वे पेड़ पुनः-पुनः पैदा हुए ही दीखेंगे। परशुराम थे भले आदमी, परन्तु उनका प्रयोग बड़ा विचित्र हुआ। स्वतः क्षत्रिय बनकर वे पृथ्वीको निःक्षत्रिय बनाना चाहते थे। सच तो यह कि उन्हें खुदसे ही प्रयोग शुरू करना चाहिए था। उन्हें चाहिए कि पहले वे खुद अपना ही सिर उड़ा देते; परन्तु

मैं जो यहां परशुरामका दोष दिखा रहा हूं, सो इस खयालसे नहीं कि मैं उनसे ज्यादा बुद्धिमान हूं। मैं तो बच्चा हूं,परंतु उनके कंधे पर खड़ा हूं, इससे मुझे अनायास अधिक दूर दिखाई देता है। परशुरामके प्रयोगकी बुनियाद ही गलत थी। हिंसामय होकर हिंसा दूर करना सम्भव नहीं। इससे उल्टे हिंसकोंकी संख्या अलबत्ते बढ़ती है। परन्तु उस समय यह बात ध्यानमें नहीं आई। उस समयके भले-भले आदमियोंने, महान् अहिंसामय लोगों ने जैसा उन्हें सूझा, प्रयोग किया। परशुराम उस कालके महान् अहिंसावादी थे। हिंसाके उद्देश्यसे उन्होंने हिंसा नहीं की। अहिंसाकी स्थापनाके लिए उन्होंने हिंसाका अवलम्बन किया था।

किंतु वह प्रयोग असफल हो गया। बादमें रामका युग आया। उस समय फिर ब्राह्मणोंने विचार शुरू किया। उन्होंने हिंसा छोड़ दी थी। उन्होंने निश्चय किया था कि हम खुद तो हिंसा करेंगे ही नहीं। तब राक्षसोंके आक्रमणोंसे बचाव कैसे हो? उन्होंने सोचा कि ये क्षत्रिय हिंसा करनेवाले तो हैं ही। उन्हींसे राक्षसोंका संहार करा डालना चाहिए। कांटेसे काटा निकाल डालना चाहिए। हम खुद अपने अलग-अलग बने रहें। सो विश्वामित्रने यज्ञ-रक्षणार्थ राम-लक्ष्मणको ले जाकर उनके द्वारा राक्षसोंका संहार करवाया। आज हम ऐसा विचार करते हैं कि जो अहिंसा स्वसंरक्षित नहीं है, जिसके अपने पांव नहीं हैं, ऐसी लंगड़ी-लूली अहिंसा खड़ी कैसे रहेगी? परंतु वसिष्ठ-विश्वामित्र जैसोंको क्षत्रियके बलपर अपनी रक्षा करा लेनेमें कोई दोष या त्रुटि नहीं मालूम हुई। परंतु यदि रामके जैसा क्षत्रिय न मिला होता तो? विश्वामित्रने कहा होता, "मैं मर भले ही जाऊं, पर हिंसा नहीं करूंगा।" क्योंकि हिंसक बनकर हिंसा करने का प्रयोग हो चुका था। अब इतना तो निश्चित हो ही चुका था कि खुद अहिंसा नहीं छोड़ेंगे। कोई क्षत्रिय यदि नहीं मिला तो अहिंसक मर जाना पसन्द करेंगे—यह भूमिका अब तैयार हो चुकी थी। विश्वामित्रके साथ जाते हुए राम पूछते हैं—"ये ढेर किस चीजके हैं?" विश्वामित्रने कहा—"ये ब्राह्मणोंकी हड्डियोंके ढेर हैं। अहिंसक ब्राह्मणों की हड्डियोंके ढेर हैं। अहिंसक ब्राह्मणोंने आक्रमणकारी हिंसक राक्षसोंका प्रतिकार न किया। वे मर मिटे। उन्हींकी हड्डियों

के ये ढेर हैं।" इस अहिंसामें ब्राह्मणोंका त्याग तो था; परंतु साथ ही दूसरोंसे अपने संरक्षणकी अपेक्षा वे रखते थे। ऐसी दुर्बलतामें रहते हुए अहिंसा पूर्णताको नहीं पहुंच सकती थी।

आगे तीसरा प्रयोग संतोंने किया। उन्होंने तय किया—"हम अपने बचावके लिए दूसरोंकी सहायता कदापि नहीं लेंगे। हमारी अहिंसा ही हमारा बचाव करेगी। ऐसा बचाव ही सच्चा बचाव होगा।" इनका यह प्रयोग व्यक्ति-निष्ठ था। इस व्यक्तिगत प्रयोगको उन्होंने पूर्णता को पहुंचा दिया, परंतु आखिर रहा यह व्यक्तिगत ही। समाज पर यदि हिंसक लोगोंके हमले होते व समाज संतोंसे आकर पूछता कि 'अब क्या करें' तो शायद संत उसका निश्चित उत्तर न दे पाते। व्यक्तिगत जीवनमें परिपूर्ण अहिंसा ले आनेवाले वे संत समाजको यही जवाब दे पाते—"भाई, हम लाचार हैं।" संतों की इस प्रकार कमी बताना मेरा बाल-साहस है, परंतु उनके कंधेपर बैठकर मुझे जो कुछ दीखता है वही मैं बता रहा हूं। वे मुझे इसके लिए क्षमा करें और वे कर भी देंगे। क्योंकि उनकी क्षमा महान् है। अहिंसाके साधन द्वारा सामूहिक प्रयोग करनेकी उन्हें प्रेरणा न हुई तो, ऐसा नहीं कह सकते; लेकिन उस समयकी परिस्थिति उन्हें शायद अनुकूल न लगी हो। उन्होंने अपने लिए अलग-अलग प्रयोग किये; परंतु ऐसे पृथक्-पृथक् किये हुए प्रयोगोंसे ही शास्त्रकी रचना होती है। सम्मिलित अनुभवोंसे शास्त्र बनता है।

संतोंके व्यक्तिगत प्रयोगके बाद आज हम चौथा प्रयोग कर रहे हैं। वह है—सारा समाज मिलकर अहिंसात्मक साधनके द्वारा हिंसाका प्रतिकार करे। इस तरह चार प्रयोग अबतक हुए हैं। प्रत्येक प्रयोगमें अपूर्णता थी व है। विकास-क्रममें यह बात अपरिहार्य ही है। परंतु यह तो कहना ही होगा कि उस-उस कालके लिए वे-वे प्रयोग पूर्ण ही थे और दस हजार सालके बाद आजके इस हमारे अहिंसक युद्धमें भी बहुत कुछ हिंसाका भाग दिखाई देगा। शुद्ध अहिंसाके और प्रयोग होते ही रहेंगे। ज्ञान, कर्म व भक्तिका ही नहीं, तमाम सद्गुणोंका विकास हो रहा है। पूर्ण वस्तु एक ही है। वह है परमात्मा। भगवद्गीताका पुरुषोत्तम-योग पूर्ण है, परंतु व्यक्ति और समुदायके

जीवनमें अभी उनका पूर्ण विकास होना बाकी है। वचनोंका भी विकास होता है। ऋषि मन्त्रोंके द्रष्टा समझे जाते थे, कर्त्ता नहीं; क्योंकि उन्हें मंत्रोंका जो अर्थ दीखा, वही उसका अर्थ हो, सो बात नहीं। उन्हें उनका एक दर्शन हुआ। उसके बाद हमें उसका और विकसित अर्थ दीख सकता है। उनसे यदि हमें कुछ अधिक दीख जाता है तो यह हमारी विशेषता नहीं है; क्योंकि उन्हींके आधारपर हम आगे बढ़ते हैं। मैं यहां जो अहिंसाके ही विकासकी बात कर रहा हूं वह इसलिए कि यदि हम सब सद्‌गुणोंका साधारण रूपसे सार निकालें तो वह 'अहिंसा' ही निकलेगा। और दूसरे, हम आज अहिंसात्मक युद्धमें ही पड़े हुए हैं। अतः मैंने बताया कि इस तत्त्वका विकास कैसे हो रहा है।

(९१)

अबतक हमने अहिंसाका एक यह पहलू देखा कि यदि हिंसकोंके हमले हों तो अहिंसक अपना बचाव कैसे करें? व्यक्तियोंके पारस्परिक झगड़ोंमें अहिंसाका विकास किस तरह हो रहा है, यह हमने देखा। लेकिन झगड़ा तो मनुष्य व पशुमें भी हो रहा है। मनुष्य अभीतक अपने आपसके झगड़े मिटा नहीं पाया है, व पशुको पेटमें ठूंसकर वह जी रहा है। अपने झगड़े वह अभीतक मिटा नहीं पाता है, अपनेसे हीन कोटिके दुर्बल पशुओं—जीवोंको खाये बिना वह जी नहीं सकता है। हजारों वर्ष जीकर भी किस तरह जीया जाय, इसका विचार अभीतक मनुष्यने नहीं किया। मनुष्य मनुष्यकी तरह नहीं जी सकता; परंतु इस बातका भी विकास हो रहा है। एक समय था जब मनुष्य केवल पशुओंपर ही अपना निर्वाह करता था। परंतु जो उत्तम व बुद्धिमान लोग थे, उन्हें यह नहीं जंचा। उन्होंने यह पाबंदी लगाई कि यदि मांस ही खाना हो तो यज्ञमें बलि दिये गए पशुओंका ही मांस खाना चाहिए। इसमें हेतु यह था कि हिंसाकी रोक हो। कइयोंने तो पूर्ण रूपसे भी मांस छोड़ दिया; परंतु जो पूरा-पूरा मांस नहीं छोड़ सकते थे, उन्हें यह अनुमति दी गई कि वे उस यज्ञमें परमेश्वरको अर्पण करके, कुछ तपस्या करके फिर खावें। उस समय यह समझा गया था कि 'यज्ञमें ही मांस खा सकते हैं' ऐसी पाबंदी लगा

देनेसे हिंसा रुक जायगी; परंतु बादमें यज्ञ एक रोजमर्राकी चीज हो गया । जिसके जीमें आता, वही यज्ञ करने लगा और मांस खाने लगा । तब भगवान् बुद्ध कुछ आगे बढ़े । उन्होंने कहा—"तुम्हें मांस खाना हो तो खाओ, परंतु निदान भगवान्का नाम लेकर तो मत खाओ ।" इन दोनों वचनोंका, हेतु एक ही था—हिंसाकी रोक हो, गाड़ी किसी-न-किसी तरह संयमके मार्गपर आवे । यज्ञयाग करो या न करो—दोनोंसे हमने मांसाशन त्याग ही सीखा । इस तरह हम धीरे-धीरे मांस खानेसे परहेज करने लगे ।

संसारके इतिहासमें अकेले भारतवर्षमें ही यह महान् प्रयोग हुआ । करोड़ों लोगोंने मांस खाना छोड़ दिया और आज हम मांस नहीं खाते हैं, इसमें हमारी कोई बड़ाई नहीं है । पूर्वजोंकी पुण्याईसे हम इसके आदी हो गए हैं परंतु पहलेके ऋषि मांस खाते थे, ऐसा यदि हमने कहा या पढ़ा तो हमें आश्चर्य मालूम होता है । "क्या बकते हो ? ऋषि और मांस खाते थे ? कभी नहीं ।" परंतु मांसाशन करते हुए उन्होंने संयम करके उसका त्याग किया है । इसका श्रेय उनको है । उन कष्टोंका अनुभव आज हमें नहीं होता । उनकी पुण्याई धरी-धराई हमें मिल गई । भवभूतिके उत्तररामचरितमें एक प्रसंग आया है । वाल्मीकि-आश्रममें वसिष्ठ ऋषि आये तब उनके स्वागतमें एक छोटा गायका बछड़ा मारा गया । तो एक छोटा लड़का बड़े लड़केसे पूछता है—"आज हमारे आश्रममें एक दाढ़ीवाला शेर आया है । उसने हमारा बछड़ा खा डाला न ?" बड़ा लड़का जवाब देता है—"हट, वे तो वसिष्ठ ऋषि हैं । ऐसा मत बको ।" पहले वे मांसाशन करते थे और आज हम नहीं करते हैं—इसका अर्थ यह नहीं कि हम आज उनसे बड़े हो गए हैं । उनके अनुभवका लाभ हमें अनायास ही मिल गया है । हमें उनके इस अनुभवका विकास करना चाहिए । हमें दूध बिलकुल ही छोड़ देनेका भी प्रयोग करना चाहिए । मनुष्यका अन्य जीवोंका दूध पीना भी है तो अनुचित ही । दस हजार साल आगे आनेवाले लोग हमारे विषयमें कहेंगे—"क्यों हमारे पूर्वजोंको दूध न पीनेका व्रत लेना पड़ा था ? राम-राम, वे दूध कैसे पीते होंगे ? ऐसे वे जंगली थे ?" मतलब यह कि हमें निडर होकर, लेकिन नम्रतापूर्वक अपने प्रयोग करते हुए निरंतर आगे बढ़ते जाना चाहिए ।

सत्यका क्षितिज विशाल करते जाना चाहिए। विकासके लिए अभी बहुत गुंजाइश है। किसी भी गुणका पूर्ण विकास नहीं हो पाया है।

(९२)

हमें दैवी संपत्तिका विकास करना है व आसुरी संपदासे दूर रहना है। आसुरी संपत्तिका वर्णन भगवान्‌ने इसीलिए किया है कि हम उससे दूर रह सकें। इसमें कुल तीन बातें मुख्य हैं। असुरोंके चरित्रका सार 'सत्ता, संस्कृति व संपत्ति' इनमें है। वे कहते हैं—एक हमारी ही संस्कृति उत्कृष्ट है और उनकी महत्त्वाकांक्षा होती है कि वही सारे संसारपर लादी जाय। हमारी ही संस्कृति क्यों लादी जाय ? तो कहते हैं—वही सबसे अच्छी है। अच्छी क्यों है ? क्योंकि वह हमारी है। चाहे आसुरी व्यक्ति हों, चाहे उनसे बने साम्राज्य हों, उनके लिए ये तीन चीजें आवश्यक हैं।

ब्राह्मण भी तो ऐसा ही समझते हैं कि हमारी संस्कृति सर्वश्रेष्ठ है। सारा ज्ञान हमारे वेदोंमें भरा हुआ है। वैदिक संस्कृतिकी विजय सारी दुनियामें होनी चाहिए। 'अग्रतश्चतुरो वेदान् पृष्ठतः सशरं धनुः'—इस तरह सज्ज होकर सारी पृथ्वीपर अपनी संस्कृतिका झंडा फहराओ, परंतु पीठपर जहां 'सशरं धनुः' रहा तो फिर आगे हाथमें रक्खे बेचारे वेदोंका खातमा ही समझिए। मुसलमान भी तो ऐसा ही समझते हैं कि कुरानशरीफमें जितना कुछ लिखा है, वही सच है। ईसाई भी ऐसा ही मानते हैं। दूसरे मजहबका आदमी कितना ही उच्चकोटिका क्यों न हो, वह जबतक ईसामसीहपर विश्वास नहीं लाता, तबतक वह स्वर्गमें नहीं जा सकता। भगवान्‌के मंदिरका उन्होंने सिर्फ एक ही दरवाजा रक्खा है, वह है ईसामसीहवाला। लोग तो अपने-अपने घरोंमें अनेक दरवाजे व खिड़कियां लगाते हैं; परंतु बेचारे भगवान्‌के मंदिरका सिर्फ एक ही दरवाजा वे रखते हैं।

"मैं ही कुलीन श्रीमंत, मेरी जोड़ कहीं नहीं।"

यही सब मानते हैं। मैं कौन ? तो भारद्वाज-कुलका। मेरी यह परंपरा अबाधित रूपसे चल रही है। यही हाल पश्चिमी लोगोंका है। हमारी नसोंमें, कहते हैं, नार्मन लोगोंका खून बहता है ! हमारे यहां

गुरु-परंपरा है न। मूल आदि गुरु हैं शंकर। फिर ब्रह्मदेव या और कोई, फिर नारद, व्यास, फिर कोई और ऋषि, फिर बीचमें दस-पांच नाम आते हैं, बादमें अपने गुरुका नाम व फिर मैं—ऐसी परंपरा बताई जाती है। इस वंशावलिसे यह सिद्ध किया जाता है कि हम बड़े, हमारी संस्कृति श्रेष्ठ। भाई, यदि आपकी संस्कृति सचमुच ही श्रेष्ठ है तो उसे आपके आचरण में दीखने दो न! उसकी प्रभा आपके जीवन में फैलने दो न! परंतु ऐसा नहीं होता। जो संस्कृति खुद हमारे जीवनमें नहीं है, हमारे घरमें नहीं है, उसे संसारभरमें फैलानेकी आकांक्षा रखना—इस विचार-सरणिको आसुरी कहते हैं।

फिर, जैसे मेरी संस्कृति सुंदर, बढ़िया है, वैसे ही यह विचार भी ह कि संसारकी सारी संपत्ति रखनेके योग्य भी मैं ही हूं। संसारकी सारी संपत्ति मुझे चाहिए व मैं उसे प्राप्त करके ही रहूंगा। यह संपत्ति प्राप्त किसलिए करूं? तो सबमें समान रूपसे बांटनेके लिए इसके लिए मैं स्वत: अपनेको धन-संपत्तिमें गाड़ लेता हूं। अकबरने यही तो कहा था—"ये राजपूत अभी मेरे साम्राज्यमें क्यों नहीं शरीक होते? एक बड़ी सल्तनत हो जाय तो दुनियामें अमनोअमान कायम हो जायगा।" वह सचमुच ईमानदारीसे ऐसा मानता था। वर्तमान असुरोंकी भी ऐसी ही धारणा है। दुनियाभरकी संपत्ति बटोरी क्यों जाय? उसे फिर सबमें बांटनेके लिए!

उसके लिए मुझे सत्ता चाहिए। सारी सत्ता एक हाथमें केन्द्रीभूत होनी चाहिए। सारी दुनिया मेरे तंत्रमें आ जानी चाहिए। स्व-तंत्र—मेरे तंत्र—के अनुसार चलनी चाहिए। जो कुछ मेरे अधीन होगा, जो मेरे तंत्रसे चलेगा वही स्व-तंत्र। इस तरह संस्कृति, सत्ता व संपत्ति, इन तीन मुख्य बातोंपर आसुरी संपत्तिमें जोर दिया जाता है।

एक समय ऐसा था, जब समाजमें ब्राह्मणोंका प्रभुत्व था। वे शास्त्रोंकी कानूनकी रचना करते थे। राजा उन्हें बड़ा मानता था। वह युग बदला। क्षत्रियोंका युग आया। घोड़े छोड़े जाने लगे, दिग्विजय होने लगे। यह क्षत्रिय-संस्कृति भी आई व चली गई। ब्राह्मण कहता—"मैं विद्या देनेवाला, दूसरे लेनेवाले, मेरे सिवा गुरु कौन?" ब्राह्मणोंको अपनी संस्कृतिका अभिमान था। क्षत्रियोंका जोर सत्तापर था—"आज

इसे मारा, कल उसे मारूंगा।" इस बातपर उनका सारा जोर रहता था। फिर वैश्योंका युग आया। उनका सारा तत्त्वज्ञान यही है—"पीठपर मारो, पर पेटमें मत मारो।" इसमें वैश्योंका सारा तत्त्वज्ञान है, पेटकी सारी अक्ल। "यह धन मेरा, और वह भी मेरा हो जायगा।" यही जप और यही संकल्प। अंग्रेज हमें कहते हैं न—"स्वराज्य चाहिए तो ले लो, परंतु हमारा तैयार माल बेचनेकी सुविधा, सहूलियतें हमें दे दो, फिर भले ही आप अपनी संस्कृतिका अध्ययन करते रहिये। लंगोटी लगाओ और अपनी संस्कृतिको लिये बैठे रहो।" आजकल जो युद्ध होते हैं, वे व्यापारके लिए ही। यह युग भी जायगा, जानेकी शुरुआत भी हो गई है। इस तरह ये सब आसुरी संपत्तिके प्रकार हैं।

(९३)

हम आसुरी संपत्तिको दूर हटाते रहें। थोड़ेमें कहें तो आसुरी संपत्तिका अर्थ है "काम, क्रोध, लोभ।" ये ही तीनों सारे संसारको नचा रहे हैं। अब इस नाचको खतम करो। इससे हमें बाज आना ही चाहिए। क्रोध व लोभ कामकी बदौलत पैदा होते हैं। कामके अनुकूल परिस्थिति पैदा होनेसे लोभ पैदा होता है व प्रतिकूलता आनेसे क्रोध। गीतामें हर कदमपर यह कहा है कि इन तीनोंसे बचते रहो। सोलहवें अध्यायमें अंतमें यही कहा है—काम-क्रोध-लोभ, ये ही नरकके तीन बड़े फाटक हैं। इनमें बहुत राहदारी होती है। अनेक लोग आते-जाते हैं। नरकका रास्ता खूब चौड़ा है। उसमें मोटरें चलती हैं, बहुतेरे साथी भी रास्तेमें मिल जाते हैं; परंतु सत्यकी राह संकड़ी है।

तो अब, इन काम-क्रोध-लोभसे बचें कैसे? संयम-मार्ग अंगीकार करके। शास्त्रीय संयमका पल्ला पकड़ लेना चाहिए। संतोंका अनुभव ही शास्त्र है। प्रयोग द्वारा जो अनुभव संतोंको हुए, उन्हींसे शास्त्र बनता है। सो इस संयम-सिद्धांतका हाथ पकड़ो। फिजूल शंका-कुशंका मत रक्खो। कृपा करके ऐसा तर्क, ऐसी शंका मत लाइए कि यदि काम-क्रोध उठ गये तो फिर दुनियाका क्या हाल होगा, वह तो चलनी ही चाहिए, काम-क्रोध थोड़े भी न रहने चाहिए? मेरे भाइयो, काम-क्रोध पहलेसे ही भरपूर हैं। आपको जितने चाहिए, उससे भी कहीं ज्यादा हैं। फिर क्यों व्यर्थमें बुद्धि-भेद पैदा करते हैं? काम-क्रोध-लोभ आपकी चाहसे

इंच भर अधिक ही दुनियामें है। यह चिंता मत रखिए कि काम मर जायगा तो संतति कैसे पैदा होगी ? आप चाहे कितनी ही संतति पैदा कीजिए, एक दिन ऐसा आने ही वाला है, जब पृथ्वीपरसे मनुष्यका नाम-निशान एकदम मिट जायगा। शास्त्रज्ञोंका, विज्ञानियोंका ऐसा कहना है। पृथ्वी धीरे-धीरे ठंडी होती जा रही है। एक समय पृथ्वी अत्यंत उष्ण थी। तब उसपर जीवधारी नहीं रहते थे। जीव पैदा ही नहीं हुआ था। अब एक समय ऐसा आ जायगा कि पृथ्वी अत्यंत ठंडी हो जायगी व सारी जीव-सृष्टिका लय हो जायगा। इस बातको लाख साल लग जायंगे। आप कितनी ही संतान-वृद्धि क्यों न करें, अंतको यह प्रलय निश्चित रूपसे आने ही वाला है। परमेश्वर जो अवतार लेता है, सो धर्म-संरक्षणके लिए, संख्या-संरक्षणके लिए नहीं। जबतक एक भी धर्मपरायण मनुष्य है, एक भी पाप-भीरु व सत्यनिष्ठ मनुष्य है, तबतक कोई चिंता नहीं। उसकी ओर ईश्वरकी दृष्टि बनी रहेगी। जिसका धर्म मर चुका है, ऐसे हजारों लोग रहें तो क्या व न रहें तो क्या, दोनों एक-से हैं।

इस बातपर ध्यान रखकर सृष्टिमें ढंगसे रहिए, संयमसे चलिए। सीमा छोड़कर बेतहाशा मत भागिए। लोक-संग्रहका अर्थ यह नहीं कि लोग जैसा कहें वैसा किया जाय। मनुष्योंका संघ बढ़ाते जाना, संपत्तिका ढेर इकट्ठा करते जाना—यह सुधार नहीं है। विकास संख्यापर अवलंबित नहीं है। समाज यदि बेशुमार बढ़ने लगेगा तो लोग एक-दूसरेका खून करने लग जायंगे। पहले पशु-पक्षियोंको खाकर मनुष्य मस्त बनेगा। फिर अपने लड़के-बच्चोंको खाकर रहना पड़ेगा। काम-क्रोधमें कुछ सार है, यह बात यदि मान लें तो फिर अंतमें मनुष्य मनुष्यको फाड़ खायगा इसमें तिलमात्र संदेह नहीं है। लोक-संग्रहका अर्थ है सुंदर व विशुद्ध नीति-मार्ग लोगोंको दिखाना। काम-क्रोधसे मुक्त हो जानेपर यदि मनुष्यका लोप पृथ्वीसे हो जायगा, तो आप चिंता न करें वह मंगल (ग्रह) में उत्पन्न हो जायगा। अव्यक्त परमात्मा सब जगह व्याप्त है। वह हमारी चिंता कर लेगा। अतः पहले हम मुक्त हो लें। आगे बहुत दूर देखनेकी जरूरत नहीं है। सारी सृष्टि व मानव-जातिकी चिंता मत करो। तुम अपनी नैतिक शक्तिको बढ़ाओ, काम-क्रोधका पल्ला झाड़-

कर फेंक दो। "अपना तो गला लो पहले छुड़ा।" तुम्हारी गर्दन जो फंस रही है, पहले उसे तो छुड़ा लो। इतना कर लिया तो बहुत काम बन गया।

संसार-समुद्रसे दूर किनारे खड़े रहकर समुद्रकी मौज देखनेमें आनंद है। जो समुद्रमें डूब रहा है, जिसकी आंख-नाकमें पानी भर गया है, उसे समुद्रमें क्या आनंद है? संत समुद्र-तटपर खड़े रहकर आनंद लूटते हैं। संसारसे अलिप्त रहनेकी इस संतवृत्तिका जीवनमें संचार हुए बिना आनंद नहीं हो सकता। अतः कमल-पत्र की तरह अलिप्त रहो। बुद्धने कहा है, "संत महान् पर्वतके शिखरपर खड़े रहकर नीचे संसारकी ओर देखते हैं, तब उन्हें संसार क्षुद्र मालूम होता है।" आप भी ऊपर चढ़कर देखिए तो फिर यह विशाल विस्तार क्षुद्र दिखाई देगा। फिर संसारमें मन ही नहीं लगेगा।

सारांश, भगवान्‌ने इस अध्यायमें आग्रहपूर्वक कहा है कि आसुरी संपत्तिको हटाकर दैवी संपत्ति प्राप्त करो। आइए, हम ऐसा ही यत्न करें।

रविवार, ५-६-३२

सत्रहवां अध्याय

(९४)

प्यारे भाइयो, हम धीरे-धीरे सिरेतक पहुंचते आ रहे हैं। पंद्रहवें अध्यायमें हमने जीवनके संपूर्ण शास्त्रका अवलोकन किया। सोलहवें अध्यायमें एक परिशिष्ट देखा। मनुष्यके मनमें, और उसके मनके प्रतिबिंबस्वरूप समाजमें, दो वृत्तियां, दो संस्कृतियों अथवा दो संपत्तियों का झगड़ा चल रहा है। इनमेंसे हमें दैवी संपत्तिका विकास करना चाहिए, यह शिक्षा हमें सोलहवें अध्यायके परिशिष्टमें मिली है। आज सत्रहवें अध्यायमें हमें दूसरा परिशिष्ट देखना है। एक दृष्टिसे कह सकते हैं कि इसमें कार्य-क्रम-योग कहा गया है। गीता इस अध्यायमें रोजके कार्यक्रमकी सूचना कर रही है। आजके अध्यायमें हमें नित्य क्रियापर विचार करना है।

अगर हम चाहते हैं कि हमारी वृत्ति मुक्त और प्रसन्न रहे तो हमें अपने व्यवहारका एक क्रम बांध लेना चाहिए। हमारा नित्यका कार्य-क्रम किसी-न-किसी निश्चित आधारपर चलना चाहिए। मन तभी मुक्त रह सकता है जब कि हमारा जीवन उस मर्यादामें और उस निश्चित नियमित रीतिसे चलता रहे। नदी स्वच्छंदतासे बहती है; परंतु उसका प्रवाह बंधा हुआ है। यदि वह बद्ध न हो तो उसकी मुक्तता व्यर्थ चली जायगी। ज्ञानी पुरुषका उदाहरण अपनी आंखोंके सामने लाओ। सूर्य ज्ञानी पुरुषोंका आचार्य है। भगवान्‌ने पहले-पहल कर्म-योग सूर्यको सिखाया, फिर सूर्यसे मनुको—अर्थात् विचार करनेवाले मनुष्यको वह प्राप्त हुआ। सूर्य स्वतंत्र और मुक्त है। वह नियमित है—इसीमें उसकी स्वतंत्रताका सार है। यह हमारे अनुभवकी बात है कि अगर हमें एक निश्चित रास्तेसे घूमने जानेकी आदत है तो रास्तेकी ओर ध्यान न देते हुए भी मनसे विचार करते हुए हम घूम सकते हैं। यदि घूमनेके लिए हम रोज-रोज नये रास्ते निकालते रहेंगे तो सारा

ध्यान उन रास्तोंमें ही लगाना पड़ेगा। फिर मनको मुक्तता नहीं मिल सकती। मतलब यह कि हमें अपना व्यवहार इसीलिए बांध लेना चाहिए कि जीवन एक बोझ-सा मालूम न हो, बल्कि आनंदमय प्रतीत हो।

इसलिए भगवान् इस अध्यायमें कार्यक्रम बता रहे हैं। हम पैदा होते ही तीन संस्थाएं साथ लेकर आते हैं। मनुष्य इन तीनों संस्थाओंका कार्य भलीभांति चलाकर अपना संसार सुखमय बना सके, इसीलिए गीता यह कार्यक्रम बनाती है। वे तीन संस्थाएं कौन-सी हैं? पहली संस्था है—हमारे आस-पास लपटा हुआ यह शरीर। दूसरी संस्था है—हमारे आस-पास फैला हुआ यह विशाल ब्रह्मांड—यह अपार सृष्टि, जिसके कि हम एक अंश हैं। जिसमें हमारा जन्म हुआ वह समाज, हमारे जन्मकी प्रतीक्षा करनेवाले वे माता-पिता, भाई-बहन, अड़ोसी-पड़ोसी—यह हुई तीसरी संस्था। हम रोज इन तीन संस्थाओंका उपयोग करते हैं—इन्हें छिजाते हैं। गीता चाहती है कि हमारे द्वारा इन संस्थाओंमें जो छीजन आती है उसकी पूर्तिके लिए हम सतत प्रयत्न करें और अपने जीवनको सफल बनावें। इन संस्थाओंके प्रति हमारा यह जन्मजात कर्त्तव्य हमें निरहंकार भावनासे करना चाहिए।

इन कर्त्तव्योंको पूरा तो करना है; परंतु उनकी पूर्तिकी योजना क्या हो? यज्ञ, दान और तप—इन तीनोंके योगसे ही वह योजना बनती है। यद्यपि इन शब्दोंसे हम परिचित हैं, तो भी इनका अर्थ हम अच्छी तरह नहीं समझते हैं। अगर हम इनका अर्थ समझ लें और इन्हें अपने जीवनमें समाविष्ट करें तो ये संस्थाएं सफल हो जायं और हमारा जीवन भी मुक्त और प्रसन्न रहे।

(९५)

इस अर्थको समझनेके लिए पहले हम यह देखें कि यज्ञका अर्थ क्या है। सृष्टि-संस्थासे हम प्रतिदिन काम लेते हैं। अगर सौ आदमी एक जगह रहते हैं तो दूसरे दिन वहां की सारी सृष्टि दूषित दिखाई देने लगती है। वहांकी हवा हम दूषित कर देते हैं, जगह गंदी कर देते हैं। अन्न खाते हैं और सृष्टिको भी छिजाते हैं। सृष्टि संस्थाकी इस छीजनकी

हमें पूर्ति करनी चाहिए । इसीलिए यज्ञ-संस्थाका निर्माण हुआ है। यज्ञका उद्देश्य क्या है ? सृष्टिकी जो हानि हो गई है, उसे पूरा करना ही यज्ञ है। आज हजारों वर्षोंसे हम जमीनें जोतते आ रहे हैं, उससे जमीनका कस कम होता जा रहा है । यज्ञ कहता है—"पृथ्वीको उसका कस वापस लौटा दो, जमीन जोतो, उसे सूर्यकी धूप खाने दो। उसमें खाद डालो ।" छीजनकी पूर्ति करना—यह है यज्ञका एक हेतु। दूसरा हेतु है, उपयोगमें लाई हुई वस्तुओंका शुद्धीकरण। हम कुएंका उपयोग करते हैं, जिससे आसपास गंदगी हो जाती है, पानी इकट्ठा हो जाता है। कुएंके पासकी यह सृष्टि जो खराब हो गई है, उसे शुद्ध करना चाहिए । वहांका गंदा पानी निकाल डालना चाहिए । कीचड़ दूर कर देना चाहिए। क्षति-पूर्ति करने और सफाई करनेके साथ ही वहां कुछ प्रत्यक्ष निर्माण-कार्य भी करना चाहिए । यह तीसरी बात भी यज्ञके अंतर्गत है। हमने कपड़ा पहना। तो हमें चाहिए कि रोज सूत कातकर फिर नव-निर्माण करें। कपास पैदा करना, अनाज उत्पन्न करना, सूत कातना यह भी यज्ञ-क्रिया ही है। यज्ञमें जो-कुछ निर्माण करना है, वह स्वार्थके लिए नहीं, बल्कि हमने जो क्षति की है, उसे पूरा करनेकी कर्त्तव्य-भावना उसमें होनी चाहिए। यह परोपकार नहीं है। हम तो पहलेसे ही कर्जदार हैं ! जन्मतः ही अपने सिरपर ऋण लेकर हम आते हैं। इस ऋणको चुकानेके लिए हमें जो कुछ निर्माण करना है, वह यज्ञ अर्थात् सेवा है, परोपकार नहीं। उस सेवाके जरिये हमें अपना कर्ज चुकाना है । हम पद-पदपर सृष्टि-संस्थाका उपयोग करते हैं । अतः उस हानिकी पूर्ति करनेके लिए, उसकी शुद्धि करनेके लिए व नवीन वस्तु उत्पन्न करनेके लिए हमें यज्ञ करनेकी जरूरत है।

दूसरी संस्था है हमारा मनुष्य-समाज। मां-बाप, गुरु, मित्र ये सब हमारे लिए मेहनत करते हैं। समाजका यह ऋण चुकानेके लिए दानकी व्यवस्थाकी गई है। दानका अर्थ है, समाजका ऋण चुकानेके लिए किया गया प्रयोग। दानका अर्थ परोपकार नहीं। समाजसे मैंने अपार सेवा ली है। जब मैं इस संसार में आया तो दुर्बल और असहाय था। इस समाजने मुझे छोटेसे बड़ा किया है । इसलिए मुझे समाजकी सेवा

करनी चाहिए। परोपकार कहते हैं दूसरेसे कुछ न लेकर की हुई सेवाको। परंतु यहां तो हम समाजसे पहले ही भरपूर ले चुके हैं। समाजके इस ऋणसे मुक्त होनेके लिए जो सेवा की जाय, वही दान है। मनुष्य-समाजको आगे बढ़नेमें मदद करना दान है। सृष्टिकी हानि पूरा करनेके लिए जो श्रम किया जाता है, वह यज्ञ है और समाजका ऋण चुकानेके लिए तन, मन, धन तथा अन्य साधनोंसे जो सहायता की जाती है, वह दान है।

इसके अलावा एक तीसरी संस्था और है। वह है शरीर। शरीर भी दिन-प्रतिदिन छीजता जाता है। हम अपने मन, बुद्धि, इंद्रिय—सबसे काम लेते हैं—इनको छिजाते हैं। इस शरीररूपी संस्थामें जो विकार, जो दोष उत्पन्न हों, उनकी शुद्धिके लिए तप बताया गया है।

इस प्रकार सृष्टि, समाज और शरीर, इन तीनों संस्थाओंका कार्य जिससे अच्छी प्रकार चल सके, उसी तरह व्यवहार करना हमारा कर्त्तव्य है। हम अनेक योग्य-अयोग्य संस्थाएं निर्माण करते हैं; परंतु ये तीन संस्थाएं हमारी बनाई हुई नहीं हैं। ये तो स्वभावतः ही हमको मिल गई हैं। ये संस्थाएं कृत्रिम नहीं हैं। अतः इन तीन संस्थाओंकी हानि यज्ञ, दान और तप—इन साधनोंसे पूरी करना हमारा स्वभाव-प्राप्त धर्म है। अगर हम इस तरहसे चलें तो जो कुछ शक्ति हमारे अंदर है, वह सारी इसमें लग जायगी। अन्य बातोंके लिए और शक्ति बाकी ही नहीं बचेगी। सृष्टि, समाज और यह शरीर, इन तीनों संस्थाओंको समुचित रखनेके लिए हमें अपनी सारी शक्ति खर्च करनी पड़ेगी। यदि कबीरकी तरह हम भी कह सकें कि "हे प्रभो, तूने मुझे जैसी चादर दी थी, वैसी ही मैं लौटाकर जा रहा हूं, तू इसे अच्छी तरह संभालकर देख ले—" तो वह कितनी बड़ी सफलता है! परंतु ऐसी सफलता प्राप्त करनेके लिए यज्ञ, दान व तप यह त्रिविध कार्यक्रम व्यवहारमें पूरा करना चाहिए।

यज्ञ, दान और तपको हमने यहां अलग-अलग माना है; परंतु सच पूछा जाय तो इनमें भेद नहीं है, क्योंकि सृष्टि, समाज और शरीर ये बिलकुल भिन्न-भिन्न संस्थाएं हैं ही नहीं। यह समाज सृष्टिसे बाहर नहीं है, न यह शरीर ही सृष्टिके बाहर है। इन तीनोंको मिलाकर एक ही भव्य

सृष्टि-संस्था बनती है। इसीलिए हम जो उत्पादक श्रम करेंगे, जो दान देंगे, जो तप करेंगे, उन सबको व्यापक अर्थमें 'यज्ञ' ही कह सकते हैं। गीताने चौथे अध्यायमें 'द्रव्य-यज्ञ' 'तपो-यज्ञ' आदि यज्ञ बताये हैं। गीताने यज्ञके अर्थको विशाल बना दिया है।

इन तीनों संस्थाओंके लिए हम जो-जो सेवा-कार्य करेंगे, वे यज्ञरूप ही होंगे। सिर्फ जरूरत है उस सेवाको निरपेक्ष रखने की। उसमें फलकी अपेक्षा तो की ही नहीं जा सकती; क्योंकि फल तो हम पहले ही ले चुके हैं। कर्जा तो पहलेसे ही सिरपर चला आ रहा है। जो ले लिया है, उसे ही वापस करना है। यज्ञसे सृष्टि-संस्थामें साम्यावस्था प्राप्त होती है। दानसे समाजमें साम्यावस्था प्राप्त होती है और तपसे शरीरमें साम्यावस्था रहती है। इस तरह तीनों ही संस्थाओंमें साम्यावस्था रखनेका कार्यक्रम है। इससे शुद्धि होगी। दूषित भाव नष्ट हो जायगा।

यह जो सेवा करनी है, उसके लिए कुछ भोग भी ग्रहण करना पड़ेगा। भोग भी यज्ञका ही एक अंग है। इस भोगको गीता आहार कहती है। इस शरीररूपी यंत्रको अन्नरूपी कोयला देनेकी जरूरत है। यद्यपि यह आहार स्वयं यज्ञ नहीं है, तथापि यज्ञ सिद्ध करनेका एक अंग जरूर है। इसलिए हम कहा करते हैं—"उदर भरण नहीं, जानो यह यज्ञ-कर्म।" बगीचेसे फूल लाकर देवताके सिरपर चढ़ाना यह पूजा है; परंतु फूल उत्पन्न करनेके लिए बगीचेमें जो मेहनतकी जाती है, वह भी पूजा ही है। यज्ञको पूरा करनेके लिए जो कुछ क्रिया की जाती है वह एक प्रकार की पूजा ही है। शरीर तभी हमारे काममें आ सकेगा, जब हम उसे आहार देंगे। यज्ञ-साधनरूप कर्म भी 'यज्ञ' ही है। गीता इन कर्मोंको 'तदर्थीय-कर्म'—'यज्ञार्थ-कर्म' कहती है। सेवार्थ शरीर सतत खड़ा रहे, इसलिए इस शरीरको मैं जो आहुति दूंगा वह यज्ञरूप है। सेवाके लिए ग्रहण किया हुआ आहार पवित्र है।

इन सब बातोंके मूलमें फिर श्रद्धाकी जरूरत है। सारी सेवाको ईश्वरार्पण करनेका भाव मनमें होना चाहिए। यह बहुत महत्त्वकी बात है। ईश्वरार्पण-बुद्धि सेवामयताके बिना नहीं आ सकती। इस प्रधानवस्तु ईश्वरार्पणताको भुला देनेसे काम नहीं चलेगा।

(९६)

परंतु हम अपनी सब क्रियाएं ईश्वरको कब अर्पण कर सकेंगे ? तभी जब कि वे सात्त्विक होंगी । जब हमारे सब कर्म सात्त्विक होंगे, तभी हम उन्हें ईश्वरार्पण कर सकेंगे । यज्ञ, दान और तप सब सात्त्विक होने चाहिए । क्रियाओंको सात्त्विक कैसे बनाना चाहिए, इसका तत्त्व हमने चौदहवें अध्यायमें देख लिया है । इस अध्यायमें गीता उस तत्त्वका विनियोग बता रही है ।

सात्त्विकताकी यह योजना करनेमें गीताका उद्देश्य दुहरा है । बाहरसे यज्ञ, दान व तपरूप जो मेरी सेवा चल रही है, उसीको भीतरसे आध्यात्मिक साधनाका नाम दिया जा सके । सृष्टिकी सेवा और साधना-के भिन्न-भिन्न कार्यक्रम नहीं होने चाहिए । सेवा और साधना, ये दो भिन्न बातें हैं ही नहीं । दोनोंके लिए एक ही प्रयत्न, एक ही कर्म । इस प्रकार जो कर्म किया जाय, उसे भी अंतमें ईश्वरार्पण करना है । समाज-सेवा, अधिक साधना, ईश्वरार्पणता, यह योग एक ही क्रियासे सिद्ध होना चाहिए ।

यज्ञको सात्त्विक बनानेके लिए दो बातोंकी आवश्यकता है । निष्फलताका अभाव और सकामताका अभाव । ये दो बातें यज्ञमें होनी चाहिए । यज्ञमें यदि सकामता होगी तो वह राजस हो जायगा और यदि निष्फलता होगी तो वह तामस यज्ञ हो जायगा ।

सूत कातना यज्ञ है, परंतु यदि सूत कातते हुए हमने उसमें अपनी आत्मा नहीं उंडेली, हमारे चित्तकी एकाग्रता नहीं हुई, तो यह सूत्रयज्ञ जड़ हो जायगा । बाहरसे हाथ काम कर रहे हैं, उस समय अंदरसे मनका मेल—मनोयोग—नहीं है तो वह सारी क्रिया विधिहीन हो जायगी । विधिहीन कर्म जड़ हो जाते हैं । विधिहीन क्रियामें तमोगुण आ जाता है । उस क्रियासे उत्कृष्ट वस्तुका निर्माण नहीं हो सकता । उसमेंसे फलकी निष्पत्ति नहीं होगी । यज्ञमें सकामता न हो तो भी उससे उत्कृष्ट फल मिलना चाहिए । यदि कर्म मन लगाकर न हुआ, अंतःकरणसे न हुआ तो कर्म एक बोझ होगा । फिर उससे उत्कृष्ट फल कहां ? यदि बाहरका काम बिगड़ा तो यह निश्चित समझो कि अंदर मनका योग नहीं था । अतः कर्ममें अपनी आत्मा उंडेलो । आंतरिक सहयोग रखो ।

सृष्टि-संस्थाका ऋण चुकानेके लिए हमें उत्कृष्ट फलोत्पत्ति करनी चाहिए। कर्मोंमें फलहीनता न आने पाये, इसीलिए आंतरिक मेलकी विधि-युक्तता आवश्यक है।

इस प्रकार जब हमारे अंदर निष्कामता आ जायगी और विधिपूर्वक सफल कर्म होगा, तभी हमारी चित्त-शुद्धि होने लगेगी। तो अब चित्त-शुद्धिकी कसौटी क्या है ? बाहरी कामकी जांच करके देखो। यदि वह निर्मल और सुंदर न हो तो चित्तको भी मलिन समझ लेनेमें कोई बाधा नहीं। भला, कर्ममें सुंदरता कब आती है ? शुद्ध चित्तसे परिश्रमके साथ किये हुए कर्मपर ईश्वर अपनी पसंदगीकी, अपनी प्रसन्नताकी मुहर लगा देता है। जब प्रसन्न परमेश्वर कर्मकी पीठपर प्रेमकी थपकी लगाता है तो वहां सौंदर्य उत्पन्न हो जाता है। सौंदर्यके मानी हैं पवित्र श्रमको मिला हुआ परमेश्वरी प्रसाद। कोई शिल्पकार जब मूर्ति बनाते समय तन्मय हो जाता है तो उसे ऐसा अनुभव होने लगता है कि यह सुंदर मूर्ति मेरे हाथोंसे नहीं बनी। मूर्तिका आकार घड़ते-घड़ते अंतिम क्षणमें न जाने कहांसे उसमें अपने-आप सौंदर्य आ जाता है। क्या चित्त-शुद्धिके बिना यह ईश्वरीय कला प्रकट हो सकती है ? मूर्तिमें जो कुछ स्वारस्य माधुर्य—है, वह यही कि अपने अंतःकरणका सारा सौंदर्य उसमें उंडेल दिया होता है। मूर्तिके मानी हैं, हमारे चित्त की प्रतिमा ! हमारे समस्त कर्म हमारे मनकी मूर्तियां हैं। अगर मन सुंदर है तो वह कर्ममय मूर्ति भी सुंदर होगी। बाहरके कर्मोंकी शुद्धि मनकी शुद्धिसे और मनकी शुद्धि बाहरके कर्मोंसे जांच लेनी चाहिए।

एक बात और कहनी रह गई। वह यह कि इन सब कर्मोंमें मंत्रकी भी आवश्यकता है। मंत्र-हीन कर्म व्यर्थ है। सूत कातते समय यह मंत्र अपने हृदयमें रक्खो कि मैं इस सूतसे गरीब जनताके साथ जोड़ा जा रहा हूं। यदि यह मंत्र हृदयमें न हो और घंटों क्रिया की तो भी वह सब व्यर्थ जायगी। उस क्रियासे चित्त शुद्ध नहीं होगा। कपासकी पोनीमेंसे अव्यक्त परमात्मा सूत्ररूपमें प्रकट हो रहा है—ऐसा मंत्र अपनी क्रियामें डालकर फिर उस क्रियाकी तरफ देखो। यह क्रिया अति सुंदर व सात्त्विक हो जायगी। वह क्रिया पूजा बन जायगी, यज्ञरूप सेवा हो जायगी। उस छोटे-से धागे द्वारा हम समाजके साथ, जनताके साथ, जगदीश्वरके साथ

बंध जायंगे। बालकृष्णके छोटेसे मुंहमें यशोदा मांको सारा विश्व दिखलाई दिया। अपने उस मंत्रमय सूत्रके धागेमें भी तुमको विशाल विश्व दिखाई देने लगेगा।

(९७)

ऐसी सेवाके लिए आहार-शुद्धि भी आवश्यक है। जैसा आहार वैसा ही मन। आहार परिमित होना चाहिए। आहार कौन-सा हो, इसकी अपेक्षा यह बात अधिक महत्त्वकी है, कि वह कितना हो। ऐसा नहीं है कि आहारका चुनाव महत्त्वकी बात नहीं है, लेकिन हम जो आहार लेते हैं वह उचित मात्रा में है या नहीं, यह उससे भी अधिक महत्त्वकी बात है। हम जो कुछ खाते हैं, उसका परिणाम अवश्य होगा। हम खाते क्यों हैं? इसीलिए कि उत्कृष्ट सेवा हो। आहार भी एक यज्ञांग ही है। सेवारूपी यज्ञको फलदायी बनानेके लिए आहारकी जरूरत है। इस भावनासे आहारकी तरफ देखो। आहार शुद्ध व स्वच्छ होना चाहिए। व्यक्ति अपने जीवनमें कितनी आहार-शुद्धि कर सकता है, इसकी कोई मर्यादा नहीं; परंतु हमारे समाजने आहार-शुद्धिके लिए काफी तपस्या की है। आहार-शुद्धिके लिए हिंदुस्तानमें विशाल प्रयत्न हुए हैं। उन प्रयोगोंमें हजारों वर्ष बीते। उनमें कितनी तपस्या खर्च हुई, यह नहीं कहा जा सकता। इस भूमंडलपर हिंदुस्तान ही एक ऐसा देश है, जहां जमात-की-जमातें अमांसभोजी हैं। जो जातियां मांसभोजी हैं, उनके भी भोजनमें मांस मुख्य और नित्य वस्तु नहीं है, और जो मांस खाते हैं, वे भी उसमें कुछ हीनता अनुभव करते हैं। मनसे तो वे भी मांसका त्याग कर चुके हैं। मांसाहारकी प्रवृत्तिको रोकनेके लिए यज्ञ प्रचलित हुआ और इसीके लिए वह बंद भी हो गया। श्रीकृष्ण भगवान्‌ने तो यज्ञकी व्याख्या ही बदल दी। श्रीकृष्णने दूधकी महिमा बढ़ाई। श्रीकृष्णने असाधारण बातें कुछ कम नहीं की हैं; परंतु हिंदू जनता किस कृष्णके पीछे दीवानी हुई थी? हिंदू जनताको तो 'गोपाल कृष्ण', 'गोपाल कृष्ण' यही नाम प्रिय है। जिसके पास गायें बैठी हुई हैं, जिसके अधरोंपर मुरली रखी हुई है, ऐसा गायोंकी सेवा करनेवाला, गोपाल कृष्ण ही आबाल-वृद्धोंको परिचित है। इस प्रकार गो-रक्षणका बड़ा उपयोग मांसाहार बंद करनेमें हुआ। गायके दूधकी महिमा बढ़ी और मांसाहार कम हुआ।

फिर भी संपूर्ण आहार-शुद्धि हो गई हो सो बात नहीं। हमें अब उस सिलसिलेको आगे बढ़ाना है। बंगाली लोग मछली खाते हैं, यह देखकर कितने लोगोंको आश्चर्य होता है। किंतु इसके लिए उनको बुरा कहना ठीक न होगा। बंगालमें सिर्फ चावल होता है। उससे शरीरका सब तरह पोषण नहीं हो सकता। इसके लिए प्रयोग करने पड़ेंगे। फिर लोगोंमें इस बातका विचार शुरू होगा कि मछलीकी एवजमें कौन-सी वनस्पति खायें, जिसमें मछलीके बराबर ही पौष्टिक तत्त्व मिल जायं। इसके लिए असाधारण त्यागी पुरुष पैदा होंगे और फिर ऐसे प्रयोग होंगे। ऐसे व्यक्ति ही समाजको आगे ले जा सकते हैं। सूर्य जलता रहता है, तब जाकर कहीं जीवित रहने योग्य ९८° उष्णता हमारे शरीरमें रहती है। जब समाजमें वैराग्यके प्रज्वलित सूर्य उत्पन्न होते हैं और जब वे बड़ी श्रद्धापूर्वक परिस्थितियोंके बंधन तोड़कर बिना पंखोंके अपने ध्येयाकाशमें उड़ने लगते हैं, तब कहीं संसार-उपयोगी अल्प-स्वल्प वैराग्यका हममें संचार होता है। मांसाहार बंद करनेके लिए ऋषियोंको कितनी तपस्या करनी पड़ी होगी, कितने प्राण अर्पण करने पड़े होंगे? इस बातका विचार ऐसे समय मेरे मनमें आता है।

सारांश यह कि आज हमारी सामुदायिक आहार-शुद्धि इतनी हुई है। अनंत त्याग करके हमारे पूर्वजोंने जो कमाई की है, उसे तुम गंवाओ मत! भारतीय संस्कृतिकी इस विशेषताको डुबाओ मत! हमको येन-केन प्रकारेण जीवित नहीं रहना है। जिसको किसी-न-किसी तरह जीवित रहना है, उसका काम बड़ा सरल है। पशु भी किसी-न-किसी तरह जी ही लेते हैं। तब क्या जैसे पशु वैसे ही तुम? पशुमें और हममें अंतर है। उस अंतरको बढ़ाना ही संस्कृति-वर्धन कहा जाता है। अपने राष्ट्रने मांसाहार-त्यागका बहुत बड़ा प्रयोग किया। उसे और आगे ले जाओ। कम-से-कम जिस मंजिलतक हम पहुंच चुके हैं, उससे पीछे तो मत हटो।

इसके उल्लेख करनेका कारण यह है कि आजकल कितने ही लोगोंको मांसाहारकी इष्टता प्रतीत होने लगी है। आज पूर्वी व पश्चिमी सभ्यताका एक-दूसरेपर प्रभाव पड़ रहा है। मेरा विश्वास है कि अंतमें इसका परिणाम अच्छा ही होगा। पाश्चात्य संस्कृतिके कारण हमारी जड़

श्रद्धा हिलती जा रही है। यदि अंध-श्रद्धा डिग गई तो कुछ हानि नहीं है। जो अच्छा होगा, वह टिक जायगा और बुरा जल जायगा। अंध-श्रद्धा जानेपर उसके स्थानपर अंध-अश्रद्धा अलबत्ता उत्पन्न न होनी चाहिए। यह नहीं कि केवल श्रद्धा ही अंधी होती हो। केवल श्रद्धाने ही अंध विशेषणका ठेका नहीं लिया है। अश्रद्धा भी अंधी हो सकती है।

मांसाहारके बारे में आज फिरसे विचार होना शुरू हो गया है। कुछ भी हो, मुझे तो जब कोई नवीन विचार सामने आता है तो बड़ा आनंद होता है। उससे कम-से-कम ऐसा अनुभव जरूर होता है कि लोग जग रहे हैं और धक्के दे रहे हैं। जागृतिके लक्षण देखकर मुझे अच्छा लगता है। लेकिन यदि जगकर आंखें मलते हुए वैसे ही चल पड़ेंगे तो गिर पड़नेकी आशंका रहती है। अतः जबतक पूरे-पूरे न जग जायं, अच्छी तरह आंख खोलकर देखने न लगें, तबतक हाथ-पैरोंको मर्यादामें ही रखना अच्छा है। विचार खूब कीजिए, पक्ष-विपक्ष, उल्टे-सीधे, सब तरफसे खूब सोचिए। धर्मपर विचारकी कैंची चलाइए। इस विचाररूपी कैंचीसे जो धर्म कट जाय, समझो कि वह तीन कौड़ीका था। इस तरह जो टुकड़े कट-छंट जायं, उन्हें जाने दो। तुम्हारी कैंचीसे जो न कटे, बल्कि उससे उल्टी तुम्हारी कैंची ही टूट जाय वही धर्म सच्चा है। धर्मको विचारोंसे डर नहीं। अतः विचार तो करो; परंतु काम एकदम मत कर डालो। अधजगे रहकर यदि कुछ काम करोगे तो धड़ामसे गिर पड़ोगे। विचार बहुत जोर मार रहे हों तो भी अभी आचारको संभाल-कर रखो। अपनी कृति पर संयम रखो। अपनी पहलेकी पुण्याई मत गंवा बैठो।

(९८)

आहार-शुद्धिसे चित्त शुद्ध रहेगा। शरीरको भी बल मिलेगा। समाजसेवा अच्छी तरह हो सकेगी। चित्त में संतोष रहेगा और समाजमें भी संतोष फैलेगा। जिस समाजमें यज्ञ-दान-तप-क्रिया विधि और मंत्रसहित होती रहती है, उसमें विरोध दिखाई नहीं देगा। दो कांच यदि एक-दूसरेके आमने-सामने रखे हों तो जैसे इसमेंका उसमें और उसमेंका इसमें दीखेगा, इसी तरह व्यक्ति और समाजमें बिंब-प्रतिबिंब-

न्यायसे परस्पर संतोष प्रकट होगा। जो मेरा संतोष है, वही समाजका और जो समाजका है वही मेरा। इन दोनों संतोषोंकी हम जांच कर सकेंगे और हम इस नतीजेपर पहुंचेंगे कि दोनों एक-रूप हैं। चारों ओर अद्वैतका अनुभव होगा। द्वैत और द्रोह अस्त हो जायंगे। ऐसी सुव्यवस्था जिस योजना के द्वारा हो सकती है, उसीका प्रतिपादन गीता कर रही है। अगर अपना दैनिक कार्यक्रम हम गीताकी योजनाके अनुसार बनावें तो क्या ही बहार हो !

परंतु आज व्यक्ति और समाजके जीवनमें विरोध उत्पन्न हो गया है। यह विरोध किस प्रकार दूर हो सकता है, यही चर्चा सब ओर चल रही है। व्यक्ति और समाजकी मर्यादा क्या है ? व्यक्ति गौण है या समाज ? इनमें श्रेष्ठ कौन है ? व्यक्तिवादके कोई समर्थक समाजको जड़ समझते हैं। सेनापतिके सामने अगर कोई सिपाही आता है तो उससे बोलते समय सौम्य भाषा का उपयोग करता है। उसे 'आप' भी कहेगा; परंतु सेनाको तो वह चाहे जिस तरह हुक्म देगा। मानो सैन्य अचेतन हो—लकड़ीका एक लट्ठा हो। उसे इधर-से-उधर हिलायेगा और उधर-से-इधर। व्यक्ति चैतन्यमय है, समाज जड़। देखो, ऐसा अनुभव यहां भी हो रहा है। मेरे सामने दो सौ, तीन सौ आदमी हैं; परंतु उन्हें रुचे या न रुचे, मैं तो बोलता ही जा रहा हूं। मुझे जो विचार आता है, वही कहता रहता हूं। मानो आप जड़ ही हैं। परंतु अगर मेरे सामने कोई व्यक्ति आया तो मुझे उसकी बात सुननी पड़ेगी और उसे विचार-पूर्वक उत्तर देना पड़ेगा; परंतु यहां तो मैंने आपको घंटे-घंटेभर योंही बैठा रखा है।

"समाज जड़ है, और व्यक्ति चैतन्य"—ऐसा कहकर व्यक्ति चैतन्यवादका कोई-कोई प्रतिपादन करते हैं और कोई समुदायको महत्त्व देते हैं। मेरे बाल झड़ गये। आंखें चली गईं। हाथ टूट गया और दांत गिर गये। इतना ही नहीं, एक फेफड़ा भी बेकार हो गया; परंतु मैं फिर भी जीवित रहता हूं, क्योंकि पृथक् रूपमें एक-एक अवयव जड़ है। किसी एकके नाश से सर्वनाश नहीं हो जाता। सामुदायिक शरीर चलता ही रहता है। इस प्रकार ये दो परस्पर-विरोधी विचार-धाराएं हैं। आप जिस दृष्टिसे देखेंगे,

वैसा ही अनुमान निकालेंगे। जिस रंगका चश्मा, उसी रंगकी सृष्टि।

कोई व्यक्तिको महत्त्व देता है, कोई समाज को। इसका कारण यह है कि समाजमें जीवन-कलहकी कल्पना प्रसूत हो गई है; परंतु क्या जीवन कलहके लिए है? इससे तो फिर हम मर क्यों नहीं जाते? कलह तो मरनेके लिए है। इसीकी बदौलत हम स्वार्थ और परमार्थमें भेद डालते हैं। जिसने पहले-पहल यह कल्पना की कि स्वार्थ और परमार्थमें अंतर है, उसको अजीब ही कहना चाहिए। भला, जो वस्तु वास्तवमें है ही नहीं, उसके अस्तित्वको आभासित करनेकी शक्ति जिसकी अक्लमें थी, उसका गौरव करनेको जी चाहता है। जो भेद नहीं है, वह उसने खड़ा किया और उसे जनताको पढ़ाया! इस बातका आश्चर्य होता है। चीनकी दीवारके जैसा ही यह प्रकार है। यह मानना वैसा ही है, जैसा कि क्षितिजकी मर्यादा बनाना और फिर यह मानना कि उसके पार कुछ नहीं है। इन सबका कारण है, यज्ञमय जीवनका आजका अभाव! इसीसे व्यक्ति और समाजमें भेद उत्पन्न हो गया है।

परंतु व्यक्ति और समाजमें वास्तविक भेद नहीं किया जा सकता। किसी कमरेके दो भाग करनेके लिए अगर कोई पर्दा लगाया जाय और पर्दा हवासे उड़कर आगे-पीछे होने लगे तो कभी यह भाग बड़ा मालूम होता है और कभी वह। हवाकी लहर पर उस कमरेके भाग अवलंबित रहते हैं, वे स्थायी—पक्के नहीं हैं। गीता इन झगड़ोंसे परे है। ये झगड़े काल्पनिक हैं। गीता तो कहती है कि अंतःशुद्धिका कानून पालो। फिर व्यक्ति और समाजके हितोंमें कोई विरोध उत्पन्न नहीं होगा। एक-दूसरेके हितमें बाधा नहीं होगी। इस बाधाको, इस विरोधको दूर करना ही गीताकी विशेषता है। गीताके इस नियमपर अमल करनेवाला अगर एक भी आदमी मिल जाय तो अकेले उसीसे सारा राष्ट्र संपन्न हो जायगा। राष्ट्र है राष्ट्रके व्यक्ति। जिस राष्ट्रमें ऐसे ज्ञान और आचार-संपन्न व्यक्ति नहीं हैं, उसे राष्ट्र कैसे मानेंगे? हिंदुस्तान क्या है? हिंदुस्तान रवीन्द्रनाथ है, हिंदुस्तान गांधी है या इसी तरहके पांच-दस नाम। बाहरका संसार हिंदुस्तानकी कल्पना इन्हीं पांच-दस व्यक्तियों-परसे करता है। प्राचीन कालके दो-चार, मध्यकालके चार-पांच और

आजके आठ-दस व्यक्ति ले लीजिए और उनमें हिमालय, गंगा आदिको मिला दीजिए। बस हो गया हिंदुस्तान। यही है हिंदुस्तानकी व्याख्या। बाकी सब है इस व्याख्या का भाष्य। भाष्य यानी सूत्रोंका विस्तार। दूधका दही और दहीका छाछ-मक्खन! झगड़ा दूध-दही, छाछ-मक्खन-का नहीं है। दूधका कस देखनेके लिए उसमें मक्खन कितना है, यह देखा जाता है। इसी प्रकार समाजका कस उसके व्यक्तियोंपरसे निकाला जाता है। व्यक्ति और समाजमें कोई विरोध नहीं है। विरोध हो भी कैसे सकता है? व्यक्ति व्यक्तिमें भी विरोध न होना चाहिए। यदि एक व्यक्तिसे दूसरा व्यक्ति अधिक संपन्न हो जाय तो इससे क्या हानि हुई? हां, कोई भी विपन्न अवस्थामें न हो और संपत्तिवालोंकी संपत्ति समाजमें काम आती रहे, बस। अतः मेरी दाहिनी जेबमें पैसे हैं तो क्या, और बाईं जेबमें हैं तो क्या। दोनों जेब आखिर हैं तो मेरे ही! अगर कोई व्यक्ति संपन्न हुआ तो उसमें मैं संपन्न होता हूं, राष्ट्र संपन्न होता है, ऐसी युक्ति साधी जा सकती है।

परंतु हम भेद खड़े करते हैं। अगर धड़ और सिर अलग-अलग हो जायंगे तो दोनों मर जायंगे। अतः व्यक्ति और समाजमें भेद मत करो। और गीता यही सिखाती है कि एक क्रिया स्वार्थ और परमार्थ को किस प्रकार अविरोधी बना देती है। मेरे इस कमरेकी हवामें और बाहरकी अनंत हवामें कोई विरोध नहीं है। यदि मैं इनमें विरोधकी कोई कल्पना करके कमरा बंद कर लूंगा तो दम घुटकर मर जाऊंगा। अविरोधकी कल्पना करके मुझे कमरा खोलने दो तो वह अनंत हवा अंदर आ जायगी। जिस क्षणमें अपनी जमीन और अपना घरका टुकड़ा औरोंसे अलग करता हूं, उसी क्षण मैं अनंत संपत्तिसे वंचित हो जाता हूं। अगर मेरा वह छोटा-सा घर जल गया, गिर गया तो मैं ऐसा समझकर कि, मेरा सर्वस्व चला गया, रोने-पीटने लग जाता हूं। परंतु ऐसा क्यों करना चाहिए? क्यों रोना-पीटना चाहिए? पहले तो संकुचित कल्पना करें और फिर रोयें! ये पांच सौ रुपये मेरे हैं, ऐसा कहा कि सृष्टिकी अपार संपत्तिसे मैं दूर हुआ। ये दो भाई मेरे हैं, ऐसा समझा कि संसारके असंख्य भाई मुझसे दूर हो गये। इसका हमें खयाल नहीं रहता। ओफ, मनुष्य अपनेको कितना संकुचित बना लेता है!

वास्तवमें तो मनुष्यका स्वार्थ ही परामर्थ होना चाहिए। गीता ऐसा ही सरल सुंदर मार्ग दिखा रही है, जिससे व्यक्ति और समाजमें अच्छा सहयोग हो। जीभ और पटम क्या विरोध ह ? पेटको जितना ही अन्न चाहिए, उतना ही जबान को देना चाहिए। पेटने 'वस' कहा कि जीभको लेना बंद करना चाहिए। पेट एक संस्था है, जीभ दूसरी संस्था। म इन संस्थाओंका सम्राट् हूं। इन सब संस्थाओंमें अद्वैत ही है। कहांसे ले आये यह अभागा विरोध ? जिस प्रकार एक ही देहकी इन संस्थाओंमें वास्तविक विरोध नहीं है, बल्कि सहयोग है उसी प्रकार समाजमें भी है। समाजमें इस सहयोगको बढ़ानेके लिए ही गीता चित्त-शुद्धिपूर्वक यज्ञदान-तप-क्रियाका विधान बताती है। ऐसे कर्मोंसे व्यक्ति और समाज दोनोंका कल्याण होगा।

जिसका यज्ञमय जीवन है, वह सबका हो जाता है। प्रत्येक पुत्रको ऐसा मालूम होता है कि मांका प्रेम मेरे ऊपर है। उसी प्रकार यह व्यक्ति सबको अपना मालूम होता है। सारी दुनियाको वह प्रिय व अपनाने योग्य लगता है। सभीको ऐसा मालूम होता है कि वह हमारा प्राण है, मित्र है, सखा है।

ऐसा पुरुष तो ह धन्य, लोग चाहें उसे अनन्य।

ऐसा समर्थ रामदासने कहा है। ऐसा जीवन बनानेकी तरकीब गीताने बताई है।

(९९)

गीताका यह और कहना है कि जीवनको यज्ञमय बनाकर फिर उस सबको ईश्वरार्पण कर देना चाहिए। जीवनके सेवामय हो जानेपर फिर और ईश्वरार्पणता किसलिए ? हम यह आसानीसे कह तो गए कि सारा जीवन सेवामय कर दिया जाय, परंतु यह करना बहुत कठिन है। अनेक जन्मोंमें जाकर वह थोड़ा-बहुत सध सकता है। फिर भले ही सारे कर्म सेवामय, अक्षरशः सेवामय, हो जायं तो भी उससे ऐसा नहीं कह सकते कि पूजामय हो ही गये। इसलिए 'ॐ तत्सत्' इस मंत्रके साथ सारे कर्म ईश्वरार्पण करने चाहिए।

सेवा-कर्म वैसे सोलहों आना सेवामय होना कठिन है; क्योंकि

परमार्थमें भी स्वार्थ आ ही जाता है। केवल परमार्थ संभव ही नहीं है। ऐसा कोई काम नहीं हो सकता, जिसमें मेरा स्वार्थ लेशमात्र भी न हो। इसलिए दिन-प्रतिदिन अधिक निष्काम और अधिक निःस्वार्थ सेवा हाथोंसे हो, ऐसी इच्छा रखनी चाहिए। यदि यह चाहते हों कि सेवा उत्तरोत्तर अधिक शुद्ध हो तो सारी क्रियाएं ईश्वरार्पण करो। ज्ञानदेव ने कहा है —

"जीवन-कला साधते योगी, वैष्णवको है नाम मधुर।"

नामामृतकी मधुरता और जीवन-कला अलग-अलग नहीं है। नामका आंतरिक घोष और बाह्य जीवन-कला दोनोंका मेल है। योगी वैष्णव एक ही हैं। परमेश्वरको क्रिया अर्पण कर देने पर स्वार्थ, परार्थ और परमार्थ, सब एक रूप हो जाते हैं। पहले तो जो 'तुम' और 'मैं' अलग-अलग हैं, उन्हें एक करना चाहिए। 'तुम' और 'मैं' मिलनेसे 'हम' हो गये। अब 'हम' और 'वह' को एक कर डालना है। पहले मुझे इस सृष्टिसे मेल साधना है और फिर परमात्मासे। 'ॐ तत्सत्' मंत्रमें यही भाव सूचित किया गया है।

परमात्मा के अनंत नाम हैं। व्यासजीने तो उन नामोंका 'विष्णु-सहस्रनाम' बना दिया है। जो-जो नाम हम कल्पित कर लें, वे सब उसके हैं। जो नाम हमारे मनमें स्फुरित हो, उसी अर्थमें उसे हम सृष्टिमें देखें और तदनुरूप हमारा जीवन बनावें। परमेश्वरका जो नाम मनको भावे, उसीको सृष्टिमें देखें और उसीके अनुसार अपने आपको बनावें। इसको मैं 'त्रिपदा गायत्री' कहता हूं। उदाहरणके लिए ईश्वरका दयामय नाम ले लीजिए। ऐसा मानकर चलें कि वह रहीम है। अब उसी दया-सागर परमेश्वरको इस सृष्टिमें आंखें खोलकर देखें। भगवान्ने हरेक बच्चेको उसकी सेवाके लिए माता दी है, जीनेके लिए हवा दी है। इस तरह उस दयामय प्रभुकी सृष्टिमें जो दयाकी योजना है, उसे देखें व अपना जीवन भी दयामय बनावें। भगवद्गीता-कालमें भगवान्का जो नाम प्रसिद्ध था, वही भगवद्गीताने बनाया है। वह है 'ॐ तत्सत्'। 'ॐ' का अर्थ है 'हां', परमात्मा है।

इस बीसवीं शताब्दी में भी परमात्मा है।

"स एव अद्य स उ श्वः"

वही आज है, वही कल था और वही कल होगा। वह कायम है। सृष्टि कायम है और कमर कसकर मैं भी साधना करनेके लिए तैयार हूं। मैं साधक हूं। वह भगवान् है और यह सृष्टि-पूजा-द्रव्य—पूजा-साधन—है। जब ऐसी भावना से हमारा हृदय भर जाय तभी कहा जा सकेगा कि 'ॐ' हमारे गले उतर गया। वह है, मैं हूं और मेरी साधना भी है। ऐसा यह ॐकार-भाव मनमें बस जाना चाहिए और साधनामें प्रकट होना चाहिए। सूर्यको जब कभी देखिए, वह किरणोंसहित दिखाई देगा। किरणोंको दूर रखकर कभी रह ही नहीं सकता। वह किरणोंको नहीं भुलाता। इसी प्रकार कोई भी किसी भी समय क्यों न देखे, साधना हमारे पास दिखाई देनी चाहिए। जब ऐसा हो जायगा, तभी यह कहा जा सकेगा कि 'ॐ' को हमने आत्मसात् कर लिया।

इसके बाद है 'सत्'। परमेश्वर सत् है अर्थात् शुभ है, मंगल है। इस भावनासे अभिभूत होकर भगवान्के मांगल्यको सृष्टिमें अनुभव करो। देखो तो वह पानीका पृष्ठभाग। पानीमेंसे एक घड़ा भर लो। उससे जो गड्ढा पड़ा, वह क्षणभरमें ही भर जायगा। यह कितना मांगल्य है ? यह कितनी प्रीति है ? नदी गड्ढोंको सहन नहीं करती। गड्ढोंको भरनेके लिए दौड़ती है।

'नदी वेगेन शुद्धयति'

सृष्टिरूपी नदी वेगके कारण शुद्ध हो रही है। यावत् सृष्टि सब शुभ और मंगल है। अपने कर्मको भी ऐसा ही होने दो। परमेश्वरके इस सत् नामको आत्मसात् करनेके लिए सारी क्रियाएं निर्मल और भक्तिमय होनी चाहिए। सोमरस जिस तरह पवित्रकोंमेंसे छाना जाता था, उसी तरह अपने सब कर्मों और साधनोंको नित्य परीक्षण करके निर्दोष बनाना चाहिए।

अब रहा 'तत्'। 'तत्'का अर्थ है 'वह'—कुछ-न-कुछ भिन्न, इस सृष्टिसे अलिप्त। परमात्मा इस सृष्टिसे भिन्न है, अर्थात् अलिप्त है। सूर्योदय हुआ कि कमल खिलने लगते हैं, पक्षी उड़ने लगते हैं और अंधकार नष्ट हो जाता है। परंतु 'सूर्य' तो दूर ही रहता है। इन सब

परिणामोंसे वह बिलकुल अलग-सा रहता है। जब अपने कर्मोंमें अनासक्ति रखेंगे, अलिप्तता आ जायगी, तब समझिए कि हमारे जीवनमें 'तत्' प्रविष्ट हुआ।

इस प्रकार गीताने यह 'ॐ तत्सत्', वैदिक नाम लेकर अपनी सब क्रियाओंको ईश्वरार्पण करना सिखाया है। पिछले नवें अध्यायमें सब कर्मोंको ईश्वरार्पण करनेका विचार आया है। 'यत्करोषि यदश्नासि' इस श्लोकमें यही कहा गया है। इसी बातका सत्रहवें अध्यायमें विवरण दिया गया है। परमेश्वरार्पण करनेकी क्रिया सात्त्विक होनी चाहिए। तभी वह परमेश्वरार्पण की जा सकेगी। यह बात यहां विशेष बताई गई है।

(१००)

यह सब ठीक है, किंतु यहां एक प्रश्न उठता ह कि यह 'ॐतत्सत्' नाम पवित्र पुरुषको ही हजम हो सकता है। पापी पुरुष क्या करे? पापियोंके मुंहमें भी सुशोभित होने योग्य कोई नाम है या नहीं? 'ॐ तत्सत्' नाममें वह भी शक्ति है। ईश्वरके किसी भी नाममें असत्यसे सत्यकी ओर ले जानेकी शक्ति रहती है। वह पापकी ओरसे निष्पापताकी ओर ले जा सकता है। जीवनकी शुद्धि धीरे-धीरे करनी चाहिए। परमात्मा अवश्य सहायता करेगा। तुम्हारी कमजोरीके समय वह तुम्हें सहारा देगा।

यदि कोई मुझसे कहे कि "एक ओर पुण्यमय किंतु अहंकारी जीवन, और दूसरी ओर पापमय किंतु नम्र जीवन, इनमेंसे किसी एकको पसंद करो।" तो यदि मैं मुंहसे न भी बोल सकूं तो अंतःकरणसे कहूंगा कि "जिस पापसे मुझे परमेश्वरका स्मरण रहता है, वही मुझे मिलने दो!" मेरा मन यही कहेगा कि अगर पुण्यमय जीवनसे परमात्माकी विस्मृति हो जाती है तो जिस पापमय जीवनसे उसकी याद आती है, मैं उसीको प्राप्त करूंगा। इसका यह अर्थ नहीं कि मैं पापमय जीवनका समर्थन कर रहा हूं; परंतु पाप उतना पाप नहीं है, जितना कि पुण्यका अहंकार पापरूप है।

"कहीं ये सुजानपन, रोक न दे नारायण?"

ऐसा तुकारामने कहा है। उस बड़प्पनकी जरूरत नहीं है। उसकी अपेक्षा तो पापी, दुःखी होना ही अच्छा है।

"ज्ञानी जो हैं बच्चे, उन्हें मां भी दूर रखे"

परंतु अज्ञान बालकोंको मां अपनी गोदमें उठा लेगी। मैं 'स्वावलंबी पुण्यवान्' होना नहीं चाहता। 'परमेश्वरावलंबी पापी' होना ही मुझे प्रिय है। परमात्माकी पवित्रता मेरे पापको समाकर भी बचने-जैसी है। हम पापोंको रोकनेका प्रयत्न करें। यदि वे नहीं रुके तो हृदय रोने लगेगा। मन छटपटाने लगेगा। तब ईश्वरकी याद आयेगी। वह तो खड़ा-खड़ा खेल देख रहा है। पुकार करो—मैं पापी हूं, इसलिए तेरे द्वारे आया हूं। पुण्यवान्को ईश्वर-स्मरण अधिकार है, क्योंकि वह पुण्यवान् है और पापीको ईश्वर-स्मरण का अधिकार है, क्योंकि वह पापी है।

रविवार, १२-६-३२

अठारहवाँ अध्याय

(१०१)

मेरे भाइयो, आज ईश्वरकी कृपासे हम अठारहवें अध्यायतक आ पहुंचे हैं। प्रतिक्षण बदलनेवाले इस विश्वमें किसी भी संकल्पका पूर्ण हो जाना परमेश्वरकी इच्छापर ही निर्भर है। फिर जेलमें तो कदम-कदमपर अनिश्चितताका अनुभव होता है। यहां कोई काम शुरू करनेपर फिर यहीं उसके पूरा हो जानेकी अपेक्षा रखना कठिन है। शुरू करते समय यह उम्मीद जरा भी नहीं थी कि हमारी यह गीता यहां पूरी हो सकेगी। लेकिन ईश्वर-इच्छासे हम समाप्तितक आ पहुंचे हैं।

चौदहवें अध्यायमें जीवनके अथवा कर्मके सात्त्विक, राजस, तामस, तीन भेद किये गए। इन तीनोंमेंसे राजस देव तामसका त्याग करके सात्त्विकको ग्रहण करना है, यह भी हमने देखा। उसके बाद सत्रहवें अध्यायमें यही बात दूसरे ढंगसे कही गई है। यज्ञ, दान व तप या एक ही शब्दमें कहें तो 'यज्ञ' ही जीवनका सार है। सत्रहवें अध्यायमें हमने ऐसी ध्वनि सुनी कि यज्ञोपयोगी जो आहारादि कर्म हैं, उन्हें सात्त्विक व यज्ञरूप बनाकरके ही ग्रहण करें। केवल उन्हीं कर्मोंको अंगीकार करें जो यज्ञरूप और सात्त्विक हैं, शेष कर्मोंका त्याग ही उचित है। हमने यह भी देखा कि 'ॐ तत्सत्' इस मंत्रको क्यों हर समय याद रखना चाहिए। ॐ का अर्थ है सातत्य। 'तत' का अर्थ है, अलिप्तता और 'सत्' का अर्थ है, सात्त्विकता। हमारी साधनामें सातत्य, अलिप्तता और सात्त्विकता होनी चाहिए। तभी वह परमेश्वरको अर्पण की जा सकेगी। इन सब बातोंसे यह मालूम होता है कि कुछ कर्म तो हमें करने हैं और कुछका त्याग करना है।

गीताकी सारी शिक्षापर हम ध्यान देंगे तो उसका जगह-जगह यही बोध मिलता है कि कर्मका त्याग न करो। गीता कर्म-फलके

त्यागका विधान करती है। गीतामें सब जगह यही शिक्षा दी गई है कि कर्म तो सतत करो, परंतु फलका त्याग करते रहो। लेकिन यह एक पहलू हुआ। दूसरा पहलू यह मालूम पड़ता है कि कुछ कर्म किये जायं और कुछका त्याग किया जाय। इसलिए अंतमें अठारहवें अध्यायके शुरूमें अर्जुनने पूछा—"एक पक्ष तो यह कि कोई भी कर्म फल-त्याग-पूर्वक करो और दूसरा यह कि कुछ कर्म तो अवश्यमेव त्याज्य हैं और कुछ करने योग्य हैं। इन दोनोंमें मेल कैसे बिठाया जाय?" जीवनकी दिशा स्पष्ट जाननेके लिए यह प्रश्न पूछा गया। फल-त्यागका मर्म समझनेके लिए यह प्रश्न है। जिसे शास्त्र 'संन्यास' कहता है, उसमें कर्म स्वरूपतः छोड़ना होता है। अर्थात् कर्मके स्वरूपका त्याग करना होता है। फल-त्यागमें कर्मका फलतः त्याग करना है। अब प्रश्न यह है कि क्या गीताके फल-त्यागको प्रत्यक्ष कर्म-त्यागकी आवश्यकता है? क्या फल-त्यागकी कसौटीसे संन्यासका कोई उपयोग है? संन्यासकी मर्यादा कहांतक है? संन्यास व फल-त्याग इन दोनोंकी मर्यादा कहांतक व कितनी है? अर्जुनका यही सवाल है।

(१०२)

उत्तरमें भगवान्‌ने एक बात स्पष्ट कह दी है कि फल-त्यागकी कसौटी एक सार्वभौम वस्तु है। फल-त्यागका तत्त्व हर जगह लागू किया जा सकता है। सब कर्मोंके फलका त्याग, व राजस और तामस कर्मोंका त्याग, इन दोनोंमें विरोध नहीं है। कुछ कर्मोंका स्वरूप ही ऐसा होता है कि फल-त्यागकी युक्तिका उपयोग करें तो वे कर्म अपने-आप ही गिर पड़ते हैं। फल-त्यागपूर्वक कर्म करनेका तो यही अर्थ होता है कि कुछ कर्म छोड़ने ही चाहिए। फल-त्यागपूर्वक कर्म करनेमें कुछ कर्मोंके प्रत्यक्ष त्यागका समावेश हो ही जाता है।

इसपर ज़रा गहराईसे विचार करें। जो कर्म काम्य हैं, जिनके मूलमें कामना है उन्हें फल-त्यागपूर्वक करो—ऐसा कहते ही उनकी बुनियाद ढह जाती है। फल-त्यागके सामने काम्य और निषिद्ध कर्म खड़े ही नहीं रह सकते। फल-त्यागपूर्वक कर्म करना कोई केवल कृत्रिम, तांत्रिक व यांत्रिक क्रिया तो है नहीं। इस कसौटीके द्वारा यह अपने-आप मालूम हो जाता है कि कौनसे कर्म किये जायं और कौनसे नहीं। कुछ

लोग कहते हैं कि 'गीता सिर्फ यही बताती है कि फल-त्यागपूर्वक कर्म करो; पर कौन-से कर्म करो, यह नहीं बताती।' ऐसा भासित तो होता है, परंतु वस्तुतः ऐसा है नहीं; क्योंकि फल-त्यागपूर्वक कर्म करो, इतना कहनेसे ही पता चल जाता है कि कौनसे कर्म करें और कौनसे नहीं। हिंसात्मक कर्म, असत्यमय कर्म, चोरी-जैसे कर्मफल-त्यागपूर्वक किये ही नहीं जा सकते। फल-त्यागकी कसौटी पर कसते ही ये कर्म हवामें उड़ जाते हैं। सूर्यकी प्रभा फैलते ही सब चीजें उज्ज्वल दिखाई देने लगती हैं; पर अंधेरा भी क्या उज्ज्वल दिखाई देता है ? वह तो नष्ट ही हो जाता है। ऐसी ही स्थिति निषिद्ध व काम्य कर्मोंकी है। हमें सब कर्म फल-त्यागकी कसौटीपर कस लेने चाहिए। पहले यह देखना चाहिए कि जो कर्म मैं करना चाहता हूं वह अनासक्तिपूर्वक फलकी लेशमात्र भी अपेक्षा न रखते हुए करना संभव है क्या ? फल-त्याग ही कर्म करनेकी कसौटी है। इस कसौटीके अनुसार काम्य कर्म अपने-आप ही त्याज्य सिद्ध होते हैं। उनका तो संन्यास ही उचित है। अब बचे शुद्ध सात्त्विक कर्म। वे अनासक्तिपूर्वक अहंकार छोड़कर करने चाहिए। काम्य कर्मोंका त्याग भी तो एक कर्म ही हुआ। फल-त्यागकी कैंची उसपर भी चलाओ। फिर काम्य कर्मोंका त्याग भी सहज रूपसे होना चाहिए।

इस प्रकार तीन बातें हमने देखीं। पहली तो यह कि जो कर्म हमें करने हैं, वे फलत्यागपूर्वक करने चाहिए। दूसरी यह कि राजस व तामस कर्म—निषिद्ध व काम्यकर्म—फल-त्यागकी कसौटीपर कसते ही अपने-आप गिर जाते हैं। तीसरी यह कि इस तरह जो त्याग होगा, उसपर भी फल-त्यागकी कैंची चलाओ। मैंने इतना त्याग किया, ऐसा घमंड न होने देना चाहिए।

राजस व तामस कर्म त्याज्य क्यों ? इसलिए कि वे शुद्ध नहीं हैं। शुद्ध न होनेसे कर्त्ताके चित्तपर उनके संस्कार हो जाते हैं; परंतु अधिक विचार करनेपर पता चलता है कि सात्त्विक कर्म भी सदोष होते हैं। जितने भी कर्म हैं, उन सबमें कुछ-न-कुछ दोष है ही। खेतीका स्वधर्म ही लो। यह एक शुद्ध सात्त्विक क्रिया है; लेकिन इस यज्ञमय स्वधर्म-रूप खेतीमें भी हिंसा तो होती ही है। हल जोतने आदिमें कितने ही जंतु

मरते हैं। कुएंके पास कीचड़ न होने देनेके लिए उसे पक्का बनानेमें भी कई जीव-जन्तु मरते हैं। सवेरे दरवाजा खोलते ही सूर्यका प्रकाश घरमें प्रवेश करता है, उससे असंख्य जंतु नष्ट हो जाते हैं। जिसे हम शुद्धीकरण कहते हैं वह एक मारण-क्रिया ही हो रहती है। सारांश, जब सात्त्विक स्वधर्म-रूप कर्म भी सदोष हो जाता है तब करें क्या ?

मैं पहले ही कह चुका हूं कि सब गुणोंका विकास होना तो अभी बाकी है। ज्ञान, भक्ति, सेवा, अहिंसा, इनके बिंदुमात्रका ही अभी अनुभव हमें हुआ है। सारा-का-सारा अनुभव हो चुका है, ऐसी बात नहीं है। संसार अनुभव करता जाता है और आगे बढ़ता जाता है। मध्य युगमें एक ऐसी कल्पना चली कि खेतीमें हिंसा होती है, इसलिए अहिंसक व्यक्ति उसे न करे। वह व्यापार करे। अन्न उपजाना पाप है; पर कहते थे कि बेचना पाप नहीं। लेकिन इस तरह क्रियाको टालनेसे तो हमारा हित नहीं हो सकता। अगर मनुष्य इस तरह कर्म-संकोच करता चला जाय तो अंतमें आत्मनाश ही हो रहेगा। कर्मसे छूटनेका मनुष्य ज्यों-ज्यों विचार करेगा, त्यों-त्यों कर्मका विस्तार ही अधिक होता जायगा। आपके इस धान्यके व्यापारके लिए क्या किसीको खेती न करनी पड़ेगी ? तब क्या उस खेतीसे होनेवाली हिंसाके आप हिस्सेदार न होंगे ? अगर कपास उपजाना पाप है तो उस उपजे हुए कपास को बेचना भी पाप है। कपास पैदा करनेमें दोष है, इसलिए उस कर्मको ही छोड़ देना बुद्धि-दोष होगा। सब कर्मोंका बहिष्कार करना, यह कर्म भी नहीं, वह कर्म भी नहीं, कुछ भी मत करो, इस प्रकार देखनेवाली दृष्टिमें, कहना होगा कि सच्चा दयाभाव शेष नहीं रहा, बल्कि वह मर गया। पत्ते नोचने से पेड़ नहीं मरता। वह तो उलटा पल्लवित होता है। क्रियाका संकोच करनेमें आत्म-संकोच ही है।

(१०३)

अब प्रश्न यह होता है कि यदि सभी क्रियाओंमें दोष है तो फिर सब कर्मोंको छोड़ ही क्यों न दें ? इसका उत्तर पहले एक बार दिया जा चुका है। 'सब कर्मोंका त्याग'—यह कल्पना अत्यन्त सुंदर है। यह विचार मोहक है। पर ये असंख्य कर्म आखिर छोड़ें कैसे ? राजस व

तामस कर्मोंके छोड़नेका जो तरीका है, क्या वही सात्त्विक कर्मोंके लिए उपयुक्त होगा ? जो दोषमय सात्त्विक कर्म हैं, उनसे कैसे बचें ? मजा तो यह है कि 'इंद्राय तक्षकाय स्वाहा' की तरह जब मनुष्य संसारमें करने लगता है तब अमर होनेके कारण इंद्र तो मरता ही नहीं, बल्कि तक्षक भी न मरते हुए उलटा मजबूत हो बैठता है। सात्त्विक कर्मोंमें पुण्य है और थोड़ा दोष है। परंतु थोड़ा दोष होनेके कारण यदि उस दोषके साथ पुण्यकी भी आहुति देना चाहोगे तो मजबूत होनेके कारण पुण्य क्रिया तो नष्ट नहीं ही होगी, दोष क्रिया जरूर बढ़ती चली जायगी। ऐसे मिश्रित विवेकहीन त्यागसे पुण्यरूप इंद्र तो मरता ही नहीं, पर दोषरूप तक्षक, जो कि मर सकता था, वह भी नहीं मरता। इसलिए उनके त्यागकी रीति कौन-सी ? बिल्ली हिंसा करती है, इसलिए उसका त्याग करेंगे, तो चूहे हिंसा करने लगेंगे। सांप हिंसा करते हैं, इसलिए अगर उन्हें दूर किया तो सैकड़ों जंतु खेती नष्ट कर डालेंगे। खेतीका अनाज नष्ट होनेसे हजारों मनुष्य मर जायंगे। इसलिए त्याग विवेकयुक्त होना चाहिए।

गोरखनाथको मच्छीन्द्रनाथने कहा—"इस लड़केको धो ला !" गोरखनाथने लड़के के पैर पकड़कर उसे शिलापर पछाड़ डाला और बाड़पर सुखाने डाल दिया। मच्छीन्द्रनाथने पूछा—"लड़केको धो लाये ?" गोरखनाथने उत्तर दिया—"हां, उसे धो-धाकर सुखाने डाल दिया है !" लड़केको क्या इस तरह धोया जाता है ? कपड़े और मनुष्य धोनेका तरीका एक-सा नहीं है। इन दोनों तरीकोंमें बड़ा अंतर है। इसलिए राजस, तामस कर्मोंके त्याग तथा सात्त्विक कर्मके त्यागमें बड़ा अंतर है। सात्त्विक कर्म और तरहसे छोड़े जाते हैं।

विवेकहीन होकर कर्म करनेसे तो कुछ उलट-पुलट ही हो जायगा। तुकारामने कहा है—

"त्यागसे भोग उग जो भीतर।
तब हे दाता! क्या मैं करूं ?"

छोटा त्याग करने जाते हैं तो बड़ा भोग आकर छातीपर बैठ जाता है। इसलिए वह अल्प-सा त्याग भी मिथ्या हो जाता है। छोटेसे त्याग-

की पूर्तिके लिए बड़े-बड़े इंद्रभवन बनाते हैं। इससे तो वह झोंपड़ी ही अच्छी थी। वही काफी थी। लंगोटी लगाकर आस-पास वैभव इकट्ठा करनेसे तो कुरता और बंडी ही अच्छी। इसीलिए भगवान्ने सात्त्विक कर्मोंके त्यागकी पद्धति ही अलग बताई है। वे सभी सात्त्विक कर्म तो करने हैं, लेकिन उनके फलोंको तोड़ डालना है। कुछ कर्म तो मूलतः त्याज्य हैं और कुछके सिर्फ फल ही छोड़ने होते हैं। शरीरपर अगर कोई ऐसा-वैसा दाग पड़ जाय तो उसको धोकर मिटाया जा सकता है; पर अगर चमड़ीका रंग ही काला है तो उसे सफेदा लगानेसे क्या लाभ ? वह काला रंग ज्यों-का-त्यों रहने दो। उसकी तरफ देखते ही क्यों हो ? उसे अमंगल न समझो।

एक आदमी था। उसे अपना घर मनहूस प्रतीत होने लगा तो वह किसी गांवमें चला गया। वहां भी उसे गंदगी दिखाई दी तो जंगलमें चला गया। जंगलमें एक आमके पेड़के नीचे बैठा ही था कि एक पक्षीने उसके सिरपर बीट कर दी। 'यह जंगल भी अमंगल है' ऐसा कहकर वह नदीमें जा खड़ा हुआ। नदीमें जब उसने बड़ी मछलियोंको छोटी मछलियां खाते देखा तब तो उसे बड़ी घिन आई। अरे, चलो, यह तो सारी सृष्टि ही अमंगल है। यहां मरे बिना छुटकारा नहीं, ऐसा इरादा करके वह पानीसे बाहर आया और आग जलाई। उधरसे एक सज्जन आये और बोले—"भाई, यह मरने की तैयारी क्यों ?" "यह संसार अमंगल है, इसलिए ?" वह बोला। उस सज्जन ने उत्तर दिया—"तेरा यह गंदा शरीर, यह चरबी, यहां जलने लगेगी तो यहां कितनी बदबू फैलेगी। हम यहां पास ही रहते हैं। तब हम कहां जायंगे ? एक बालके जलनेसे ही कितनी दुर्गन्ध आती है ? फिर तेरी तो सारी चरबी जलेगी ! यहां कितनी गंदगी फैल जायगी इसका भी तो कुछ विचार कर !" वह आदमी परेशान होकर बोला—"इस दुनियामें न जीनेकी गुंजाइश है और न मरनेकी ही। तो अब क्या करूं ?"

तात्पर्य यह कि मनहूस है, अमंगल है—ऐसा कहकर सबका बहिष्कार करेंगे तो काम नहीं चलेगा। यदि तुम छोटे कर्मोंसे बचना चाहोगे तो दूसरे बड़े कर्म सिरपर सवार हो जायंगे। कर्म स्वरूपतः बाहरसे छोड़नेपर नहीं छूटते। जो कर्म सहज-रूपसे प्रवाह-प्राप्त हैं, उनका

विरोध करनेमें अगर कोई अपनी शक्ति खर्च करेगा—प्रवाहके विरुद्ध जाना चाहेगा, तो अंतमें वह थककर प्रवाहके साथ बह जायगा। प्रवाहानुकूल क्रियाके द्वारा ही उसे अपने तरनेका उपाय सोचना चाहिए। इससे मनपरका लेप कम होगा और चित्त शुद्ध होता चला जायगा। फिर धीरे-धीरे क्रिया अपने आप खतम होती जायगी। कर्म-त्याग न होते हुए भी क्रियाएं लुप्त हो जायंगी। कर्म छूटेगा नहीं, पर क्रिया लोप हो जायगी।

कर्म और क्रिया दोनोंमें अंतर है। जैसे कि कहीं पर खूब ·गुलगपाड़ा मचा हुआ है और उसे बंद करना है। एक सिपाही खुद जोरसे चिल्लाकर कहता है —"शोर बंद करो।" वहांका शोर बंद करनेके लिए उसे जोरसे चिल्लानेका तीव्र कर्म करना पड़ा। दूसरा कोई आकर चुपचाप खड़ा रहेगा व सिर्फ अपनी अंगुली दिखावेगा। इतनेसे ही लोग शांत हो जायंगे। तीसरे व्यक्तिके सिर्फ वहां उपस्थित होनेमात्र से ही शांति छा जायगी। एकको तीव्र क्रिया करनी पड़ी। दूसरेकी क्रिया कुछ सौम्य थी और तीसरेकी सूक्ष्म। क्रिया कम-कम होती चली गई। लेकिन तीनोंमें लोगोंको शांत करनेका काम समानरूपसे हुआ। जैसे-जैसे चित्त-शुद्धि होती जायगी, वैसे-वैसे क्रियाकी तीव्रतामें कमी होगी। तीव्रसे सौम्य, सौम्यसे सूक्ष्म और सूक्ष्मसे शून्य होती जायगी। कर्म एक चीज है, क्रिया दूसरी। कर्त्ताको जो इष्टतम हो वह कर्म। यही कर्मकी व्याख्या है। कर्ममें प्रथमा व द्वितीया विभक्ति होती है तो क्रियाके लिए स्वतंत्र क्रियापद लगाना पड़ता है।

कर्म और क्रिया में जो अंतर है, उसे समझ लीजिए। गुस्सा आनेपर कोई बहुत चिल्लाकर और कोई बिलकुल ही न बोलकर अपना क्रोध प्रकट करता है। ज्ञानी पुरुष क्रिया लेशमात्र भी नहीं करता; लेकिन, कर्म अनंत करता है। उसका अस्तित्वमात्र ही अपार लोक-संग्रह कर सकता है। ज्ञानी पुरुषकी तो उपस्थिति ही काफी है। उसके हाथ-पैर आदि अवयव कुछ कार्य न करते हों तो भी वह काम करता है। क्रिया सूक्ष्म होती जाती है तो उधर कर्म उलटे बढ़ते जाते हैं। विचारकी यह धारा और आगे ले जावें एवं चित्त परिपूर्ण शुद्ध हो गया तो अंतमें क्रिया शून्यरूप होकर कर्म अनंत होते रहेंगे, ऐसा कह सकते हैं। पहले तीव्र, फिर

तीव्रसे सौम्य, सौम्यसे सूक्ष्म और सूक्ष्मसे शून्य——इस तरह अपने आप क्रिया-शून्यत्व प्राप्त हो जायगा। परंतु तब अनंत कर्म अपने आप ही होते रहेंगे।

बाह्य-रूपेण कर्म हटानेसे वे दूर नहीं होंगे। निष्कामतापूर्वक कर्म करते हुए धीरे-धीरे उसका अनुभव होगा। कवि ब्राउनिंगकी 'ढोंगी पोप' शीर्षक एक कविता है। एक आदमीने पोपसे कहा——"तुम अपनेको इतना सजाते क्यों हो? ये चोगे किसलिए? ये ऊपरी ढोंग क्यों? यह गंभीर मुद्रा किसलिए?" उसने उत्तर दिया——"मैं यह सब क्यों करता हूं सो सुनो। संभव है, इस नाटक, इस नकलको करते-करते किसी दिन अनजानमें ही मुझमें श्रद्धाका संचार हो जाय।" इसलिए निष्काम क्रिया करते रहना चाहिए। धीरे-धीरे निष्क्रियत्व भी प्राप्त हो जायगा।

(१०४)

मतलब यह कि तामस व राजस कर्म तो बिलकुल छोड़ देने चाहिए और सात्त्विक कर्म करने चाहिए, और यह विवेक रखना चाहिए कि जो सात्त्विक कर्म सहज व स्वाभाविक रूपसे सामने आ जायं, वे सदोष होते हुए भी त्याज्य नहीं हैं। दोष होता है तो होने दो। उस दोषसे पीछा छुड़ाना चाहोगे तो दूसरे दोष पल्ले आ पड़ेंगे। अपनी नकटी नाक जैसी है, वैसे ही रहने दो। उसे अगर काटकर सुंदर बनानेकी कोशिश करोगे तो वह और भी भयानक और भद्दी दीखेगी। वह जैसी है, वैसी ही अच्छी है। सात्त्विक कर्म सदोष होनेपर भी स्वाभाविक रूपसे प्राप्त होनेके कारण नहीं छोड़ने चाहिए। उन्हें करना है, लेकिन उनका फल छोड़ना है।

और एक बात कहनी है। जो कर्म सहज, स्वाभाविक रूपसे प्राप्त न हुए हों, उनके बारेमें तुम्हें ऐसा लगता हो कि वे अच्छी तरह किये जा सकते हैं, तो भी उन्हें मत करो। उतने ही कर्म करो जितने सहज रूपसे प्राप्त हों। उखाड़-पछाड़ व दौड़-धूप करके दूसरे नये कर्मोंके चक्करमें मत पड़ो। जिन कर्मोंको खास तौरपर जोड़-तोड़ लगाकर करना पड़ता हो, वे कितने ही अच्छे क्यों न हों, उनसे दूर रहो। उनका मोह मत रखो। जो कर्म सहज प्राप्त हैं, उन्हींके फलका

त्याग हो सकता है। यदि मनुष्य इस लोभसे, कि यह कर्म भी अच्छा है, वह कर्म भी अच्छा है, चारों ओर दौड़ने लगे तो फिर फल-त्याग कैसे होगा ? इससे तो सारा जीवन ही एक फजीहत हो जायगा। फलकी आशासे ही वह इनपर धर्मरूपी कर्मोंको करना चाहेगा, और फल भी हाथसे खो बैठेगा। जीवन में कहीं भी स्थिरता प्राप्त नहीं होगी। चित्त-पर उस कर्मकी आसक्ति लिप्त हो जायगी। अगर सात्त्विक कर्मोंका भी लोभ होने लगे तो उसे भी दूर करना चाहिए। उन नाना प्रकारके सात्त्विक कर्मोंको यदि करना चाहोगे तो उसमें भी राजसता व तामसता आ जायगी। इसलिए तुम वही करो, जो तुम्हारा सात्त्विक, स्वाभाविक सहज-प्राप्त स्वधर्म है।

स्वधर्ममें स्वदेशी धर्म, स्वजातीय धर्म और स्वकालीन धर्मका समावेश होता है। ये तीनों मिलकर स्वधर्म बनते हैं। मेरी वृत्तिके अनुकूल व अनुरूप क्या है और कौन-सा कर्त्तव्य मुझे आकर प्राप्त हुआ है, यह सब स्वधर्म निश्चित करते समय देखना होता है। तुममें 'तुमपन' जैसी कोई चीज है और इसलिए तुम 'तुम' हो। हरएक व्यक्तिमें उसकी अपनी कुछ विशेषता होती है। बकरीका विकास बकरी बने रहनेमें ही है। बकरी रहकर ही उसे अपना विकास कर लेना चाहिए। बकरी अगर गाय बनना चाहे तो यह उसके लिए संभव नहीं। वह स्वयं-प्राप्त बकरीपनका त्याग नहीं कर सकती। इसके लिए उसे शरीर छोड़ना पड़ेगा। नया धर्म व नया जन्म ग्रहण करना होगा; लेकिन इस जन्ममें तो उसके लिए बकरीपन ही पवित्र है। बैल व मेंढककी कहानी है न? मेंढकीके बढ़नेकी एक सीमा है। वह बैल जितनी होनेका प्रयत्न करेगी तो मर जायगी। दूसरेके रूपकी नकल करना उचित नहीं होता। इसीलिए परधर्मको भयावह कहा है।

फिर स्वधर्मके भी दो भाग हैं। एक बदलनेवाला अंश और दूसरा न बदलनेवाला। मैं जो आज हूं, वह कल नहीं, और जो कल हूं, वह परसों नहीं। मैं निरंतर बदल रहा हूं। बचपनका स्वधर्म होता है केवल संवर्धन। यौवन में मुझमें भरपूर कर्म-शक्ति रहेगी तो उसके द्वारा मैं समाजकी सेवा करूंगा। प्रौढ़ावस्थामें मेरे ज्ञानका लाभ दूसरोंको मिलेगा। इस तरह कुछ स्वधर्म तो बदलते रहनेवाला है और कुछ

बिलकुल न बदलनेवाला। इन्हींको अगर पुराने शास्त्रीय नामोंसे पुकारना ह तो हम कहेंगे—"मनुष्यके वर्ण-धर्म हैं और आश्रम-धर्म हैं।" वर्णधर्म नहीं बदलता, आश्रम-धर्म बदलते रहते हैं।

आश्रम-धर्म बदलते हैं इसके मानी यह हैं कि ब्रह्मचारी-पद छोड़कर मैं गृहस्थाश्रममें प्रवेश कर रहा हूं, गृहस्थाश्रमसे वानप्रस्थ-आश्रममें व वानप्रस्थसे संन्यासमें जाता हूं। इस तरह आश्रम-धर्म बदलते रहते हैं, तब भी वर्ण-धर्म बदले नहीं जा सकते। अपनी नैसर्गिक मर्यादा मैं नहीं लांघ सकता। ऐसा प्रयत्न ही मिथ्या है। तुममें जो 'तुमपन' है, उसे तुम छोड़ नहीं सकते। यही वर्ण-धर्मकी भित्ति है। वर्ण-धर्मकी कल्पना बड़ी मधुर है। वर्ण-धर्म बिलकुल अटल है क्या ? पूछते हैं कि जैसे बकरीका बकरीपन, गायका गायपन वैसे ही क्या ब्राह्मणका ब्राह्मणत्व, क्षत्रिय का क्षत्रियत्व है ? हां, मैं मानता हूं कि वर्ण-धर्म इतना पक्का नहीं है; लेकिन हमें इसका मर्म समझ लेना चाहिए। 'वर्ण-धर्म' शब्दका उपयोग जब सामाजिक व्यवस्थाकी एक तरकीबके तौर पर किया जाता है तब उसके अपवाद अवश्य होंगे। ऐसे अपवाद गृहीत मानने ही पड़ते हैं। गीताने भी इस अपवादको गृहीत माना है। सारांश, इन दोनों तरहके धर्मोंको पहचानकर अवांतर धर्म कितना ही सुंदर व मोहक प्रतीत हो तो भी उनके चक्करमें मत फंसो।

(१०५)

फल-त्यागकी कल्पनाका जो विकास हम करते आये हैं उससे निम्नलिखित अर्थ निकलता है—

(१) राजस व तामस कर्मोंका संपूर्ण त्याग।

(२) उस त्यागका भी फल-त्याग। उसका भी अहंकार न हो।

(३) सात्त्विक कर्मोंका स्वरूपतः त्याग न करते हुए सिर्फ फल-त्याग।

(४) सात्त्विक कर्म सदोष होनेपर भी फल-त्यागपूर्वक उन्हें करना।

(५) सतत फल-त्यागपूर्वक उन सात्त्विक कर्मोंको करते रहनेसे चित्त शुद्ध होता जायगा और तीव्रसे सौम्य, सौम्यसे सूक्ष्म और सूक्ष्मसे शून्य—इस तरह क्रियामात्रका लोप हो जायगा।

(६) क्रिया लुप्त हो जायगी, लेकिन कर्म—लोकसंग्रहरूपी कर्म—होते ही रहेंगे।

(७) सात्त्विक कर्म भी जो स्वाभाविक रूपसे प्राप्त हों, वे ही करें। जो सहज-प्राप्त न हों, वे कितने ही अच्छे लगें तो भी उनसे दूर ही रहें। उनका मोह न होना चाहिए।

(८) सहज-प्राप्त स्वधर्म भी फिर दो तरहका होता है—बदलनेवाला और न बदलनेवाला। वर्ण-धर्म नहीं बदलता, पर आश्रम-धर्म बदलता रहता है। बदलनेवाला स्वधर्म बदलना चाहिए। उससे प्रकृति विशुद्ध रहेगी।

प्रकृति तो सतत बहती रहनी चाहिए। निर्झर अगर बहता न रहेगा तो उससे दुर्गन्ध आने लगेगी। यही हाल आश्रम-धर्म का है। मनुष्यको पहले कुटुंब मिलता है। अपने विकासके लिए वह स्वयंको कुटुंबके बंधनोंमें बांध लेता है। यहां वह तरह-तरहके अनुभव प्राप्त करता है, लेकिन अगर कुटुंबी होनेपर वह उसीमें जकड़ जायगा तो विनाशको प्राप्त हो जायगा। कुटुंबमें रहना जो पहले धर्मरूप था, वही अब अधर्मरूप हो जायगा, क्योंकि अब वह धर्म बंधनकारी हो गया। बदलनेवाले धर्म को अगर आसक्तिके कारण नहीं छोड़ा तो इसका परिणाम भयानक होगा। अच्छी चीजकी भी आसक्ति न होनी चाहिए। आसक्तिसे घोर अनर्थ होता है। क्षयके कीटाणु यदि भूलसे भी फेफड़ोंमें चले गये तो वहां जाकर सारा जीवन भीतरसे खा डालते हैं। उसी तरह आसक्तिके कीटाणु भी अगर असावधानीसे सात्त्विक कर्ममें घुस गए तो उससे स्वधर्म सड़ने लगेगा। उस सात्त्विक स्व-धर्ममें भी राजस व तामसकी दुर्गन्ध आने लगेगी। अतः कुटुंबरूपी यह बदलनेवाला स्वधर्म यथासमय छूट जाना चाहिए। यही बात राष्ट्र-धर्मके लिए भी लागू होती है। राष्ट्र-धर्ममें भी अगर आसक्ति आ गई और सिर्फ अपने ही राष्ट्रके हितका विचार हम करने लगें तो ऐसी राष्ट्र-भक्ति भी बड़ी भयंकर चीज होगी। इससे आत्म-विकास रुक जायगा। चित्तमें आसक्ति घर कर लेगी और अधःपात होगा।

(१०६)

सारांश, यदि जीवनका फलित प्राप्त करना चाहते हैं तो फल-

त्यागरूपी चिंतामणिको अपनाओ। वह तुम्हारा पथ-प्रदर्शन करेगा। फल-त्यागका यह तत्त्व अपनी मर्यादा भी बताता है। इस दीपकके पास होनेपर यह पता अपने आप चल जायगा कि कौन-सा काम करें, कौन-सा न करें और कौन-सा कब बदलें। लेकिन अब एक दूसरा ही विषय विचारके लिए लेंगे। संपूर्ण क्रियाका लोप हो जानेकी जो अंतिम स्थिति है, उसपर साधकको ध्यान रखना चाहिए या नहीं? साधकको क्या ज्ञानी पुरुषकी उस स्थितिपर, जिसमें क्रिया न करते हुए भी असंख्य कर्म होते रहें, दृष्टि रखनी चाहिए?

नहीं, यहां भी फल-त्यागकी ही कसौटीका उपयोग करो। हमारे जीवनका स्वरूप इतना सुंदर है कि हमें जो चाहिए, उसपर निगाह न रखनेपर भी वह हमें मिल जायगा। जीवनका सबसे बड़ा फल मोक्ष है। उस मोक्ष—उस अकर्मावस्थाका भी हमें लोभ न रहे। वह स्थिति तो हमें अपने-आप अनजाने प्राप्त हो जायगी। संन्यास कोई ऐसी चीज तो है नहीं कि दो बजकर पांच मिनटपर अचानक आ मिलेगी। संन्यास यांत्रिक वस्तु नहीं है। उसका तुम्हारे जीवनमें किस तरह विकास होता जायगा, इसका पता भी तुम्हें न चलेगा। इसलिए मोक्षकी चिंता छोड़ दो।

भक्त तो ईश्वरसे हमेशा यही कहता है—"मेरे लिए तुम्हारी भक्ति ही बहुत है। मोक्ष—वह अंतिम फल—मुझे नहीं चाहिए।" मुक्ति भी तो एक प्रकारकी भुक्ति ही है। मोक्ष एक तरहका भोग ही तो है—एक फल ही तो है। इस मोक्षरूपी फलपर भी फल-त्यागकी कैंची चलाओ। लेकिन इससे मोक्ष कहीं चला न जायगा। कैंची अलबत्ता टूट जायगी और फल अधिक पक्का हो जायगा। जब मोक्षकी आशा छोड़ दोगे, तभी अनजाने मोक्षकी तरफ चले जाओगे। साधनामें ही इतने तन्मय हो जाओ कि तुम्हें मोक्षकी याद ही न रहे और मोक्ष तुम्हें खोजता हुआ तुम्हारे सामने आ खड़ा हो। साधक तो बस अपनी साधनामें ही रंग जाय।

'मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि'

भगवान्‌ने पहले ही कहा था कि अकर्म दशाकी, मोक्षकी आसक्ति मत रखो।

अब फिर अंतमें कहते हैं—"अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ।" मैं मोक्षदाता समर्थ हूं । तुम मोक्षकी चिंता मत करो । तुम तो एक साधनाकी ही चिंता करो ।

मोक्षको भूल जानेसे साधना उत्कृष्ट होगी और मोक्ष ही मोहित होकर तुम्हारे पास चला आवेगा । मोक्ष-निरपेक्ष वृत्तिस अपनी साधनामें ही रत रहनेवाले साधकके गलेमें मोक्ष-लक्ष्मी जयमाला डालती है ।

जहां साधनाकी पराकाष्ठा होती है, वहीं सिद्धि हाथ जोड़कर खड़ी रहती है । जिसे घर जाना है , वह अगर वृक्षके नीच खड़ा होकर 'घर-घर' का जाप कहेगा तो इससे घर तो दूर ही रहेगा, उल्टा उसे जंगलमें ही रहनेकी नौबत आ जायगी । घरको याद करते हुए अगर रास्तेमें आराम करने लग जाओगे तो उस अंतिम विश्राम-स्थानसे दूर रह जाओगे । मुझे तो चलनेका ही उद्योग करना चाहिए । इसीसे घर एकदम सामने आ जायगा । मोक्षके आलसी स्मरणसे मेरे प्रयत्नमें—मेरी साधनामें—शिथिलता आयगी और मोक्ष मुझसे दूर चला जायगा । मोक्षकी उपेक्षा करके सतत साधना-रत रहना ही मोक्षको पास बुलानेका उपाय है । अकर्म-स्थिति—विश्रांति—की लालसा मत रखो । साधनाका ही प्रेम रखो तो मोक्ष सामने खड़ा होगा । उत्तर-उत्तर चिल्लानेसे सवालका उत्तर नहीं मिलता । उसका जो तरीका मुझे मिला है, उसीसे सिल-सिलेवार उत्तर मिलेगा । वह तरीका जहां खत्म होता है, वहीं उसका उत्तर मौजूद है । समाप्तिके पहले समाप्ति कैसे हो जायगी ? तरीकेसे पहले उत्तर कैसे मिलेगा ? साधकावस्थामें सिद्धावस्था कैसे प्राप्त होगी ? पानीमें डुबकियां खाते हुए परले पारके मौज-मजेम ध्यान रहेगा तो कैसे काम चलेगा ? उस समय तो एक-एक हाथ मारकर आगे जानेमें ही सारा ध्यान और सारी शक्ति लगानी चाहिए । पहले साधना पूरी करो, समुद्र लांघो, बस, मोक्ष अपने-आप ही मिल जायगा ।

(१०७)

ज्ञानी पुरुषकी अंतिम अवस्थामें सब क्रिया लुप्त हो जाती है, शून्यरूप हो जाती है । पर इसका यह मतलब नहीं है कि अंतिम स्थितिमें क्रिया होगी ही नहीं । उसके द्वारा क्रिया होगी भी और नहीं भी होगी । अंतिम स्थिति अत्यंत रमणीय व उदात्त है । इस अवस्थामें जो भी कुछ

होगा, उसकी उसे चिंता नहीं होती। जो भी होगा, वह शुभ और सुंदर ही होगा। साधनाकी पराकाष्ठा-दशापर वह खड़ा है। यहां सबकुछ करनेपर भी वह कुछ नहीं करता। संहार करनेपर भी संहार नहीं करता। कल्याण करनेपर भी कल्याण नहीं करता।

यह अंतिम मोक्षावस्था ही साधककी साधनाकी पराकाष्ठा है। साधनाकी पराकाष्ठाके मानी—साधनाकी सहजावस्था। वहां इस बातकी कल्पना भी नहीं रहती कि मैं कुछ कर रहा हूं। अथवा इस दशाको मैं साधककी साधनाकी 'अनैतिकता' कहूंगा। सिद्धावस्था नैतिक अवस्था नहीं है। छोटा बच्चा सच बोलता है, पर वह नैतिक नहीं है, क्योंकि झूठ क्या है, यह तो वह जानता ही नहीं। असत्यसे परिचित होनेपर भी सत्य बोलना नैतिक कर्म है। सिद्धावस्थामें असत्य है ही नहीं। यहां तो सत्य ही है। इसलिए वहां नीति नहीं। निषिद्ध वस्तु जहां खड़ी ही नहीं रह सकती। जो नहीं सुनना चाहते वह कानके अंदर जाता ही नहीं। जो नहीं देखना चाहते, वह आंखें देखती ही नहीं। जो होना चाहिए, वही हाथोंसे होता है। उसका प्रयत्न नहीं करना पड़ता। जिसे टालना चाहिए, उसे टालना नहीं पड़ता। वह अपने आप ही टल जाता है। यही नीतिशून्य अवस्था है। यह जो साधनाकी पराकाष्ठा, सहजावस्था, अनैतिकता या अतिनैतिकता कहो, उस अतिनैतिकतामें ही नीतिका परम उत्कर्ष है। 'अतिनैतिकता' शब्द मुझे खूब सूझा। अथवा इस दशाको 'सात्त्विक साधनाकी निःसत्त्वता' कह सकते हैं।

किस तरह इस दशाका वर्णन करें? जिस तरह ग्रहणके पहले उसके वेध लग जाते हैं, उसी तरह शरीरान्त हो जानेपर आनेवाली मोक्ष दशाकी छाया देह गिरनेके पहले ही पड़ने लग जाती है। देहावस्थामें ही भावी मोक्ष-स्थितिका अनुभव होने लगता है। इस स्थितिका वर्णन करते हुए वाणी लड़खड़ाती है। वह कितनी भी हिंसा करे, फिर भी कुछ नहीं करता। उसकी क्रिया अब किस तापसे नापी जाय? जो कुछ उसके द्वारा होगा, वह सब सात्त्विक कर्म ही होगा। सब क्रियाके क्षय हो जानेपर भी संपूर्ण विश्वका वह लोक-संग्रह करेगा। इसके लिए किस भाषाका प्रयोग करें, यह समझमें नहीं आता।

इस अंतिम अवस्थामें तीन भाव रहते हैं—एक है वामदेवकी दशा।

उनका वह प्रसिद्ध उद्‌गार है—"इस विश्वमें जो कुछ भी है, वह मैं हूं।" ज्ञानी पुरुष निरहंकार हो जाता है। उसका देहाभिमान नष्ट हो जाता है, क्रियामात्र समाप्त हो जाती है। इस समय उसे एक भावावस्था प्राप्त होती है। वह अवस्था एक देहमें समा नहीं सकती। भावावस्था क्रियावस्था नहीं है। भावावस्था यानी भावनाकी उत्कटताकी अवस्था। इस भावावस्थाका थोड़ा-बहुत अनुभव हमको हो सकता है। बालकके दोषसे माता दोषी होती है। गुणसे गुणी होती है। उसके दुःखसे दुःखी, सुखसे सुखी होती है। मांकी यह भावावस्था संतानतक सीमित है। संतानके दोषोंको वह अपने दोष मान लेती है। ज्ञानी पुरुष भी भावनाकी उत्कटतासे सारे संसारके दोष अपने ऊपर लेता है।

त्रिभुवनके पापसे वह पापी और पुण्यसे पुण्यवान बनता है और ऐसा होनेपर भी त्रिभुवनके पाप-पुण्य उसका स्पर्श नहीं कर पाते। रुद्र-सूत्रमें ऋषि कहते हैं—

"यवाश्च मे तिलाश्च मे गोधूमाश्च मे"

मुझे जौ दे, तिल दे, गेहूं दे। इस तरह मांगते ही रहनेवाले ऋषिका पेट आखिर कितना बड़ा होगा? लेकिन वह मांगनेवाला साढ़े तीन हाथके शरीरका नहीं था। उसकी आत्मा विश्वाकार होकर बोलती है। इसे मैं "वैदिक विश्वात्मभाव" कहता हूं। वेदोंमें इस भावनाका परमोत्कर्ष दिखाई देता है। गुजराती संत नरसी महेता कीर्तन करते हुए कहते हैं—"बापजी पापमें कवण कीधा हशे, नाम लेता तारूं निद्रा आवे।"—हे ईश्वर, मैंने ऐसे कौनसे पाप किये हैं, जो कीर्तनके समय भी मुझे नींद आती है। नींद क्या नरसी महेता को आ रही थी? नींद तो श्रोताओंको आती थी। परंतु श्रोताओंसे एक-रूप होकर नरसी महेता पूछ रहे हैं। यह उनकी भावावस्था है। ज्ञानी पुरुषकी भावावस्था इसी प्रकारकी होती है। इस भावावस्थामें सभी पाप-पुण्य उसके द्वारा होते हुए तुम्हें दिखाई देंगे। वह खुद भी यही कहेगा। वह ऋषि कहते हैं न—"न करने योग्य कितने ही कार्य मैंने किये हैं, करता हूं और करूंगा।" यह भावावस्था प्राप्त होनेपर आत्मा पक्षीकी तरह उड़ने लगता है। वह पार्थिवताके परे हो जाती है।

इस भावावस्थाकी ही तरह ज्ञानी पुरुषकी एक क्रियावस्था भी होती है। ज्ञानी पुरुष स्वभावतः क्या करेगा? वह जो भी कुछ करेगा, सात्त्विक ही होगा। यद्यपि मनुष्य-देहकी मर्यादा अभी उसके साथ लगी हुई है, तब भी उसका सारा शरीर, उसकी सारी इंद्रियां सात्त्विक बन गई हैं, जिससे उसकी तमाम क्रियाएं सात्त्विक ही होंगी। व्यावहारिक दृष्टिसे देखें तो सात्त्विकताकी चरम सीमा उसके व्यवहारमें दिखाई देगी। लेकिन अगर विश्वात्मभावकी दृष्टिसे देखेंगे तो मानो त्रिभुवनके पाप-पुण्य यह करता है और इतनेपर भी वह अलिप्त रहता है; क्योंकि इस चिपके हुए शरीरको तो उसने उतारकर फेंक दिया है। क्षुद्र देहको उतारकर फेंकनेपर ही तो वह विश्व-रूप होगा।

भावावस्था और क्रियावस्थाके अलावा भी एक तीसरी स्थिति ज्ञानी पुरुषकी है और वह है ज्ञानावस्था। इस अवस्थामें न वह पाप सहन करता है, न पुण्य। सभी झटककर फेंक देता है। इस अखिल विश्वको आग लगाकर जला डालनेके लिए वह तैयार हो जाता है। एक भी कर्मकी जिम्मेदारी लेनेको वह तैयार नहीं होता। उसका स्पर्श ही उसे सहन नहीं होता। ज्ञानी पुरुषकी मोक्ष-दशामें—साधनाकी पराकाष्ठाकी दशामें—ये तीन स्थितियां संभव हैं।

यह अक्रियावस्था, अंतिम दशा कैसे प्राप्त हो? हम जो-जो भी कर्म करते हैं, उनका कर्तृत्व अपने सिरपर न लेनेका अभ्यास करना चाहिए। ऐसा मनन करो कि 'मैं तो एक निमित्तमात्र हूं, कर्मका कर्तृत्व मुझपर नहीं है।' पहले इस अकर्तृत्ववादकी भूमिका नम्रतासे ग्रहण करो। लेकिन इसीसे संपूर्ण कर्तृत्व चला जायगा, ऐसा नहीं है। धीरे-धीरे इस भावनाका विकास होता जायगा। पहले तो ऐसा अनुभव होने दो कि मैं अति तुच्छ प्राणी हूं, उसके हाथका खिलौना—कठपुतली—हूं, वह मुझे नचाता है। इसके बाद यह माननेका प्रयत्न करो कि यह जो कुछ भी किया जाता है वह शरीरजात है, मेरा उससे स्पर्श तक नहीं। ये सब क्रियाएं इस शवकी हैं। लेकिन मैं शव नहीं हूं। मैं शव नहीं, शिव हूं, ऐसी भावना करते रहो। देहके लेपसे लेशमात्र भी लिप्त न हो। ऐसा हो जानेपर मानो देहसे कोई संबंध ही नहीं है, यह ज्ञानी पुरुषकी अवस्था प्राप्त हो जायगी। उस अवस्थामें फिर ऊपर वही तीन अवस्थाएं होंगी।

पहले उसकी क्रियावस्था, जिसमें उसके द्वारा अत्यन्त निर्मल व आदर्श क्रिया होगी। दूसरी भावावस्था, जिसमें त्रिभुवनके पाप-पुण्य मैं करता हूं, ऐसा उसे अनुभव होगा, परंतु उनका लेशमात्र स्पर्श उसे नहीं होगा। और तीसरी उसकी ज्ञानावस्था, जिसमें वह लेशमात्र भी कर्म अपने पास न रहने देगा। सब कर्म भस्मसात् कर देगा। इन तीनों द्वारा ज्ञानी पुरुषका वर्णन किया जा सकता है।

(१०८)

अब इतना सब कहनेके बाद भगवान अर्जुनसे कहते हैं—"अर्जुन, मैंने तुम्हें यह जो सब कहा है, उसे तुमने ध्यानसे तो सुना है न? अब पूर्ण विचार करके जो तुम्हें उचित लगे, वह करो।" इस तरह भगवान् ने बड़े दिलसे अर्जुनको छुट्टी दे दी। भगवद्गीताकी यही विशेषता है। लेकिन भगवान्को फिर दया आ गई। दिये हुए इच्छा-स्वातंत्र्यको उन्होंने फिर वापस ले लिया। कहा—"अर्जुन, तुम्हारी इच्छा, तुम्हारी साधना सब-कुछ छोड़कर तुम एक मेरी शरणमें आ जाओ।" इस तरह अपनी शरणमें आनेकी प्रेरणा करके भगवान्ने दिया हुआ इच्छा-स्वातंत्र्य वापस ले लिया है। इसका अर्थ यही है कि "तुम अपने मनमें कोई स्वतंत्र-इच्छा ही न होने दो। अपनी इच्छा नहीं, उसीकी इच्छा चले, ऐसा होने दो।" मुझे स्वतंत्र रूपसे यही अनुभव हो कि यह स्वतंत्रता मुझे नहीं चाहिए। मैं नहीं, सबकुछ तू ही है, ऐसा हो। वह बकरी जीवित दशा में—"में में में . . ." करती है, यानी—"मैं मैं मैं" कहती है। लेकिन मरनेपर उसकी तांत बनाकर पींजनमें लगाई जाती है तब दादू कहता है,—"तुही, तुही, तुही,—तू ही, तू ही, तू ही, ऐसा वह कहती है।" अब तो सब "तूही, तूही, तूही।"

रविवार, १९-६-३२

परिशिष्ट

गीता-प्रवचन अध्याय २ में रजोगुण और तमोगुणकी तुलना की गई है। उसे पढ़कर एक भाईने अपनी एक शंका बिनोबाजीपर प्रकट की। हैदराबादकी सर्वोदय-यात्रासे विनोबाजीने उसका उत्तर दिया। पाठकके लिए दोनोंका उपयोग है। अतः शंका और समाधान दोनों यहां दिए जाते हैं।

शंका : गीता-प्रवचनके दूसरे अध्यायमें कर्म करनेवालोंकी दुहेरी वृत्ति बताते हुए रजोगुण और तमोगुणकी समता आपने की है। 'लूंगा तो फल-समेत ही' यह रजोगुणकी वृत्ति बताई और 'छोड़ूंगा तो कर्म-समेत ही' यह तमोगुणकी वृत्ति बताई है। दोनों वृत्तियों में फर्क नहीं है, यह आप भी कहते हैं। मेरे खयाल में दोनों वृत्तियों का समावेश रजोगुणमें ही हो जाता है। १, ३, ९ के हिसाबसे तमोगुण, रजोगुण और सत्त्वगुण एक दूसरेसे दूर हैं। रजोगुण और तमोगुण एक ही वृत्तिके पाजिटिव और नेगेटिव स्वरूप नहीं हैं। कर्म करके फलको छोड़ो, सत्त्वगुण है। "लूंगा तो फलसमेत ही" और "छोड़ूंगा तो कर्मसमेत ही"—ये दोनों रजोगुणमें ही खपने चाहिए। "केवल फल लूंगा, पर कर्म नहीं करूंगा", यह वृत्ति तमोगुणमें जायगी। इससे भी एक भिन्न वृत्ति हो सकती है। वह है लापरवाही—इंडिफरेन्सकी वृत्ति। कर्म किया तो किया, अथवा हुआ तो हुआ। फलकी अपेक्षा, परवाह, आवश्यकता मोह आदि नहीं होता। उलटा, फल आया, लिया तो लिया, कर्मकी जरूरत, जवाबदारी नहीं मालूम हुई। यह वृत्ति मनकी स्थितिके अनुसार कदाचित् तीनों गुणोंमें हो सकती है। ज्ञान-शून्य स्थिति में यह वृत्ति तमोगुणसे भी नीचेकी होगी और ध्यानमग्न स्थितिमें सात्त्विक वृत्ति-से भी ऊपरकी निकलेगी।

समाधान : "तुम्हारा चिंतन अच्छा लगा। त्रिगुणके विषयमें अनेक प्रकारसे विचार किया गया है, किया जा सकता है। तमोगुणसे नीचेकी अथवा सत्त्वगुणसे ऊपरकी वृत्तिकी कल्पना नहीं की जाती। सारे जगत्‌का विभाग तीन गुणोंमें करना है। तीनों गुणोंसे अलिप्त एक अवस्था है। उसे गुणातीत पुरुषकी भूमिका समझना चाहिए। उसमें किसी प्रकारकी वृत्ति नहीं रहती, अतः उसे निवृत्ति कहते हैं; परंतु निवृत्तिका अर्थ प्रवृत्ति-विरोध नहीं। प्रवृत्ति-विरोध भी एक वृत्ति ही है, उसे तमोगुण कहना चाहिए।

इतने प्रास्ताविक कथनके बाद अब मूल प्रश्न लो। तत्त्वतः त्रिगुण प्रकृतिके घटक हैं। प्रकृतिमें तीनोंकी आवश्यकता एक समान ही है। स्थिति, गति और प्रकाश तीनों मिलकर जीवन बनता है। यह तात्त्विक दृष्टि है। इसमें ऊपर, नीचेका कोई भेद नहीं है।

इससे भिन्न नैतिक दृष्टि है। इस दृष्टिसे तम, रज, सत्त्व ये उत्तरोत्तर श्रेष्ठ गुण हैं। सामान्यतः लोग इस दृष्टिसे विचार करते हैं।

सृष्टि-तत्त्वको समझानेवाली प्राकृतिक अथवा तात्त्विक और दूसरी नैतिक, इन दोनोंसे भिन्न एक साधनाकी दृष्टि है। तदनुसार रज और तम एक दूसरेके प्रतिक्रियारूप अथवा परीक्षणरूप अथवा पूरक हैं। दोनों मिलकर एक ही वस्तु हैं। रजोगुणकी थकावटसे तमोगुण आता है, तमोगुणकी थकावटसे रजोगुण आता है, दोनोंसे सत्त्वगुण भिन्न है और वही साधकोंका सखा है। रजोगुण और तमोगुग मिलकर आसुरी संपत्ति। सत्त्वगुण दैवी संपत्ति। ऐसा संघर्ष चल रहा है।

गीतामें प्राकृतिक, नैतिक और साधनिक तीनों प्रकारका विवेचन मिलता है। मैं प्राकृतिक विचारको छोड़कर नैतिक और साधनिक दृष्टिसे मुख्यतः विचार करता रहता हूं। कभी नैतिक, कभी साधनिक। जिस विवेचनके संबंधमें प्रश्न उत्पन्न हुआ है, उसमें साधनिक सृष्टि है, इसलिए रजोगुण और तमोगुणकी एकत्र कल्पना की गई है।

फलत्यागके विचारकी अधिक छानबीन 'स्थितप्रज्ञदर्शन' और 'गीताई-कोष' में की गई है।

